'भारत सरकार के शिक्षा विभाग की प्रेरणा पर लिखित मानक पुस्तिका'

मानव शरीर दीपिका

(A Manual of Hygiene & Physiology)

लेखक

डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा

बी० एस-सी०, एम० बी० बी० एस०

भूतपूर्व प्रिंसिपल

आयुर्वेदिक कालेज, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

—:o:—
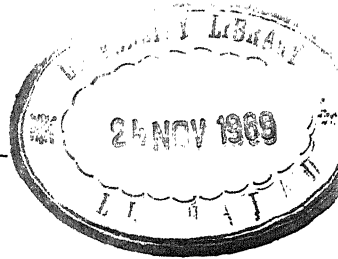
प्रकाशक

रामनारायणलाल बेनीप्रसाद

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

इलाहाबाद-2

२००० प्रतियाँ
प्रथम संस्करण १९६२

मूल्य : छः रुपये

यह पुस्तक सर्वश्री रामनारायणलाल बेनीप्रसाद द्वारा प्रकाशित तथा
श्री रामबाबू अग्रवाल द्वारा ज्ञानोदय प्रेस २७३ कटरा, इलाहाबाद में मुद्रित हुई।

प्राक्कथन

भारत सरकार ने सन् १६५० में हिन्दी में समरूप शब्दावली बनाने के लिये एक वैज्ञानिक शब्दावली बोर्ड बनाया था। इस बोर्ड के अधीन विभिन्न विषयों की अनेक विशेषज्ञ समितियाँ काम कर रही हैं। भौतिक, रसायन, गणित, वनस्पति-विज्ञान तथा समाज-विज्ञान जैसे विषयों के उच्च माध्यमिक स्तर के शब्दों की सूचियाँ १६५४ में अन्तिम रूप से बन चुकी थीं। १६५५ में यह विचार किया गया कि इन विषयों पर मानक पुस्तकें तैयार करवाई जाएँ। बाद में जैसे-जैसे अन्य विषयों की शब्द-सूचियाँ अन्तिम रूप में छापी गईं तो उन विषयों की मानक पुस्तिकाएँ लिखवाने का भी निश्चय किया गया।

इन पुस्तकों के प्रकाशन का मुख्य उद्देश्य बोर्ड द्वारा निर्मित शब्दावली को देश के सम्मुख उपस्थित करना और उसका सही प्रयोग करके दिखलाना था। साथ ही इरादा यह था कि इन विषयों पर ऐसी पुस्तकें उपलब्ध हो सकें जो न केवल पाठ्य-पुस्तकों के रूप में उपयोगी हों, बल्कि साहित्य का भी दर्जा पा सकें।

चिकित्सा विज्ञान (मेडिसिन) की एक मानक पुस्तिका लिखने का काम डा० मुकुन्द स्वरूप वर्मा को सौंपा गया था। पुस्तिका तैयार हो गई है और उसे चिकित्सा शब्दावली की विशेषज्ञ समिति ने भी स्वीकृत कर लिया है। आशा है कि यह पुस्तिका अपनी लोकप्रिय शैली और अभिव्यक्ति के कारण कालेज के विद्यार्थियों, हिन्दी पाठ्य-पुस्तक लेखकों और विषय में रुचि रखने वाले जनसाधारण के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

रघुवंशकिशोर कपूर
संयुक्त शिक्षा सलाहकार, शिक्षा मंत्रालय
(भारत सरकार)

दो शब्द

हमारे देश के राष्ट्रीय विधान में हिन्दी को राष्ट्रभाषा माना गया है। अतएव सरकार का यह कर्तव्य हो गया कि वह हिन्दी भाषा को उन्नत करके इस योग्य बना दे कि उसके द्वारा विद्यार्थियों को सभी विषयों की शिक्षा दी जा सके तथा सब लोग उसके द्वारा आपस में विचार-विनिमय कर सकें, प्रत्येक विषय पर अपने भावों और विचारों को प्रगट कर सकें और देश का शासन कार्य भी उसके माध्यम से सुचारु रूप से चल सके। इसके लिये हिन्दी भाषा में उपयुक्त शब्दों की बहुत न्यूनता थी। वैज्ञानिक शब्दों के लिये हिन्दी में पर्यायवाची शब्द थे ही नहीं। जो शब्द कुछ विद्वानों ने बनाये थे, उनमें एक विचित्र व्यतिक्रम चल रहा था। प्रत्येक विद्वान् जो इस ओर प्रयत्नशील था, पृथक-पृथक् नये शब्द गढ़ता जाता था। इस कारण अंग्रेजी के एक शब्द के लिये कई शब्द हिन्दी में प्रचलित हो गये थे। भिन्न भिन्न प्रदेशों की भाषाओं में पारिभाषिक शब्दों में विशेष वैषम्य उत्पन्न हो गया था। ऐसी अराजकता की दशा में किसी भी भाषा का समुचित विकास असंभव था।

ऐसे पारिभाषिक शब्दों का विकास किस प्रकार किया जाय जो सभी प्रादेशिक भाषाओं में स्वीकार कर लिए जायँ और वहाँ के विद्वान अपनी पुस्तकों में उनका प्रयोग करें, जिससे सारे देश के विद्यार्थी तथा विद्वान् एक शब्द का एक ही अर्थ समझें और देशी भाषाओं के द्वारा सारे देश के विद्वानों के विचार विनिमय संभव हो सके तथा विद्यार्थियों में भी विचार समता उत्पन्न हो, उनमें किसी शब्द के अर्थ के संबंध में भ्रम न होने पावे। इस प्रश्न को हल करने के लिये केन्द्रीय सरकार ने एक सेन्ट्रल बोर्ड बनाया जो पारिभाषिक शब्द निर्माण के सिद्धान्तों का निर्णय करे, जिनके अनुसार कार्य हो। साथ ही भिन्न-भिन्न विषयों के लिये विभिन्न कमिटियाँ भी बनाईं जिनकी संख्या इस समय २६ है। इन कमेटियों में सारे देश से विद्वानों को आमन्त्रित किया गया। इस बृहद् कार्य को और भी प्रोत्साहित करने के लिये सरकार ने केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय की स्थापना की और हिन्दी के सुविख्यात विद्वान् और अन्वेषक डाक्टर विश्वनाथ प्रसाद जी को उसका निदेशक नियुक्त किया, जिनके दक्ष संचालन से अब हिन्दी भाषा के विकास का कार्य बड़ी तत्परता से हो रहा है। एक कमीशन की भी नियुक्ति की गई है, जो अंग्रेजी के वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दों के पारिभाषिक हिन्दी पर्यायों के निर्माण की देखभाल करता रहे।

यह कार्य कई वर्षों से चल रहा है। चिकित्सा संबंधी कमिटी के लगभग दस वर्षों के अनवरत परिश्रम से माध्यमिक कक्षाओं तक की शिक्षा के लिए जो मानवशरीर

तथा स्वास्थ्य संबंधी आवश्यक शब्दों का निर्माण हुआ था, उन्हीं शब्दों के उपयुक्त प्रयोग के प्रदर्शन के अभिप्राय से यह मानव शरीर दीपिका पुस्तक लिखी गई है। केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय की ओर से प्रत्येक विषय की, जिसके शब्दों का किसी कमिटी द्वारा निर्माण हुआ है, दीपिका के प्रकाशन का आयोजन किया गया है। उसी योजना के अन्तर्गत यह पुस्तिका शिक्षा मन्त्रालय की ओर से प्रकाशित की जा रही है।

पुस्तिका के विषयों के अन्तर्गत शरीर रचना (Anatomy) शरीर क्रिया (Physiology) और स्वास्थ्य विज्ञान (Hygiene) ये सभी विषय संक्षिप्त रूप में आ गए हैं जिनकी पारिभाषिक शब्दावलि का निर्माण हो चुका है। अंग्रेजी भाषा में इन पर बड़े-बड़े ग्रन्थ हैं। परन्तु हमने माध्यमिक कक्षा के विद्यार्थियों के ज्ञान के स्तर को ध्यान में रखकर ही इस पुस्तक को तैयार किया है। साथ ही इसका भी विशेष ध्यान रखा गया है कि विषय के सामान्य जिज्ञासु के लिये भी यह रुचिकर हो। शिक्षा मन्त्रालय का ऐसी दीपिकायें प्रकाशित करने तथा करवाने का यह भी मन्तव्य है कि वे सामान्य जनता को रुचिकर हों और उनकी ज्ञानवृद्धि करने में ये उपयोगी प्रमाणित हों। लेखक ने इन आवश्यकताओं की पूर्ति का भरसक प्रयत्न किया है। पर वह इस प्रयत्न में कहाँ तक सफल हुआ है इसका निर्णय तो पाठक ही कर सकेंगे।

पारिभाषिक शब्दों का कमिटी द्वारा समय-समय पर सदा पुनर्विचार होता रहता है जिसके परिणामस्वरूप कुछ शब्दों का रूप बदल जाता है। मन्त्रालय का शब्दों को उन्नत करने तथा अधिक से अधिक सार्थक और सभी द्वारा सुग्राह्य बनाने का प्रयत्न रहता है। इसलिये शब्दों का रूप बदलते रहना स्वाभाविक ही है। जब यह पुस्तक लिखी गई थी और उसके कुछ भाग छप भी गये थे तब से अब तक कुछ शब्दों के रूपों में कमिटियों द्वारा थोड़ा परिवर्तन कर दिया गया है, यद्यपि ऐसे शब्दों की संख्या अत्यल्प है। ऐसे कुछ शब्द पुस्तक में अपने पहले रूप में ही छप गये हैं। दूसरे संस्करण में उनको ठीक कर दिया जायगा। तथा अन्य शब्दों के भी उस समय तक जो रूप स्वीकृत होंगे, वही व्यवहार में लाए जायेंगे।

पुस्तक को प्रकाशकों ने सब प्रकार से सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया है। प्रचुर संख्या में चित्रों को छापकर पुस्तक को उपयोगी और आकर्षक बनाने का उनका उद्योग सराहनीय है, इसके लिये में उनका आभारी हूँ।

अन्त में शिक्षा मन्त्रालय तथा केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रगट करना मेरा परम कर्तव्य है। उन्होंने इस पुस्तक को लिखने का अवसर प्रदान करके मुझे हिन्दी भाषा की सेवा करने का जो योग दिया है, उसके लिये मैं उनका सदा ऋणी रहूँगा।

मकुन्दस्वरूप वर्मा

विषय-सूची

पहला खंड

दूसरा खंड

मानव शरीर दीपिका

पहला परिच्छेद

शरीर और स्वास्थ्य

मनुष्य की सबसे मूल्यवान सम्पत्ति स्वास्थ्य है। उसकी अभिलाषाओं, महान् आकांक्षाओं तथा सफलताओं सब की उपलब्धि का कारण शरीर ही है। 'स्वस्थे बुद्धय: प्रस्फुरन्ति चित्ते'। रोग रहित और स्वस्थ शरीर होने पर विद्योपार्जन संभव होता है और विद्या के द्वारा संसार में सफलता प्राप्त होती है। अर्थ और यश का उपार्जन उसी के द्वारा होता है। अतएव स्वास्थ्य सब प्रकार की सांसारिक सफलता का मुख्य साधन है। जिसका स्वास्थ्य उत्तम नहीं होता, जो रोग से मुक्त नहीं रहता, वह किसी प्रकार का भी परिश्रम नहीं कर सकता। वह न विद्या का उपार्जन कर सकता है, न अर्थ प्राप्त कर सकता है, न सामाजिक कार्य ही कर सकता है, और न सांसारिक सुखों ही का उपभोग कर सकता है।

प्रश्न यह है कि स्वास्थ्य किसको कहते हैं। क्या शरीर के लम्बे-चौड़े बलवान होने का अर्थ स्वास्थ्य है अथवा केवल रोगमुक्त अवस्था का नाम स्वास्थ्य है? नहीं, ये स्वास्थ्य के केवल कुछ लक्षण हैं। स्वास्थ्य शरीर और मन की वह दशा है जिसके कारण व्यक्ति अपने सांसारिक अस्तित्व का स्वयं अपने और दूसरों के कल्याण के लिये पूर्ण उपयोग कर सकता है। स्वयं भी सांसारिक सफलता और सुखों की प्राप्ति कर सकता है और समाज की भी सेवा कर सकता है। वह रोगों से तो मुक्त होता ही है, उसके चित्त में उत्साह होता है, मन में उच्च अभिलाषा होती है तथा मित्रों और जनता को भी लाभ पहुँचाने में प्रयत्नशील होता है। वह अपने को समाज का एक उपयोगी अंग बनाता है, समाज की उन्नति का भी कारण होता है। अतएव स्वस्थ व्यक्ति वही है जिसका शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक तीनों प्रकार का स्वास्थ्य उन्नत हो तथा वह सामाजिक परिस्थितियों के पूर्णतया अनुकूल हो। शिक्षा को भी अब स्वास्थ्य का एक अंग माना गया है। उसके बिना मानसिक विकास संभव नहीं है।

शारीरिक बल और स्वास्थ्य पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। भीमकाय होने ही का अर्थ स्वास्थ्य नहीं है। बलवान शरीर न केवल मानसिक किन्तु शारीरिक विकारों से भी ग्रस्त हो सकता है। जिनका व्यवसाय ही बल प्रदर्शन होता है, जैसे पहलवानों का उनके शरीर

में बल तो बहुत होता है, किन्तु उनमें से बहुत से अन्य विकारों स ग्रस्त होते हैं। मानसिक स्वास्थ्य तो कुछ ही का उन्नत होता है । कितनों ही को बलिष्ठ होने पर भी पाचन संबंधी या अन्य प्रकार के विकार होते हैं। ये पूर्ण स्वास्थ्य की व्याख्या के भीतर नहीं आते ।

प्राचीन समय में शारीरिक बल का बहुत महत्व था। जीवन ही उस पर निर्भर करता था। प्रत्येक समय अपनी रक्षा के लिए तथा उदरपूर्ति के लिये आहार प्राप्त करने के हेतु प्रत्येक व्यक्ति को युद्ध करना पड़ता था। कभी हिंसक जन्तुओं से और कभी दूसरे समुदाय वालों से उसको लड़ना पड़ता था। प्रायः निर्बल सबल से हार जाता था जिसका अर्थ था जीवन का अन्त। ऐसी दशाओं में बल का महत्व समझा जा सकता है।

यद्यपि इस सभ्यता के युग में वैसी भीषण परिस्थिति नहीं है और जीवन रक्षा वैसा विकट प्रश्न नहीं है तो भी स्वास्थ्य का महत्व कुछ कम नहीं है। जो उस समय वैयक्तिक प्रश्न थे वे अब सामाजिक या सामुदायिक प्रश्न बन गये हैं। प्रत्येक देश को, जाति को अथवा समुदाय को अपनी रक्षा करने तथा अपने अस्तित्व को निरन्तर बनाये रखने के लिये परिश्रम करना आवश्यक है।

(१) प्रत्येक देश के लिये आहार की उपलब्धि अत्यन्त महत्व का प्रश्न होता है। अतएव खाद्य की उत्पत्ति के लिये देश की सरकार को विशेष योजनायें बनानी पड़ती हैं। हमारी सरकार के लिए भी यह एक जटिल समस्या है । खाद्य का उत्पादन पर्याप्त न होने से दूसरे देशों से करोड़ों रुपये की खाद्य सामग्री मँगानी पड़ती है। प्रत्येक देश को जनता के लिए आवश्यक खाद्य जुटाना अत्यावश्यक होता है । इसी कारण कृषि संसार का सबसे बड़ा उद्योग है । हमारे देश के लिये यह उद्योग और भी महत्व का है। पाश्चात्य देश हमारी अपेक्षा अधिक सम्पन्न हैं। उनके पास बहुत धन है। इस कारण वे दूसरे देशों से खाद्य सामग्री खरीद सकते हैं। हमारे लिए ऐसा करना संभव नहीं है। हमारा सदा से कृषिप्रधान देश रहा है। इसलिए हमारे लिये कृषि का बहुत अधिक महत्व है।

कृषि के लिए शारीरिक स्वास्थ्य और बल दोनों ही आवश्यक हैं। कृषकों के रोग-ग्रस्त होने पर उनके द्वारा कृषि नहीं हो सकती। बंगाल, बिहार, आसाम आदि प्रदेशों में मलेरिया, कालाजार, ऐंकिलोस्टोमाइसिस आदि रोगों के प्राबल्य के कारण कृषि की असीम हानि होती थी। रोग ग्रस्त होने के कारण कृषक परिश्रम करने को असमर्थ हो जाते थे। सरकार को विशेष आयोजनों द्वारा इन रोगों को रोकना आवश्यक हो गया। अन्य प्रदेशों में भी इसी प्रकार के रोगों से अब भी कृषि की हानि होती है यद्यपि सरकार के विशिष्ट उपायों से अब यह क्षति बहुत कम हो गई है।

(२) देश की दूसरी आवश्यकता वहाँ के उद्योग और धंधे हैं जिनके लिए पर्याप्त संख्या में कठिन परिश्रम करने योग्य श्रमिकों का मिलना अनिवार्य है। जहाँ फैक्टरियों, मिलों तथा कारखानों में काम करने वाले परिश्रम न कर सकें और कुशलतापूर्वक अपना कर्म करने में असमर्थ हों वहाँ उद्योग और व्यवसाय सफल नहीं हो सकते और वहाँ की निर्धनता दूर नहीं हो सकती। परिश्रम वही कर सकते हैं जो स्वस्थ हों, रोगरहित हों, जिनकी शारीरिक आवश्यकतायें पूरी हो चुकी हों, जिनका मानसिक स्वास्थ्य भी उत्तम हो और जो रोगमुक्त हों।

(३) प्रत्येक जाति के लिए देश रक्षा का मार्मिक प्रश्न होता है जिस पर उसका अस्तित्व निर्भर करता है। उसके लिए उसको विविध प्रकार की सेना बनानी पड़ती है तथा सैनिकों को आधुनिक सैन्य व्यवस्था में पूर्णतया शिक्षित करना पड़ता है। सैनिक का कर्म अत्यन्त कठिन परिश्रम का होता है। सैनिक के जीवन में अस्वस्थता तथा असमर्थता का कहीं स्थान नहीं है। उसकी अस्वस्थता देश को संकट में डाल सकती है। युद्ध के समय सेना में किसी महामारी का फैलना उसकी हार का कारण हो सकता है जिससे राष्ट्र का अस्तित्व ही मिट सकता है।

स्वास्थ्य शरीर के प्रत्येक अंग की अपने क्रिया को उत्तम प्रकार से करने पर निर्भर करता है। शरीर में अनेक अंग हैं, जिनके पृथक्-पृथक् कर्म हैं। बहुत से अंग मिलकर एक ही कर्म का सम्पादन करते हैं। पाचन का कर्म आमाशय, अग्न्याशय, यकृत, आन्त्र सब मिलकर पूरा करते हैं। रुधिर परिसंचारण का काम हृदय, धमनियाँ, शिरायें तथा केशिका मिल कर सम्पादित करती हैं। जहाँ कई अंग मिलकर एक कर्म सम्पूर्ण करते हैं वे तन्त्र (System) के नाम से पुकारे जाते हैं। सब पाचक अंगों को पाचक तन्त्र कहा जाता है। रुधिर संचरण तन्त्र में हृदय तथा वाहनियाँ सब सम्मिलित हैं। शरीर में कई तन्त्र हैं जिनके काम निम्नलिखित हैं :

१. कंकाल तन्त्र (Skeletal System) : शरीर की सब अस्थियों के ढाँचे को जिस स्थिति में वे शरीर में पाई जाती हैं, कंकाल कहते हैं।

२. संधि तन्त्र (Articular System) : शरीर की सब संधियाँ।

३. पेशी तन्त्र (Muscular System) : शरीर की सब पेशियों का समूह।

४. पाचक तन्त्र (Digestive System) : पाचन में भाग लेने वाले सब अंगों के समूह का नाम पाचक तन्त्र है। इस तन्त्र में आमाशय, क्षुद्र और वृहद अन्त्र, पक्वाशय, यकृत तथा अग्न्याशय सम्मिलित हैं।

५. रुधिर परिसंचरण तन्त्र (Circulatory System) : हृदय, धमनी, शिरा तथा केशिका का समूह।

६. **लसीकावाहक तन्त्र** (Lymphatic System) : रक्तवाहनियों के समान शरीर में लसीका (Lymph) का संवहन भी अत्यन्त सूक्ष्म नलिकाओं द्वारा होता है जो सारे शरीर में फैली हुई हैं। लसीका ग्रन्थियाँ भी जहाँ-तहाँ इन सूक्ष्म वाहनियों के मार्ग में स्थित हैं।

७. **श्वसन तन्त्र** (Respiratory System) : फुफ्फुस, श्वसनमार्ग, वायु कोश आदि।

८. **अन्तःस्रावी तन्त्र** (Endocrine System) : यह उन ग्रन्थियों का समूह है जिनका स्राव (Secretion) किसी नलिका के द्वारा ग्रन्थि के बाहर नहीं निकलता। ग्रन्थि के भीतर ही से रक्त में चला जाता है।

९. **तन्त्रिका तन्त्र** (Nervous System) : मस्तिष्क, मेरुरज्जु तथा तन्त्रिकाओं का समूह। इसको मस्तिष्क मेरुतन्त्र भी कहते हैं।

१०. **उत्सर्गी तन्त्र** (Excretory System) : शरीर के विषैले पदार्थों का त्याग करने वाले वृक्क, गवीनी, मूत्राशय, मूत्रप्रणाली, त्वचा आदि सब अंगों का नाम उत्सर्गी तन्त्र है।

११. **विशेष ज्ञानेन्द्रियाँ** : नेत्र, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वचा।

१२. **प्रजनन तन्त्र** (Reproductive System) : सन्तानोत्पत्ति में भाग लेने वाले अंग।

जब तक उपर्युक्त तन्त्र अपनी-अपनी क्रियाएँ कुशलतापूर्वक सम्पन्न करते रहते हैं तब तक स्वास्थ्य उत्तम रहता है। स्पष्ट है कि जब तक ये शारीरिक क्रियायें उत्तम प्रकार से होती रहेंगी तो शरीर में बल स्वयं ही आयेगा। फिर भी विशेष साधनों द्वारा बल का विकास आवश्यक है।

ये तन्त्र उचित प्रकार से अपनी क्रिया करते रहें इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति को प्रयत्नशील होना उचित है। अधिकतर शिशु जन्म के समय रोगरहित होते हैं, उनमें स्वास्थ्य विकास की क्षमता होती है। किन्तु माता-पिता या परिचारकों के अज्ञान और त्रुटियों से वे उन शक्तियों से वंचित हो जाते हैं और रोग का ग्रास बनते हैं। अतएव तन्त्रों से उचित प्रकार से काम करवाने और उनकी उचित साधनों द्वारा रक्षा करने के लिए प्रत्येक तन्त्र अथवा अंग की रचना तथा उसके कर्म का सामान्य ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

स्वास्थ्य के शत्रु : स्वास्थ्य को नाश करके रोग उत्पन्न करने वाले हमारे दो प्रकार के शत्रु होते हैं। (१) एक वे जो बाहर से आकर हमारे शरीर में प्रवेश करके रोग उत्पन्न करते हैं। (२) दूसरे वे जो जन्मजात होते हैं अथवा हमारे शरीर के भीतर उत्पन्न होते रहते हैं।

१. प्रथम प्रकार के या जिनको वाह्य शत्रु कहना चाहिए वे तृणाणु (Bacteria), कुछ सूक्ष्म जीव जो प्रजीवाणु (Protozoa) वर्ग के होते हैं, कुछ कृमि तथा वाइरस (Virus) हैं और कुछ रिकेट्सिया (Rickettsia) हैं।

तृणाणु जिनको जीवाणु (Micro-organism) भी कहा जाता है, अत्यन्त सूक्ष्म जीव होते हैं। इनको जीवित सृष्टि का आदि रूप माना जाता है। विकास की श्रेणी में प्राणी वर्ग में इनका निम्नतम स्थान है। इनसे अधिक सरल रचना का अन्य कोई जीव नहीं है। इनका शरीर केवल एक कोशिका (Cell) का बना होता है। उसमें भी केन्द्रक (Nucleus) नहीं होता। ये इतने सूक्ष्म होते हैं कि उनको केवल नेत्रों से नहीं देखा जा सकता। विशेष विधियों से इनको रँगकर अणुदर्शी यन्त्र (Microscope) द्वारा देखा जाता है जिसके द्वारा इनका आकार २०० से २,००० गुना बढ़ा हुआ दीखता है। तब ये एक बिन्दु के समान दिखाई देते हैं। कुछ का आकार एक छोटे डंडे के समान होता है। कुछ के शरीरों में घुमाव होते हैं। कुछ केवल बिन्दु के समान होते हैं। ये सूक्ष्मतम जीव वायु, भोजन, अथवा त्वचा के किसी व्रण (ulcer) या कीटदंश द्वारा शरीर में प्रविष्ट होकर ऐसे भयंकर रोग उत्पन्न कर देते हैं कि शरीर का बचना कठिन हो जाता है और मृत्यु हो जाती है। इनका वर्णन आगे चल कर किया जायेगा।

प्रजीवाणु वर्ग के कुछ एक कोशीय (Unicellular) जीव अमीबा आदि शरीर में पहुँचकर प्रवाहिका अर्थात् पेचिश (Dysentry) तथा कई अन्य रोगों को उत्पन्न करते हैं।

वाइरस तृणाणुओं से भी सूक्ष्म होते हैं। वे अणुदर्शी यन्त्र द्वारा भी नहीं दिखाई देते। उनको देखने के लिये विशेष प्रकार के अणुदर्शी बनाये गये हैं जो उनकी छाया को ५०,००० गुना या इससे भी अधिक परिवर्धित कर देते हैं। इनके द्वारा वाइरसों के शरीर गोल या लम्बूतरे दिखाई देते हैं। इनके द्वारा अनेक रोग फैलते हैं। चेचक (Small-pox) खसरा या रोमान्तिका (Measles), इनफ्लुयेंजा (Influenza) तथा अन्य कितने ही रोगों को ये उत्पन्न करते हैं।

रिकेट्सिया वाइरस से बड़े और तृणाणु से छोटे होते हैं। कृमियों (Worms) द्वारा भी कई प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। ये कृमि भी खाद्य वस्तुओं, जल और संसर्ग द्वारा शरीर में पहुँचते हैं। वे त्वचा को भेद कर भी भीतर घुस जाते हैं।

उपर्युक्त कारणों से जो रोग उत्पन्न होते हैं वे संक्रामक (Infections) रोग कहलाते हैं। वे एक व्यक्ति से दूसरे को हो जाते हैं और इस प्रकार जनता में फैलते हैं। कभी-कभी उनकी महामारी (Epidemic) फैल जाती है। हमारे देश में हैजे या विशूचिका, (Cholera) मोतीझरे आदि रोगों की महामारी प्रत्येक वर्ष फैलती रहती है।

२. दूसरे प्रकार के रोगों के कारण स्वयं शरीर ही में उत्पन्न होते हैं। वे ऐसे विष होते हैं जो शरीर के भीतर होने वाली रासायनिक क्रियाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं।

प्रत्येक शारीरिक कर्म में कुछ न कुछ रासायनिक क्रिया होती है। हमारे चलने-फिरने बातचीत करने, यहाँ तक कि सोने के समय भी शरीर में ये क्रियायें होती रहती हैं। इन क्रियाओं में शरीर के अवयवों की टूट-फूट होती है। कुछ अवश्य फिर नये सिरे से बनते हैं। पाचन क्रिया सदा होती रहती है जिसमें रासायनिक क्रियाओं की एक लम्बी शृंखला घटित होती है। इस शृंखला के कहीं पर विच्छिन्न हो जाने से इन जीवविषों की उत्पत्ति होती है। यकृत इन विषों का नाश करता है और वृक्क (Kidney) इनको रक्त से पृथक् करके शरीर से निकालता है। त्वचा, फुफ्फुस तथा आन्त्र भी इन विषों को निकालने का काम करते हैं। जब किन्हीं कारणों से इस विषत्याग की क्रिया में गड़बड़ी हो जाती है, विषों का पूर्ण त्याग नहीं हो पाता तो शरीर में विकार उत्पन्न हो जाते हैं। मल द्वारा भी ये विष शरीर से निकलते रहते हैं।

शरीर के किसी भी अंग की क्रिया के कम या अधिक हो जाने का भी फल रोगोत्पत्ति होती है। मधुमेह (Diabetes Mellitus) रोग अग्न्याशय ग्रन्थि के एक सूक्ष्म अवयव जिसको लेंगरहैंस की द्वीपिकायें (Islets of Langerhans) कहते हैं उनकी अकर्मण्यता का फल होता है। अवटुका ग्रन्थि (Thyroid Gland) की अतिक्रिया से नेत्रोत्सेंधी गलगंड (Exophthalmic Goiter) हो जाता है जिसमें नेत्र बाहर को निकले हुए से दीखते हैं और हृदय की धड़कन बढ़ जाती है।

इसी प्रकार आहार के अपर्याप्त या अनुपयुक्त होने से, उसके अवयवों की त्रुटि से त्रुटिजन्य या हीनताजन्य (Defeciency Diseases) रोग उत्पन्न हो जाते हैं। बेरी-बेरी, स्कर्वी, रिकेट्स इसी प्रकार के रोग हैं। कुछ रोग पैतृक (Hereditary) अथवा जन्मजात (Congenital) होते हैं।

कुछ दशायें जन्मजात भी होती हैं। कितने ही बच्चे अपंग (Crippled) जन्मते हैं। कुछ का हृदय ही पूर्ण विकसित नहीं होता। हृदय की रचना में त्रुटि रह जाने से रुधिर का संचार ठीक प्रकार से नहीं हो पाता। ऐसे बच्चों का जीवन शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। कुछ जो बच जाते हैं वे जब तक जीते हैं अपंग जीवन व्यतीत करते हैं। परिश्रम के योग्य कभी नहीं होते। विधि की यह विडम्बना अपरिहार्य है।

आगामी पृष्ठों में हम शरीर के प्रत्येक तन्त्र की रचना और उसकी क्रिया की संक्षिप्त विवेचना करने के पश्चात् उसको स्वस्थ रखने अर्थात् दक्षता के साथ उससे कर्म करवाने के उपायों का भी संक्षेप रूप से विचार करेंगे। इस ज्ञान को प्राप्त करने पर ही हम यह जान सकेंगे कि हमारी दिनचर्या किस प्रकार की हो, आहार कैसा हो तथा और क्या आयोजन किये जायें जिनसे शरीर के सब तन्त्र अपना-अपना काम दक्षता से करते रहें तथा किस प्रकार हम शरीर की रोगों से रक्षा कर सकें।

दूसरा परिच्छेद

शरीर की मौलिक रचना

संसार के समस्त प्राणी वर्ग की रचना का मौलिक आधार एक ही समान है। जन्तु तथा वृक्ष, पौदे, लता, सूक्ष्म जीव सभी के शरीर एक ही प्रकार की मूल वस्तु से बने हैं। जिस भाँति मकान की दीवारें ईंटों से बनाई जाती हैं और उन पर सिमेन्ट का प्लास्तर कर दिया जाता है उसी प्रकार सारा शरीर भी एक प्रकार की ईंटों से बना है जिनको कोशिका (Cell) कहते हैं। किन्तु ये जीवित ईंटें हैं। इनको शरीर की रचना की इकाई (Unit) समझना चाहिये। शरीर का छोटे से छोटा सजीव भाग एक कोशिका से सूक्ष्मतर भाग में विभक्त नहीं किया जा सकता। इन कोशिकाओं की सूक्ष्म रचना को देखने के लिए अणुदर्शी की आवश्यकता होती है और कई प्रकार के रासायनिक रंजकों (Stains) से रँगने के पश्चात् ही उनको देखा जा सकता है।

भिन्न-भिन्न अंगों की कोशिकाओं के आकार और रचना में भिन्नता पाई जाती है। कोशिका का आकार अंग के कर्म के उपयुक्त बनाया गया है। यही भिन्नता का कारण
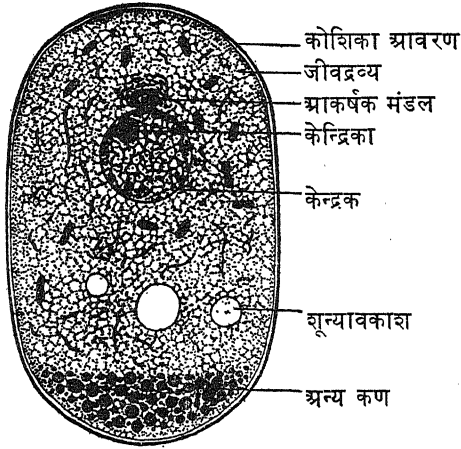
चित्र १—कोशिका की रचना

है। यहाँ व्याख्या के लिए हम चित्र में दिखाये समान एक कोशिका मान लेते हैं। उनकी भिन्नता का पीछे विचार किया जायगा।

प्रत्येक कोशिका एक पैकेट की भाँति है जिसमें बाहर एक कोशिका आवरण (Cell-wall) होता है। उसमें कोशिका की विशेष वस्तु जीवद्रव्य (Protoplasm) भरा रहता है। जीवद्रव्य में एक केन्द्रक (Nucleus) होता है जो कोशिका के मध्य में या एक ओर को स्थित होता है। इसके अतिरिक्त बहुत-सी कोशिकाओं में आकर्षक मंडल (Attraction Sphere) भी मिलता है। कुछ कण भी जीवद्रव्य में स्थित पाये जाते हैं। शून्या-वकाश (Vacuole) भी मिलते हैं।

कोशिका के विशेष भाग केन्द्रक और जीवद्रव्य हैं जिनको कोशिका द्रव्य (Cyto-plasm) भी कहते हैं। कोशिका की व्याख्या की गई है 'जीवद्रव्य का केन्द्रक युक्त पिंड'। कोशिका की जितनी क्रियायें हैं वे सब जीवद्रव्य के ही कर्म हैं। जीवद्रव्य ही मुख्य जीवित वस्तु है। इसकी रचना अत्यन्त गूढ़ है। कभी वह फेन के समान दिखाई देती है, कभी उसमें जाल-सा दिखाई देता है अथवा कभी उसमें कण दीखते हैं।

केन्द्रक भी कोशिका का मुख्य अंग है। इसी पर कोशिका का जीवन निर्भर करता है। केन्द्रक के नष्ट होने पर कोशिका की मृत्यु हो जाती है। केन्द्रक भी विशेष प्रकार के जीवद्रव्य का ही बना हुआ है जिसको केन्द्रकद्रव्य (Nucleoplasm) कहते हैं। केन्द्रक को ध्यान से देखने से उसमें सूत्रों के गुच्छे दिखाई देते हैं। ये सूत्र बड़े महत्व के हैं।
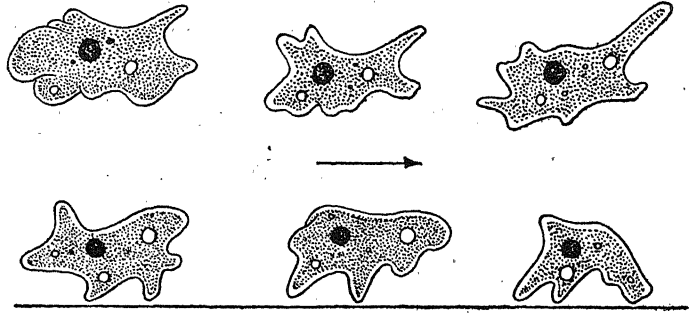
चित्र २—अमीबा एक कोशीय प्राणी है
[जब यह गति करता है। गति करते समय इसके शरीर का एक भाग प्रवर्धित हो जाता है और सारा जीवद्रव्य उधर ही को लुढ़कता चला जाता है। यह अमीबावत् (Amoebic) गति कहलाती है।]

इनको पित्र्यसूत्र या क्रोमोसोम भी (Chromosome) कहा जाता है। ये पितृ गुणों के संवाहक होते हैं। माता-पिता के गुण इन्हीं के द्वारा सन्तान में आते हैं। प्राणिजगत की प्रत्येक जाति में इनकी संख्या निश्चित होती है। मनुष्य में भी वे किसी भी देश के हों, इन तन्तुओं की एक निश्चित संख्या पाई जायगी। घोड़ों, बन्दरों, कुत्तों आदि में

इनकी संख्या मनुष्य से भिन्न है किन्तु उन जातियों में संसार के सब स्थानों में एक समान होती है।

केन्द्रक के भीतर एक छोटी गोल केन्द्रिका (Nucleolus) भी पायी जाती है।

जीवद्रव्य के गुण : जीवद्रव्य में निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं :

१. क्षोभशीलता या उत्तेज्यता (Irritability, Excitability) : अमीबा (Amoeba) नामक एक कोशिकी सूक्ष्म जीव है जो जीवद्रव्य का कोशिका-युक्त पिंड है। यदि इसके शरीर पर विद्युत् धारा लगा दी जाय या सुई चुभाई जाय या अम्ल की एक बूंद से उसके शरीर का सम्पर्क हो जाय तो वह तुरन्त दूसरी ओर को भागने लगता है। यह क्षोभशीलता या उत्तेज्यता का उदाहरण है। अर्थात् उसमें उत्तेजना की प्रतिक्रिया करने की क्षमता है। इसी गुण के कारण कोशिका अपने अपने कर्म में प्रवृत्त होती हैं।
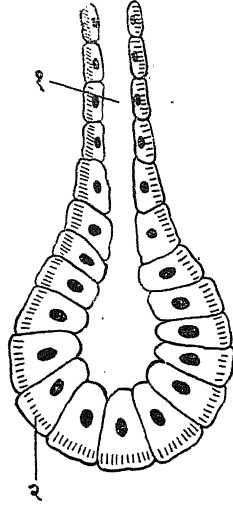
चित्र ३—ग्रन्थिकला से बनी हुई आमाशय की एक पाचक ग्रन्थि। [कोशिकाओं में स्राव बनकर बीच की नली। (१) में होकर आमाशय में आता है। (२) कोशिका में।]

२. स्वांगीकरण (Assimilation) : इसका अर्थ है पचाये हुए आहार से बने हुए रस को ग्रहण करके उससे अपने शरीर का निर्माण करना, उस रस को अपने शरीर के रूप में परिणत कर देना। इस क्रिया का फल होता है शरीर की वृद्धि।

३. वृद्धि (Growth) : प्रत्येक प्राणी मात्र के शरीर में वृद्धि होती है। अर्थात् कोशिकाओं की संख्या बढ़ती है जिससे शरीर का आकार बढ़ता है। कोशिकाओं में

विभाजन (Division) होता है। एक से दो, दो से चार, चार से आठ, आठ से सोलह इसी प्रकार कोशिकाओं की संख्या बढ़ती जाती है। सब अंगों की वृद्धि इसी प्रकार होती है।

४. **मलोत्सर्जन** (Excretion) : जीवद्रव्य का पाँचवाँ गुण है उत्सर्जन। आहार के पाचन के पश्चात् या शरीर में उपापचय (Metabolism) क्रिया से उत्पन्न हुए अनुपयोगी पदार्थों का त्याग करना प्रत्येक जीवित वस्तु का गुण है। अमीबा, जो केवल जीवद्रव्य का एक पिंड मात्र है, वह भी इस क्रिया को करता है। मल, मूत्र, स्वेद तथा श्वास द्वारा ऐसे पदार्थों का शरीर से अथवा कोशिका से सदा उत्सर्जन होता रहता है।

५. **जनन** (Reproduction) : सन्तानोत्पत्ति प्रत्येक प्राणिवर्ग का मुख्य कर्म है जिससे उसके वर्ग या जाति का विस्तार होता है। जनन की विधियाँ निम्न और उच्च श्रेणियों के जीवों में भिन्न हैं। निम्न श्रेणी में, तृणाणु, ऐल्गी, फंगस आदि में एक कोशिका दो भागों में विभक्त हो जाती है। इसको द्विविभजन (Binary Fission) कहते हैं। केन्द्रक और जीवद्रव्य दोनों के दो भाग हो जाते हैं। फिर कोशिका आवरण में भी दोनों ओर से संकोच होना आरम्भ होता है जो बीच में आकर मिल जाता है। प्रत्येक भाग में एक केन्द्रक और जीवद्रव्य हो जाते हैं जिससे दो पूर्ण कोशिकायें बन जाती हैं।

उच्च श्रेणी में जनन विधि अधिक जटिल होती है। ज्यों-ज्यों विकास बढ़ता है त्यों-त्यों स्त्री और पुरुष अंगों की रचना पृथक् होने लगती है। केंचुवे में दोनों अंग एक ही शरीर में होते हैं। वृक्ष के फूलों में स्त्री और पुरुष अंग दोनों रहते हैं जिनसे बीज उत्पन्न होता है। विकास के बढ़ने पर उच्च श्रेणी के जीवों में स्त्री और पुरुष शरीर ही पृथक् हो जाते हैं जिनके उत्पादक कणों के संयोग से सन्तानोत्पत्ति होती है।

अमीबा, ऐल्गी, कवक या फफूँद (Fungus) आदि के शरीर एक ही कोशिका के बने होते हैं। वही कोशिका उपर्युक्त सब क्रियाओं को करती है। उनसे बड़े जीवों के शरीर अधिक कोशिकाओं के बने होते हैं। विकास के अधिक उन्नत होने पर कोशिकाओं की संख्या बहुत बढ़ जाती है और उनके समूह भिन्न-भिन्न कर्मों को करने के लिए पृथक हो जाते हैं। ये समूह ही अंगों को बनाते हैं। इन्हीं समूहों से तन्त्र बनते हैं। उच्च श्रेणी की विशेषता यह है कि उसके सदस्यों के शरीरों में भिन्न-भिन्न कर्म करने के लिये कोशिका समूह पृथक्-पृथक् कर दिये गये हैं।

एक ही प्रकार की कोशिकाओं के समूह को ऊतक (Tissue) कहा जाता है। कई प्रकार के ऊतकों के मिलने से अंग बनता है और कई एक ही कर्म में योग देने वाले अंगों के समूह को तन्त्र कहा जाता है जिनके नाम गत पृष्ठों में बताये गये हैं।

ऊतक : शरीर में चार प्रकार के ऊतक पाये जाते हैं :

(१) उपकला ऊतक (Epithelial Tissue)
(२) संयोजी ऊतक (Connective Tissue)
(३) पेशी ऊतक (Muscular Tissue)
(४) तन्त्रिका ऊतक (Nervous Tissue)

१. उपकला ऊतक

यह ऊतक एक झिल्ली के रूप में शरीर के सब अंगों को ढके हुए है। सारी पाचन प्रणाली मुहँ से लेकर मलद्वार तक, भीतर की ओर से उपकला ऊतक से आच्छादित है। आमाशय तथा आन्त्र की लम्बी नली का सबसे भीतरी स्तर इसी का बना हुआ है। वहाँ की पाचक रस को उत्पन्न करने वाली ग्रन्थियाँ भी इसी कला की बनी हुई हैं जो **ग्रन्थिक उपकला** (Glandular Epithelium) कहलाती है। इसी प्रकार और सब नलियाँ, रसवाहिनी, रक्तवाहिनी, गवीनी तथा मूत्र नलिकायें सब भीतर की ओर से इस कला से ढकी हुई हैं। त्वचा का बाहरी स्तर भी इसी उपकला से आच्छादित है।

इस कला की कोशिकायें कई आकार की होती हैं जिसके अनुसार उनके नाम रखे गये हैं। कोशिकाएँ आपस में एक दूसरे से सट कर स्थित होती हैं। उनके बीच में अवकाश नहीं रहता। निम्नलिखित प्रकार की उपकला पाई जाती हैं :

क. शल्की उपकला (Squamous Epithelium) : इसकी कोशिकायें बड़े आकार की छः या आठ कोनों वाली होती हैं। और एक दूसरे से मिली रहती हैं।
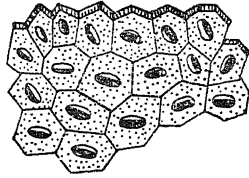
चित्र ४—मेढक की त्वचा पर आच्छादित शल्की उपकला का टुकड़ा
चित्र में केवल एक स्तर दिखाया गया है

सारी त्वचा इस प्रकार की कोशिकाओं से ढकी हुई है जहाँ उनके कई स्तर एक दूसरे के पीछे स्थित हैं; और इस कारण वह स्तरित उपकला (Stratified Epithelium) कहलाती है। फुफ्फुस में वायु कोष्ठ भी इसी प्रकार की उपकला के बने हुए हैं।

ख. स्तंभाकार उपकला (Columnar Epithelium) : इसकी कोशिकायें स्तंभों के आकार की हैं और लम्बाई की ओर से एक दूसरे के साथ सटी रहती हैं। सारी पाचन-प्रणाली ऐसी ही कला से आच्छादित है। यही ग्रन्थिक उपकला (Glandular Epithelium) बनाती है जिससे ग्रन्थियाँ बनती हैं। इनकी कोशिकाओं में रस के कण बन कर उनके प्रणाली की ओर के चपटे सिरे से निकल कर प्रणाली में आ जाते हैं।
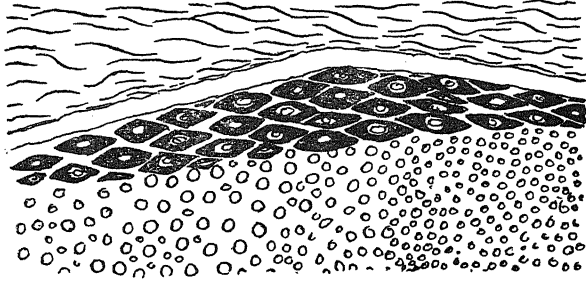
चित्र ५—स्तरित उपकला

ग. रोमिक उपकला (Ciliated Epithelium) : स्तंभाकार कोशिकाओं के चपटे सिरे से अत्यन्त सूक्ष्म बाल सरीखी रोमिकायें (Cilia) निकली रहती हैं। क्रिया
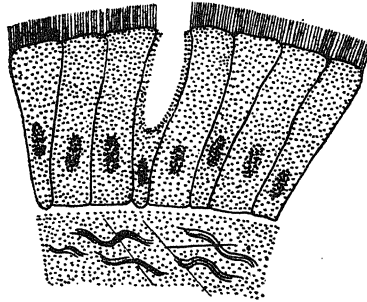
चित्र ६—मेढक के श्वासनाल की रोमिक उपकला
[स्तंभाकार कोशिकाओं के ऊपरी सिरे से रोमिकायें निकली हुई हैं]

करने के समय ये रोमिकायें उसी प्रकार प्रणाली के मुख की ओर झुकती हैं जैसे वायु के प्रवाह करने से खेत में अन्न की बालें लहराती हैं। श्वासनली का सारा पृष्ठ इसी प्रकार की उपकला से आच्छादित है। नली में यदि कोई धूल का कण चला जाता है तो रोमिकायें उस कण को श्लेष्मा के साथ बाहर ढकेल देती हैं।

घ. **संवेदक उपकला** (Sensory Epithelium) : यह स्तंभाकार उपकला का ही एक रूप है। कोशिका स्तंभाकार होती हैं। उनके चपटे सिरे पर एक दो बाल सरीखे प्रवर्धन निकले होते हैं। कोशिका के दूसरे पुच्छ सरीखे पतले सिरे का तन्त्रिका (Nerve) से सम्बन्ध होता है। प्रवर्धन का यदि किसी कण से संपर्क होता है तो उसकी सूचना तन्त्रिका सूत्र में होती हुई मस्तिष्क में पहुँच जाती है।

ङ. **वर्णक उपकला** (Pigment Epithelium) : इस उपकला की कोशिकाओं में रंगों के कण उपस्थित मिलते हैं।

२. संयोजी ऊतक

यह ऊतक शरीर की भिन्न-भिन्न रचनाओं को आपस में बाँधे रखता है, उनको अपने स्थान से नहीं हटने देता। इस कारण यह ऊतक अंगों की रचनाओं को आच्छादित किये हुये है तथा दो रचनाओं के बीच में स्थित होकर उनको यथास्थान रखता है। इसके अतिरिक्त अन्य भी कई मुख्य रचनायें जैसे अस्थि, रुधिर, उपास्थि भी इसी समूह में गिने जाते हैं। इनका यहाँ संक्षिप्त वर्णन किया जाता है।

(अ) तान्तव ऊतक (Fibrous Tissue) : यह ऊतक लम्बे-लम्बे समानान्तर तन्तुओं के समूह से बनता है। अंगों को आच्छादित करने वाली तथा उनके अवयवों को

चित्र ७——तान्तव ऊतक

जोड़ने वाली कलायें तथा पेशियों की कंडरायें इसी ऊतक की बनी होती हैं। अणुदर्शी से परीक्षा करने से सूत्र चमकते हुए श्वेत रंग के समानान्तर दिखाई देते हैं जिनसे कोई शाखायें नहीं निकलतीं। तन्तुओं के गुच्छों को चीरने से तन्तु लम्बाई की दिशा में एक दूसरे से पृथक् होते चले जाते हैं। यह **श्वेत तान्तव संयोजी ऊतक** कहलाता है। कुछ सूत्र पीले रंग के होते हैं। इनसे शाखायें भी निकलती हैं और ये लचकीले भी होते हैं। इस कारण वे **पीत स्थितिस्थापक** (Yellow Elastic Fibrous Tissue) तन्तु कहे जाते हैं।

(क) अवकाशी ऊतक (Areolar Tissue) : यह एक लसलसा पदार्थ होता है जो अंगों में, विशेषकर वाहनियों के बीच में या उनके चारों ओर रहता है। अणुदर्शक

से देखने पर वह रचनाविहीन समाशी दीखता है। कोशिकाओं और सूत्रों की संख्या उसमें बहुत कम होती है। यह ऊतक चर्म के नीचे भी पाया जाता है।
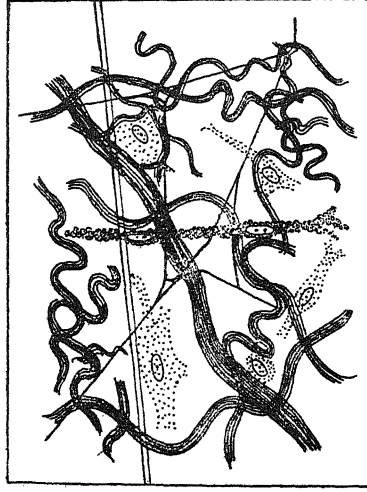
चित्र ८--अवकाशी ऊतक

(च) **लसीकाभ ऊतक** (Lymphoid Tissue) : यह भी उपर्युक्त ही के समान होता है।

(त) **बसा ऊतक** (Adipose Tissue) : इसमें सूत्रों के बीच में बसा के कणयुक्त बड़ी-बड़ी कोशिका स्थित होती हैं। यह ऊतक शरीर के सारे चर्म के नीचे तथा नितम्ब,
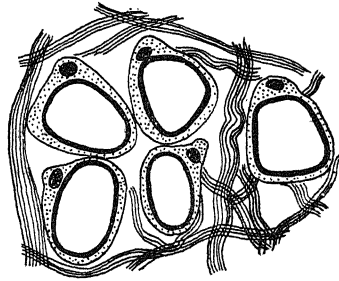
चित्र ९--बसा ऊतक
[तन्तुओं के बीच में बसा के बड़े-बड़े कण दिखाई दे रहे हैं]

उदर और अन्य अंगों के बीच में स्थित पाया जाता है। स्त्रियों के शरीर में इसकी मात्रा अधिक होती है।

(प) उपास्थि ऊतक (Cartilage) : यह एक कड़ा किन्तु लचकीला, चाकू से सहज में कट जाने वाला, श्वेत या हलके गुलाबी रंग का ऊतक है जो शरीर में संधियों के बीच में, लम्बी अस्थियों के सिरों पर तथा कान, नाक और पर्शुकाओं के अगले सिरे तथा उरोऽस्थि के बीच में पाया जाता है। यह ऊतक अंग को दृढ़ता देता है किन्तु उसको लचकीला भी बनाता है। इसी के कारण नाक का सिरा या कान की पाली इधर-उधर को मोड़ी जा सकती है।

इसकी सूक्ष्म रचना बड़ी विचित्र है। अणुदर्शक द्वारा एक समांशी पदार्थ में दूर-दूर पर इसकी कोशिकायें दो या चार के समूह में सूक्ष्म गढ़ों में, जिनको रिक्तिकायें (Lacunae) कहते हैं, स्थित पाई जाती हैं। चित्र से यह स्पष्ट हो जायेगा।

उपास्थि दो प्रकार की होती है, एक हाइलाइन (Hyaline) जिसकी वस्तु शुभ्र समांशी होती है। तन्तु नहीं होते। दूसरी तान्तव (Fibrous) उपास्थि होती है जिसकी वस्तु में तन्तु होते हैं।
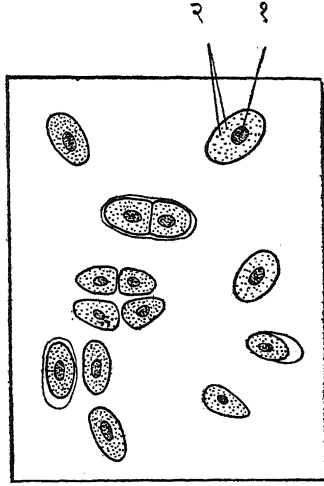
चित्र १०—कणिकामय उपास्थि का अनुप्रस्थ अनुभाग
[१—केन्द्रक २—जीवद्रवय तथा कण]

(ब) अस्थि (Bone) : यह शरीर की अत्यन्त दृढ़ वस्तु है जो शरीर को दृढ़ता देती है। शरीर का ढाँचा या आकार अस्थियों ही से बनता है।

प्रत्येक लम्बी अस्थि के बीच में उसके एक सिरे से दूसरे सिरे तक एक लम्बी नली होती है जिसमें मज्जा (Bone Marrow) भरी रहती है। इसको हेवर्सियन नलिका (Haversian Canal) कहते हैं। इसके चारों ओर अस्थि का स्पंजी (Spongy) भाग होता है जिसकी बनावट सुषिर या छितराई हुई होती है। बीच-बीच में अवकाश (Space) रहता है। इसके बाहर के भाग की रचना सघन

(Dense) होती है जिसको संहत (Compact) भाग कहते हैं। अस्थि की जितनी
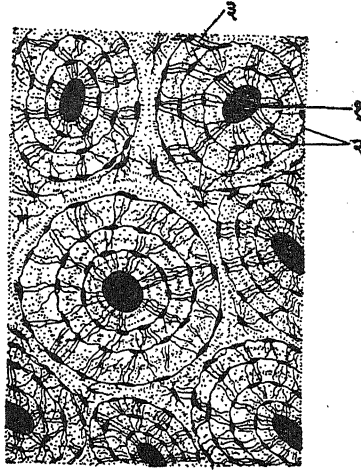
चित्र ११—लम्बी अस्थि का अनुप्रस्थ अनुभाग (Transverse Section)
[१—हेवर्शियन नलिका २—रिक्तिका ३—अणु नलिका]

रचना है, अस्थिकोष रिक्तिकायें (Lacunae) आदि, वे सब बीच की मज्जा नलिका
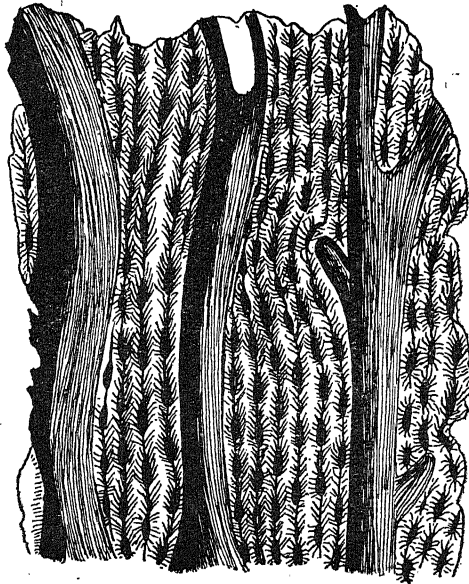
चित्र १२—लम्बी अस्थि का अनुदैर्घ्य अनुभाग (Longitudinal Ssection).

के चारों ओर वृत्ताकार स्थिति है । अर्थात् रचना उत्केन्द्रिक (Eecenlric) है जिससे अस्थि की दृढ़ता बहुत बढ़ जाती है ।

अस्थि की सूक्ष्म रचना चित्र मे स्पष्ट है। एक चित्र लम्बाई की ओर दूसरा चौड़ाई की ओर से काठ या अनुभाग (Section) का है। बीच में मोटा काला धब्बा हेवर्शियन नलिका का है । उसके चारों ओर रिक्तिकाओं में अस्थि कोशिकायें स्थित हैं। ये रिक्तिकायें सूक्ष्म अनुनलिकाओं (Caraticulii) द्वारा एक दूसरे से संबन्धित हैं ।

इस प्रकार की रचना के कारण अस्थि अत्यन्त दृढ़ हो जाती है ।

(र) **रुधिर या रक्त** (Blood) : रक्त की गणना भी संयोजी ऊतक में की जाती है। शरीर का जीवन ही रक्त पर निर्भर करता है। यहाँ केवल रक्त की सूक्ष्म रचना का वर्णन किया जाता है। रक्त के कर्म का विचार आगे चल कर किया जायगा ।
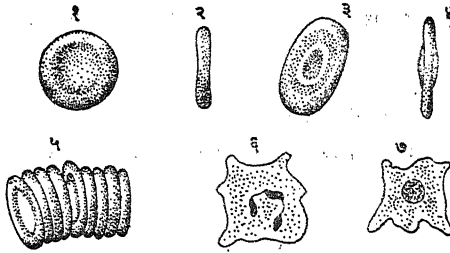
चित्र १३—रक्त कणिकायें

[१—लाल कणिका चपटी पड़ी हुई है २—लाल कणिका पार्श्व से दिखाई गई है ३, ४—लाल कणिका को अतिबल लवण विलयन में डालकर सामने और पार्श्व से दिखाया गया है ५—लाल कणिकाओं का एक ढेर जैसे वे प्रायः रक्त में रहते हैं ६—श्वेत कणिका जिसका केन्द्रक कई भागों में विभक्त है जो पतली तन्तु सरीखी रचना से जुड़े हुए हैं ७—एक गोल केद्रक वाली कणिका]

रक्त लाल रंग का तरल द्रव्य है जो सारे शरीर में संचार करता रहता है । यदि किसी भी स्थान पर त्वचा कट जाती है तो वहाँ से रक्त निकलने लगता है । रक्त दो प्रकार के पदार्थों का मिश्रण है। उसमें एक द्रव भाग है और दूसरा ठोस। द्रव भाग को प्लाविका (Plasma) कहते हैं। ठोस भाग रक्त कणिकाओं (Corpuscles) और विम्बाणु (Platelets) से बनता है ।

कणिका भी दो प्रकार की होती है, एक **लाल कणिका** और दूसरी **श्वेत कणिका** (Red and White Corpuscles)। इनको लोहिताणु और श्वेताणु भी कहते हैं।

लाल कणिकायें आकार में पैसे या रुपये के समान गोल होती हैं। अर्थात् उनके दोनों पार्श्व चिपटे और बीच में तनिक भीतर को दबे हुए होते हैं। किन्तु परिधि गोल होती है। इस प्रकार ये उभयावतल (Biconcave) होते हैं। किन्तु परिधि पर कुछ गोल होते हैं। एक घन मिलीमीटर रक्त में ५० लाख लाल कणिकाएँ होती हैं। इनके लाल रंग का कारण **रक्तरंजिका** या हीमोग्लोबिन (Hemoglobin) नामक वस्तु होती है जो इन कणिकाओं में भरी रहती है। हीमोग्लोबिन का विशेष गुण वायु से आक्सीजन सोख लेना और शरीर के ऊतकों को दे देना है। आक्सीजन से संयुक्त होने पर हीमोग्लोबिन लाल हो जाती है। इसी कारण कणिका लाल दीखती है जिससे रक्त का रंग लाल दिखाई देता है। जब रक्त द्वारा ऊतकों में पहुँच कर हीमोग्लोबिन से आक्सीजन पृथक होकर ऊतकों में चली जाती है तो रक्त का रंग नीला-सा दीखता है (जैसा कि शिराओं में)। जब यही रक्त फिर फुफ्फुस में पहुँचता है और हीमोग्लोबिन फिर से आक्सीजन ले लेती है तो रक्त फिर लाल हो जाता है।

मनुष्य में लाल कणिकाओं में केन्द्रक नहीं होता। उनको केवल हीमोग्लोबिन का पैकेट समझना चाहिये। किन्तु अनेक जन्तुओं की लाल कणिकाओं में उनमें केन्द्रक पाया जाता है।

श्वेत कणिकाओं (White Corpuscles) की संख्या एक घन मिलीमीटर रक्त में केवल ६ से ८ हजार तक होती है। ये बहुत कुछ अमीबा की भाँति होती हैं जो रक्त में चारों ओर को प्रवाह किया करती हैं। इनमें एक केन्द्रक होता है जिसके कई प्रकार के रूप पाये जाते हैं। रक्त में गति करते समय ये कणिकायें रूप बदलती रहती हैं। कभी इनके शरीर का कोई भाग आगे को निकल आता है तो दूसरी बार दूसरा भाग प्रवर्धित हो जाता है।

इन कणिकाओं का काम जीवाणुओं का भक्षण है। इस कारण ये भक्षकाणु (Phagocytes) कही जाती हैं और यह क्रिया जीवाणुभक्षण (Phagocytosis) कहलाती है।

रुधिर विम्बाणुओं (Blood platelets) का कुछ काम रक्त के जमने के सम्बन्ध में है। और कोई विशेष काम नहीं है। ये जीवद्रव्य के छोटे-छोटे केन्द्रक रहित कण होते हैं और इस कारण कोशिका भी नहीं कहे जा सकते। एक घन मिलीमीटर रक्त में लगभग ४ लाख विम्बाणु होते हैं।

३. मांस पेशी ऊतक

मांसपेशी को बनाने वाला पेशी ऊतक कहलाता है। ये पेशी दो प्रकार की होती हैं, एक ऐच्छिक (Voluntary) पेशी जो हमारी इच्छा के आधीन काम करती हैं। हम उनसे अपनी इच्छा के अनुसार काम करवा सकते हैं। चलना, फिरना, दौड़ना, लड़ना, वस्तुओं को पकड़ना या उठाना इन्हीं पेशियों का काम है। दूसरी अनैच्छिक पेशी (Involuntary) हैं जो हमारी इच्छा के आधीन नहीं होतीं। वे स्वयं अपने आप ही अपना काम करती रहती हैं। हम उनसे अधिक या कम काम नहीं करवा सकते। आन्त्र, हृदय, रुधिर वाहनियों तथा अन्य कई स्थानों में ऐसी पेशी पाई जाती हैं। हृदय की पेशी यद्यपि अनैच्छिक है किन्तु इनकी रचना ऐच्छिक के समान रेखांकित
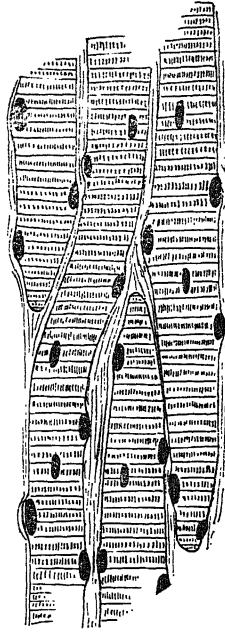
चित्र १४—ऐच्छिक पेशी के तन्तु प्रवर्धित करके दिखाये गये हैं। प्रत्येक तन्तुका एक कोशिका है जो विमल और धूमिल खंडों में विभक्त है। बीच के धूमिल खंडों के दोनों ओर विमल खंड है। तन्तुका में कई केन्द्रक हैं जो अधिकतर एक ओर को पेशी आवरण के नीचे स्थित हैं।

है। आन्त्र की पेशी भी अनैच्छिक है। वह अरेखित है। ये पेशी स्वयं ही संकोच और विस्तार किया करती हैं जिससे आन्त्रगति उत्पन्न होती है।

जिसको साधारणतः मांस कहा जाता है, जिसके लाल-लाल टुकड़े कसाइयों की दुकान पर रखे रहते हैं वे वास्तव में पेशियों के टुकड़े होते हैं। प्रत्येक पेशी सूत्र-समूहों की बनी होती है। यदि मांस के एक टुकड़े को लेकर उसको लम्बाई की ओर चीरते जायें तो उसके तन्तु पृथक होते चले जायेंगे। अन्त को अत्यन्त सूक्ष्म तन्तुक (Fibril) रह जायगा। यह तन्तुक ही पेशी की कोशिका है। इसको अनुदर्शक द्वारा देखने से तन्तुक में विचित्र रचना दिखाई देती है। तन्तुक आर-पार चौड़ाई की दिशा में अनेक खंडों में विभाजित होता है जिनमें से एक विमल और दूसरा धूमिल खंड होता है। एक स्वच्छ पारदर्शी दिखाई देता है और दूसरा प्रकाशहीन होता है। एक के पश्चात् दूसरे इसी प्रकार के धूमिल और विमल खंड
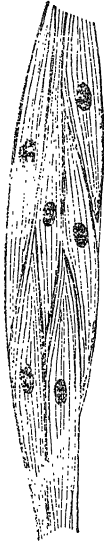
चित्र १५—अनैच्छिक पेशी के लम्बूतरी कोशिकाओं का समूह दिखाया गया है। प्रत्येक कोशिका में केन्द्रक बीच में स्थित है।
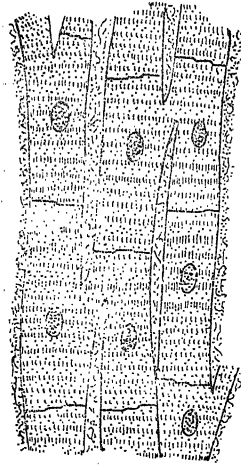
चित्र १६—हृतपेशों की कोशिकायें जो प्रवर्धित भागों द्वारा एक दूसरे से संबंधित हैं।

दिखाई देते हैं। धूमिल खंड के ऊपर और नीचे दोनों ओर बिन्दु दिखाई देते हैं और वे सूक्ष्म रेखाओं से लम्बाई और चौड़ाई दोनों ओर एक दूसरे से जुड़े होते हैं। इस प्रकार तन्तुक में रेखाओं का एक जाल-सा दिखाई देता है। यह शृंखला या जाल केवल ऐच्छिक पेशी में दिखाई देता है। इस कारण उनको **रेखित या रेखांकित** (Striped)

कहते हैं । **अनैच्छिक** पेशी तन्तुकों में यह शृंखला नहीं होती । अतएव वे **अरेखित** या **अरेखांकित** (Unstriped) कही जाती हैं। जो पेशी जितनी अधिक बार संकोच कर सकती हैं उसमें उतनी ही ये रेखायें या शृंखला अधिक स्पष्ट होती हैं।

इन तन्तुओं पर एक आवरण चढ़ा रहता है जिसके भीतर मुख्य पेशी वस्तु भरी रहती है। आवरण को सारकौलेमा (Sarcolemona) कहते हैं और भीतर की वस्तु को सारकोप्लाज्म या पेशी द्रव्य (Sarcoplasm)। इन तन्तुओं के गुच्छे बन जाते हैं। प्रत्यक गुच्छे पर एक आवरण चढ़ा होता है। बहुत से गुच्छे मिल कर एक पेशी बना देते हैं। जितनी बड़ी पेशी होती है उसमें उतने ही अधिक गुच्छे होते हैं।

४. तन्त्रिका ऊतक

इसका वर्णन मस्तिष्क-मेरु-तन्त्रिका तन्त्र के साथ किया जायेगा।

तीसरा परिच्छेद

शरीर का आधार : मानव-कंकाल, संधि, पेशी

संसार के जन्तु दो बड़े विभागों में बाँटे गये हैं, एक जिनके शरीर में अस्थि नहीं होती और दूसरे जिनमें अस्थि होती है। पहले विभाग के जन्तुओं को अपृष्ठवंशी (Invertebrates) कहा जाता है क्योंकि उनमें कशेरुका (Vertebra) निर्मित पृष्ठवंश (Vertebral column) नहीं होता। दूसरे विभाग में पृष्ठवंश होने के कारण उसके जन्तुओं को पृष्ठवंशी (Vertebrates) कहा जाता है। जल में रहने वाला एक अत्यन्त सूक्ष्म जीव अमीबा, जैली फिश, केंचुवा, मक्खी, मच्छर, बिच्छू, घोंघा ये सब अपृष्ठवंशी जन्तु हैं। दूसरे विभाग में मछली, कबूतर तथा अन्य पक्षी, बकरी, गौ, भैंस, मनुष्य आदि की गणना की जाती है। इस विभाग की विशेषता यही है कि इसके सदस्यों के शरीर में अस्थियों का ढाँचा या कंकाल (Skeleton) होता है। अपृष्ठवंशी विभाग के कितने ही जन्तुओं में भी कंकाल होता है। किन्तु वह शरीर का बाह्यावरण बनाता है, वह उनके शरीर पर कवच की भाँति चढ़ा रहता है जैसा घोंघे पर होता है। इसको **बाह्य** या **बहिः-कंकाल** (Exoskeleton) कहते हैं। मनुष्य तथा दूसरे जन्तुओं पक्षी, बकरी, गौ आदि में **अन्तः-कंकाल** (Endoskeleton) होता है जो शरीर के भीतर रह कर शरीर का आधार बनाता है। सब स्तनधारी (Mamalia) जन्तुओं में अन्तः-कंकाल होता है। अस्थियाँ शरीर के भीतर होती हैं और जन्तु के शरीर के आकार, दौड़ने, भागने, गति करने आदि क्रियाओं का आधार होती हैं।

मनुष्य तथा स्तनधारी जन्तुओं के शरीर का निर्माण इस प्रकार का है कि उनमें एक **मध्यस्थ** भाग और दूसरा **प्रान्तस्थ भाग** है। **मध्यस्थ** भाग में **सिर, ग्रीवा** और **धड़** हैं। कपाल और उसके नीचे **पृष्ठवंश या मेरुदंड** (Spinal Column) इसी भाग में हैं। **प्रान्तस्थ** भाग में दोनों ओर दो देह-शाखायें (Extremities) हैं जिनको **ऊर्ध्व** और **अधो शाखायें** (Superior and Inferior Extremities) कहते हैं। इन शाखाओं के जोड़े हैं जिनमें से एक मध्यस्थ भाग के दाहिनी ओर लगा है और दूसरा बाईं ओर। ऊर्ध्व शाखा में कई अस्थियाँ हैं जिनमें से ऊपर की अस्थि मांस-पेशियों तथा कलाओं के द्वारा धड़ के ऊपरी भाग पर लगी हुई हैं। दोनों ओर की सब अस्थियाँ मिलकर अंसमेखला (Pectoral Girdle) कहलाती हैं। इस प्रकार जत्रुक और

अंसफलक के मिलने से **अंसमेखला** बनती है। इसी प्रकार अधोशाखा की नितंबास्थियों
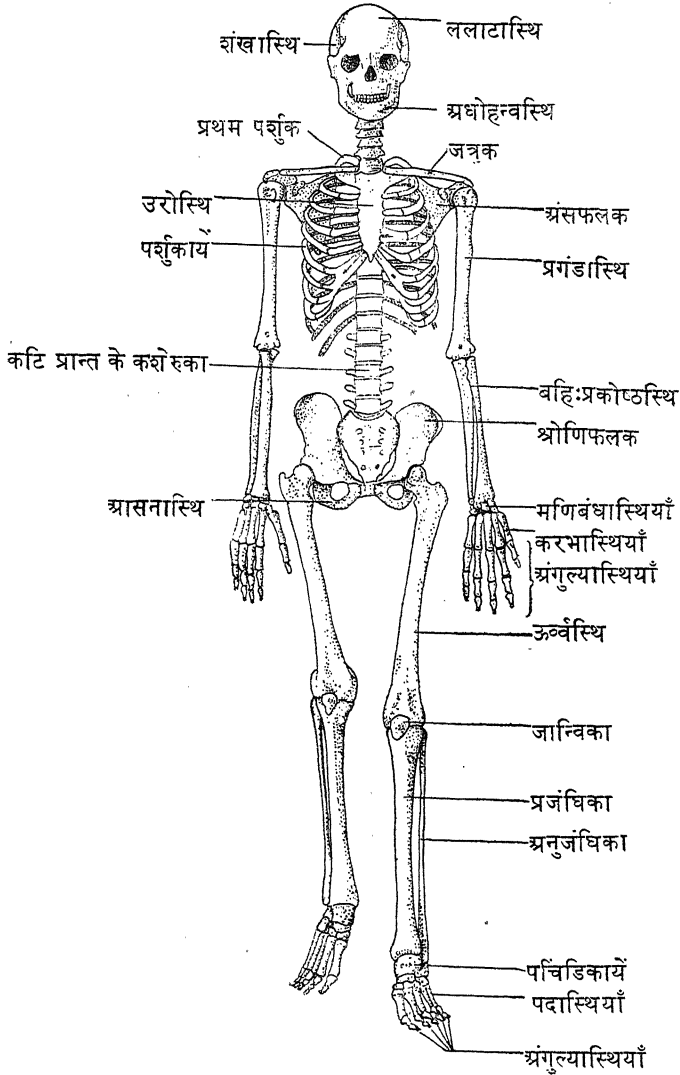
चित्र १७—मानव-कंकाल

और त्रिक के मिलने से **श्रोणिमेखला** (Pelvic Girdle) बनती है। घोड़े, भैंस, बकरी आदि में ये मेखलायें अधिक पूर्ण होती हैं।

कंकाल तन्त्र (Skeletal System)

शरीर के जो भाग ऊपर बताये गये हैं उनका कुछ अधिक परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। हम प्रथम मध्यस्थ भाग का अध्ययन करके प्रान्तस्थ भाग में स्थित दोनों मेखलाओं के अंशों का परिचय प्राप्त करेंगे।

सिर (Head) : यह शरीर का सबसे ऊँचा भाग है। सिर के नीचे ग्रीवा (Neck) है जिसके द्वारा वह धड़ से जुड़ा है। सिर के भीतर जितनी अस्थियाँ हैं वे
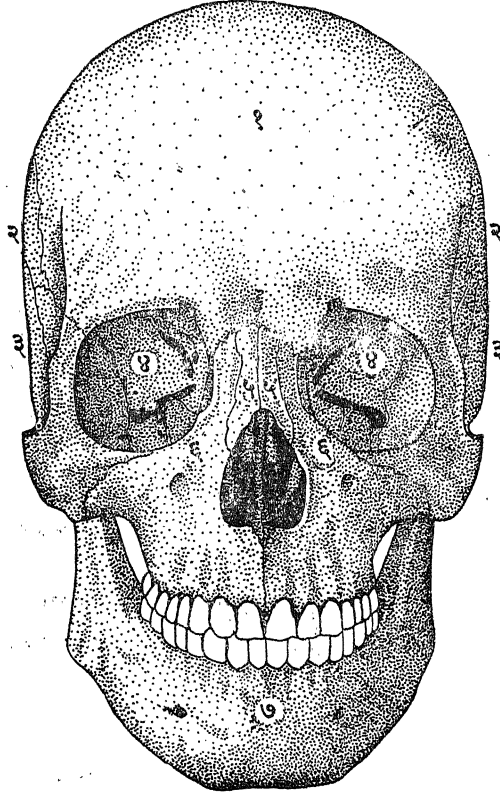
चित्र १८—करोटि सामने से

[१—ललाटास्थि २, २—पार्श्वकास्थियाँ ३, ३—शंखास्थियाँ ४, ४—नेत्र गुहायें ५, ५—नासास्थियाँ ६, ६—ऊर्ध्वहन्वस्थि के नासाप्रवर्ध ७, ७—अधोहन्वस्थि]

सब मिलकर करोटि (Skull) कहलाती हैं। उसका ऊपरी भाग कई चपटी अस्थियों के मिलने से एक सन्दूक के समान बन गया है जिसमें मस्तिष्क रहता है। इस भाग को कपाल (Cranium) कहते हैं। करोटि के सामने का भाग **आनन** (Face)

है। नेत्र, नासिका, मुख इसी में स्थित हैं। करोटि में कुल २२ अस्थियाँ हैं जिनमें से ८ कपाल की हैं और शेष १४ आनन बनाये हुए हैं।
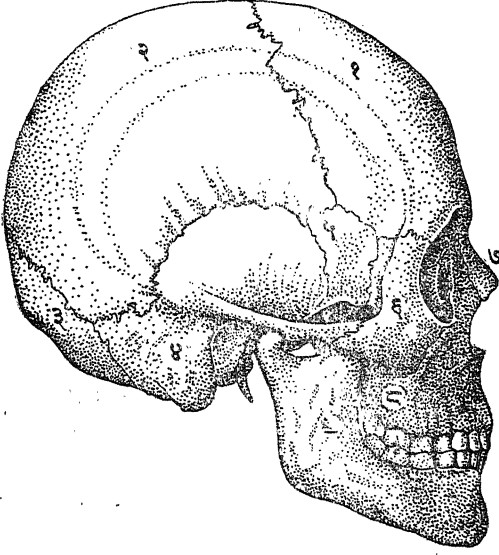
चित्र १६—करोटि का पार्श्व दृश्य

[१—ललाटास्थि २—पार्श्वकास्थि ३—पश्चकपालास्थि ४—शंखास्थि कर्णमूय भाग ५—जतूकास्थि के पक्ष का बहिःपृष्ठ ६—गंडास्थि का प्रवर्ध ७—नासास्थि ८—ऊर्ध्व-हन्वस्थि ९—अधोहन्वस्थि]

कपाल की अस्थियाँ : निम्नलिखित आठ अस्थियों से कपाल रूपी सन्दूक बना हुआ है :

ललाटास्थि (Frontal)	१
पार्श्वकास्थि (Parietal)	२
पश्चकपालास्थि (Occipital)	१
शंखास्थि (Temporal)	२
जतूकास्थि (Sphenoid)	१
इथमाइड या झर्झरिका (Ethmoid)	१

ललाटास्थि : सामने की ओर स्थित है। नेत्र, भ्रू और माथा इसी अस्थि से बनते हैं। यहाँ से ऊपर की ओर जाकर यह दोनों ओर की पार्श्विकाओं के अगले विषम किनारों से इसी प्रकार के अपने पिछले किनारों द्वारा मिल जाती है। ये किनारे खाँचेदार होते

हैं और एक अस्थि के खाँचे दूसरे अस्थि के खाँचों में उसी प्रकार बैठ जाते हैं जिस प्रकार बढ़ई लकड़ी के दो टुकड़ों में खाँचे बना कर उनको जोड़ देता है। इससे अस्थियाँ दृढ़ता से जुड़ जाती हैं। उनमें तनिक भी गति नहीं होती।
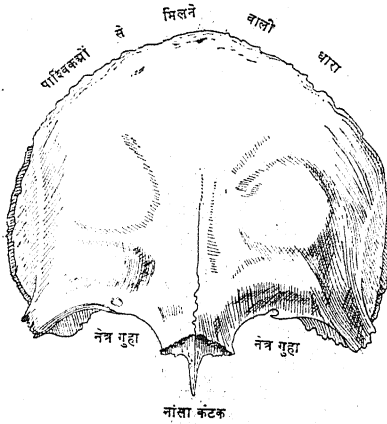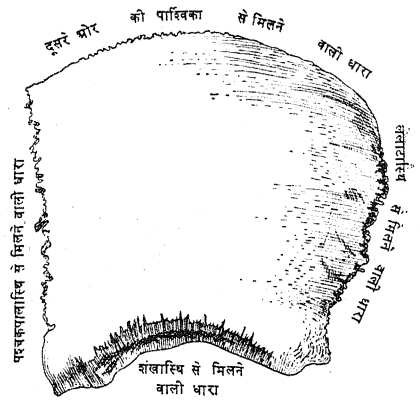
चित्र २०—ललाटास्थि चित्र २१—पार्श्वकास्थि

किन्तु जन्म के समय ये किनारे पूर्णतया नहीं जुड़े होते। तीनों अस्थियों के संगम स्थान पर उनमें कुछ अन्तर रह जाता है। शिशु के कपाल को इस स्थान पर दबाने से वह पोला प्रतीत होता है और नीचे को दब जाता है। यहाँ अस्थि नहीं होती। यह स्थान केवल त्वचा से ढका रहता है। यह पूर्व या ब्रह्मरन्ध्र (Anterior Fontanelle) कहलाता है। यह शिशु के प्रथम वर्ष के अन्त तक जुड़ता है।

कपाल के दोनों पार्श्वों में दो **पार्श्विकास्थियाँ** स्थित हैं जो कपाल के ऊर्ध्व पृष्ठ की मध्य रेखा में अपने विषम खाँचेदार किनारों द्वारा जुड़ी हुई हैं। नीचे की ओर ये शंखास्थि के साथ जुड़ जाती हैं और पीछे की ओर पश्चकपालास्थि के किनारों से इनका सम्मेलन होता है। यहाँ पर भी ब्रह्मरन्ध्र की भाँति किनारों के बीच में अन्तर रह जाता है। यह **पश्चिम** या **शिवरन्ध्र** (Posterior Fontanelle) कहलाता है। पूर्वरन्ध्र की अपेक्षा यह छोटा होता है और जुड़ने में भी इतना समय नहीं लेता। इसी प्रकार के चार रन्ध्र और भी होते हैं जो अस्थियों के सम्मेलन स्थान पर बन जाते हैं। किन्तु वे छोटे होते हैं और शीघ्र ही जुड़ जाते हैं। इस कारण उन पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता।

पश्चकपालास्थि : पीछे की ओर स्थित है और ऊपर तथा सामने की ओर पार्श्विकास्थि और शंखास्थियों से मिली रहती है। इसमें पिछली ओर निचले भाग में एक बड़ा छिद्र

है जो **वृहद्रन्ध्र** (Foramen Magnum) कहलाता है। इसमें होकर मस्तिष्क के नीचे से निकल कर मेरुरज्जू (Spinal Cord) कशेरुक नलिका में चली जाती है। प्रमस्तिष्क-मेरु द्रव (Cerebrospinal Fluid) भी इसी छिद्र द्वारा मेरुनलिका में पहुँच कर वहाँ मेरुद्रव कहलाता है। इस छिद्र के दोनों ओर अस्थि के निचले भाग
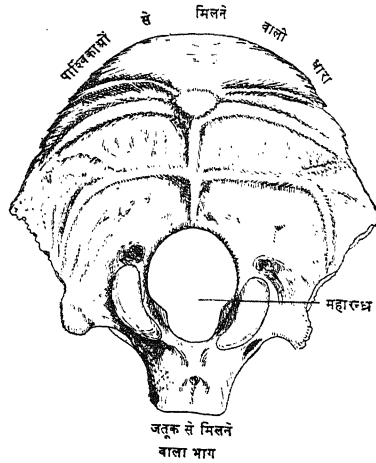
चित्र २२—पश्चकपालास्थि

के बाहरी पृष्ठ पर दो स्थूलक (Condyle) हैं जिनके द्वारा अस्थि का प्रथमः कशेरुका या शीर्षधर (Atlas) के साथ सम्पर्क होता है। अतएव सारी करोटि का भार इन स्थूलकों द्वारा ही मेरुदंड पर पड़ता है जो खड़े होने की अवस्था में सिर को ग्रीवा की पेशियों और स्नायुओं द्वारा सँभालता है।

शंखास्थियाँ भी पार्श्विकाओं के समान दो हैं, एक दाहिनी ओर और एक बाईं ओर। यह अस्थि अत्यन्त विषम या विरूप है। इसका चौड़ा फलक या पट्टक (Squamma) खड़ी दिशा में बाहर की ओर रहता है। बाह्यश्रवण कुहर (External Acoustic Meatus) इसी अस्थि में है जिसके चारों ओर कर्णशष्कुली (Lobule of Ear) लगी हुई है। इसके बीच से एक सुरंग की भाँति कुहर सीधा भीतर को चला जाता है। इस अस्थि के भीतर की ओर से एक मोटा दृढ़ त्रिकोणाकार प्रवर्ध (Process) सीधा भीतर को जाकर जतूकास्थि तथा अन्य अस्थियों से मिलकर कपाल गुहा का तल बनाने में भाग लेता है। मध्यकर्ण और अन्तःकर्ण (Internal Ear) इसी प्रवर्ध के तलीय भाग में स्थित हैं।
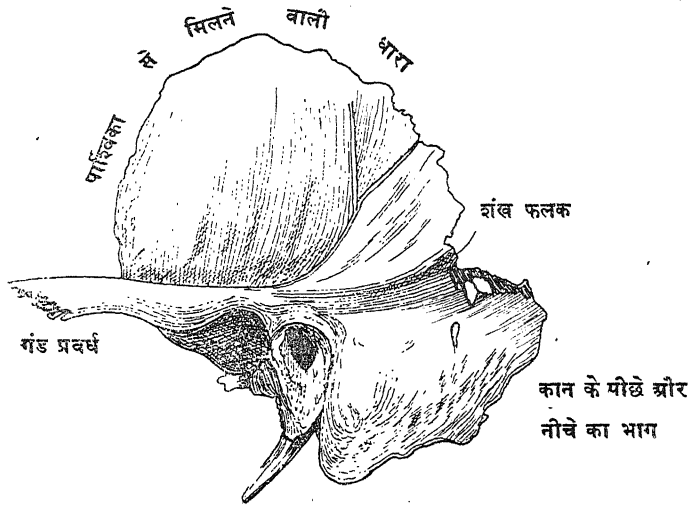
चित्र २३—शंखास्थि

जतूकास्थि : एक बड़े आकार की और अत्यन्त क्रमहीन अस्थि है जो कपाल गुहा के तल को बनाने में विशेष भाग लेती है और मस्तिष्क के निचले खंडों को तथा मेरुशीर्ष (Medulla Oblongata) नामक विशिष्ट भाग को आश्रित किये रहती है। इसके
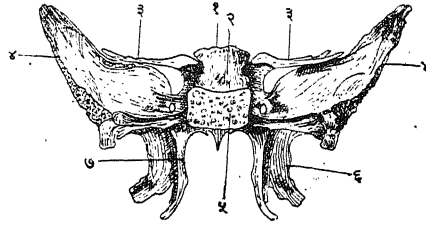
चित्र २४—जतूकास्थि

[१, २—दोनों ओर के बीच का भाग (पर्याणिका और पीयबिका खात)
३—लघु पक्ष ४—बृहद पक्ष ५—कंटक ६, ७—बहिः और अन्तः
पक्षाभ प्रवर्ध]

बाहरी पृष्ठ पर जो नीचे की ओर रहता है कई विशिष्ट संरचनायें (Structures) लगी हुई हैं।

इसका आकार एक तितली के समान है जिसने पंख खोल रखे हों। करोटि में इसकी स्थिति ठीक उड़ती हुई तितली जैसी है। यह अस्थि करोटि की बारह अस्थियों से सम्पर्क करती है।

कपाल की आठवीं अस्थि जिसको इथमाइड कहते हैं बड़ी ही विलक्षण है। इसके बीच में स्थित एक फलक के दोनों ओर यद्यपि एक-एक बड़े आकार का अस्थि पिंड है किन्तु अस्थि इतनी हल्की है कि सारी अस्थि एक या दो तोले से अधिक न होगी। कारण
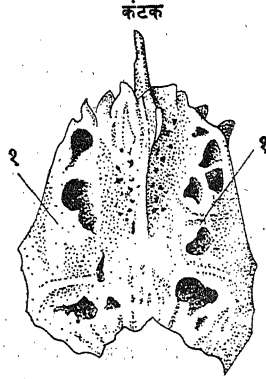
चित्र २५—इथमाइड
[१, १—पार्श्व पिंड]

यह है कि दोनों ओर के पिंडों में बड़े-बड़े वायु विवर (Air sinuses) हैं। ये वायु-विवर खोखले हैं। अस्थि के कागज के समान पतले फलकों के बीच में ये विवर स्थित हैं। अतः अस्थि हलकी हो गई है। यह अस्थि ललाटास्थि के अनुप्रस्थ भाग (horizontal part) में नेत्र पट्टिकाओं के बीच में स्थित है। पीछे की ओर यह जतूकास्थि से मिली हुई है। इसका इथमाइड नाम लैटिन भाषा के Ethmos शब्द से पड़ा है जिसका अर्थ है चलनी। इसमें बहुत से छिद्र हैं जिनमें होकर नासिका से घ्राण तन्त्रिका (Olfactory nerve) की अनेक शाखायें मस्तिष्क के घ्राण कन्दों (Olfactory Bulbs) में जाती हैं।

आनन की अस्थियाँ

नेत्र-भ्रू (Eyebrows) से नीचे का भाग आनन माना जाता है। इस भाग में निम्नलिखित अस्थियाँ हैं:

नासास्थि (Nasalis)	२
अश्रुअस्थि (Lacrimal)	२
गंडास्थि (Zygomatic)	२
अधोशुक्तिकास्थि (Inferior Turbinal)	२
सीरिका (Vomer)	१

तालव्स्थि (Palatine) २
ऊर्ध्वहन्वस्थि (Maxilla) २
अधोहन्वस्थि (Mandible) १

दोनों भ्रू के बीच में नासिका के ऊर्ध्व भाग में दोनों ओर एक-एक **नासास्थि** स्थित हैं। मध्य रेखा में दोनों सम्पर्क करती हैं। ऊपर की ओर ये ललाटास्थि से मिली रहती हैं और बाहर की ओर ऊर्ध्व हन्वस्थि के एक प्रवर्ध से मिल जाती हैं। इनके बाहर की ओर नेत्रगुहा (Orbit) हैं जिनमें **नेत्रगोलक** (eyeball) स्थित हैं। इन अस्थियों के निचले भागों से तनिक बाहर नेत्रगुहा की ओर दो अत्यन्त लघु **अश्रुअस्थियाँ** हैं जिन पर अश्रुकोष (labrimal sac) स्थित हैं। नेत्रगुहाओं के ऊर्ध्व और बाहरी भाग में स्थित अश्रु ग्रन्थि (Lachrymal Gland) में अश्रु बन कर नेत्रगोलक पर बहते हुए नेत्र गुहा के भीतरी निचले कोनों में स्थित एक छिद्र से अश्रुकोष में पहुँच जाते हैं और वहाँ से एक दूसरी नलिका द्वारा नासा में पहुँचते हैं। इसी कारण रोने के समय नाक से तरल द्रव बहने लगता है। इस नलिका को **नासाश्रु नलिका** या वाहनी (Nosolacrimal Duct) कहते हैं।

नासिका का ऊपरी भाग नासास्थियों से बनता है। नीचे का भाग केवल उपास्थि निर्मित है। नाक को अँगुलियों से पकड़ कर इधर-उधर को घुमा कर उसको स्पर्श किया जा सकता है। नासिका के भीतर का स्थान, जो नासा गुहा (Nasal Cavity) कहलाता है, एक मध्यस्थ फलक के द्वारा दो लम्बी सुरंगों में विभक्त है जो नासाद्वारों (Naves) से प्रारम्भ होकर पीछे की ओर ग्रसनी (Pharynx) में पश्चिमद्वारों (Postcrior Nasal openings) द्वारा खुलती है। इनको नासारन्ध्र भी कहते हैं। मध्यस्थ फलक एक अत्यन्त पतली कोमल अस्थि का बना है जिसको वोमर या सीरिका कहते हैं।

गंडास्थि को कपोलास्थि भी कहते हैं क्योंकि कपोल का सबसे उन्नत भाग जो नेत्र-गुहा के नीचे स्थित है इसी अस्थि से बनता है। भीतर अर्थात् नासिका की ओर यह अस्थि ऊर्ध्वहन्वस्थि के एक प्रवर्ध से मिली हुई है। बाहर कर्ण की ओर यह शंखास्थि के एक प्रवर्ध से मिल कर वह चाप बनाती है जो कान के सामने से गंडास्थि तक फैली हुई है। यह गंड चाप (Zygomatic arch) कहलाती है।

तालवस्थि : भी एक क्रमहीन छोटी अस्थि है जिसका एक भाग ऊर्ध्वहन्वस्थि के अनु-प्रस्थ भाग से मिलकर कठिन तालु (Hard Palate) का पिछला भाग बनाता है। दोनों ओर की तालवस्थियाँ मध्यरेखा में मिली रहती हैं।

ऊर्ध्वहन्वस्थिः ऊपर लिखी हुई अस्थियों की अपेक्षा यह अस्थि अधिक बड़ी है। इसके भीतर एक बड़ी गुहा होती है जो हन्वीय विवर (Maxillary Sinus) कहलाती है। इसका सम्बन्ध नासागुहा से एक छिद्र द्वारा होता है जो नासागुहा की पार्श्विक

भित्ति के ऊर्ध्व भाग में स्थित है। इसके द्वारा वायु नासारन्ध्र से विवर में पहुँचती है तथा शोथ भी पहुँच जाता है और पूय या पीव तक पड़ जाती है।
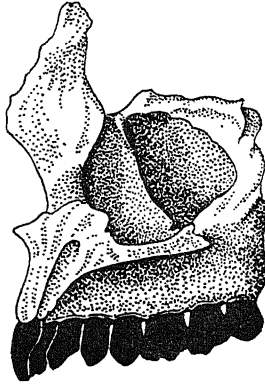
चित्र २६—ऊर्ध्व हन्वस्थि का अन्तःपृष्ठ ऊपर के भाग में विवर दीख रहा है

ऊपर के दाँत इसी अस्थि में लगे रहते हैं। अस्थि के निचले किनारों में गहरे गड्ढे होते हैं जिनमें दाँतों की जड़ या मूल रहती है और दाँत का ऊपरी भाग जो शीर्ष (Crown) कहलाता है मुँह में निकला रहता है। अस्थि में दाँत चाप के आकार में स्थित हैं। इस कारण इसको दन्तचाप (Dental Arch) कहते हैं।

नासारन्ध्रों के भीतर ऊपरी भाग की पार्श्व भित्ति में दोनों ओर एक-एक अति लघु कोमल और सीप के आकार को अस्थि स्थित है। इसका आकार ठीक शुक्ति के समान होने से इसका नाम **शुक्तिका** (Turbinal) रख दिया गया है।

अधोहन्वस्थि : यह आनन प्रान्त की सबसे बड़ी अस्थि है और सबसे नीचे स्थित है। यह शेष अस्थियों से केवल स्नायु तथा पेशियों द्वारा जुड़ी हुई है। चाप के आकार की यह अस्थि बायें कान के सामने से दाहिने कान तक फैली हुई है। इसमें दो भाग हैं। एक तो वह अनुप्रस्थ चाप है जिसमें नीचे के दाँत लगे हुए हैं। उसके नीचे के किनारे को दाहिने ओर के कोण से बाईं ओर के कोण तक अँगुली से स्पर्श किया जा सकता है। दूसरा चौड़ा चपटा भाग, कोण से सीधा ऊपर कान की ओर चला जाता है जहाँ फिर उसके दो भाग हो जाते हैं। पिछला भाग एक गोल मुंड की भाँति होता है जो गंडचाप के नीचे की ओर एक गड्ढे में बैठता है और उसके साथ **शंखाधोहनु संधि** (Temporo-mandibular Joint) बनाता है। दूसरा तिकोनी भाग सामने की ओर को निकला रहता है जिस पर एक स्नायु और पेशियाँ लगी हैं। दोनों भागों के बीच में एक अर्धचन्द्राकार भंगिका (Notch) है। इस अस्थि में भी उसी प्रकार दाँत लगे हुए हैं जैसे ऊपर की अस्थि में

और उनके मुकुट या काटने वाले भाग ऊपर के दाँतों की ओर को निकले हुए हैं। इससे ऊपर और नीचे के दाँतों के बीच में आकर ग्रास भली भाँति काटा या चबाया जा सकता है।
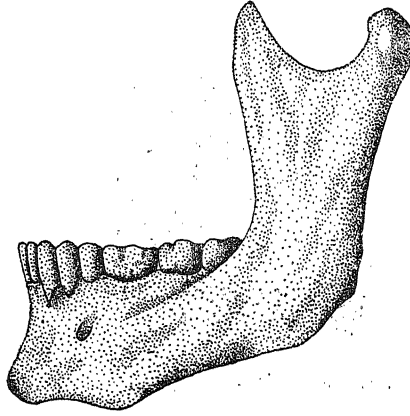
चित्र २७—अधोहन्वस्थि

इस अस्थि पर कई बलवान पेशियाँ लगी हुई हैं जो उसको ऊपर की ओर को खींचती है जिससे नीचे के दाँत ऊपर के दाँतों से मिल जाते हैं। इन पेशियों की क्रिया से अस्थि ऊपर और नीचे को तथा दाहिने और बाईं ओर को चलती है। इन्हीं गतियों से आहार को काटने और चबाने की क्रिया होती है।

हायोइड या कंठकास्थि (Hyoid) : ग्रीवा में भी एक छोटी अस्थि है जिसको
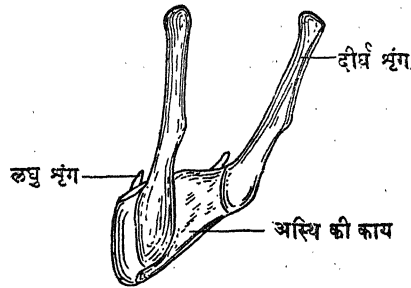
चित्र २८—कंठकास्थि

कंठकास्थि या हायोइड कहते हैं। टेंटुवे से तनिक ऊपर दोनों ओर अंगूठा और तर्जनी

रख कर दबाने से इस अस्थि को स्पर्श किया जा सकता है। इसका आकार एक मुद्रिका के समान है जिसका पिछला भाग काट दिया गया हो। इसके अन्तिम भाग के दोनों ओर एक-एक शृंग निकले हुए हैं जो ऊपर को मुड़े हुए हैं। इस अस्थि पर कई पेशियाँ लगती हैं, विशेषकर निगलने की पेशी। ये पेशियाँ तथा कुछ स्नायु इस अस्थि को अपने स्थान पर रखती हैं। इससे तनिक ही नीचे टेंटुवा स्थित है जहाँ से स्वर-यन्त्र और श्वास-नाल प्रारम्भ होते हैं।

ग्रीवा : गत पृष्ठों में शरीर के सर्वोच्च भाग सिर की अस्थियों का परिचय दिया गया है। ये अस्थियाँ त्वचा और पेशियों से ढकी रहती हैं। त्वचा के नीचे वसा (Fat) का एक स्तर फैला हुआ है। कहीं-कहीं गड्ढों में वसा अधिक मात्रा में भरी हुई है। इसी से आनन सुडौल, चिकना और सुन्दर दीखता है। वसा सारे पृष्ठ को समान और समतल बना देती है और सब गड्ढों को भर देती है। त्वचा के नीचे पेशी वसा आदि में अन्य विशेष रचनायें धमनी, शिरा, केशिका फैली हुई हैं जो सब भागों को रक्त के द्वारा पोषण पहुँचाती हैं। कई बड़ी धमनी ग्रीवा में होकर मस्तिष्क को चली जाती है। इसी प्रकार तन्त्रिकायें भी कपाल से सूक्ष्म छिद्रों में होकर बाहर आती हैं। उनमें से कई का तो वहीं नेत्र गोलक, कर्ण, पेशी आदि में वितरण हो जाता है। कुछ मुख के भीतर आकर जिह्वा आदि की पेशियों का संचालन करती हैं। दसवीं तन्त्रिका कपाल में से निकल कर ग्रीवा में होती हुई वक्ष और उदर में चली जाती है। ये सब संरचनायें भिन्न-भिन्न प्रकार के तन्तु-ऊतक द्वारा अपने स्थान में रहती हैं। इन सब कोमल रचनाओं और अस्थियों से ग्रीवा बनती है।

ग्रीवा सिर को धड़ के साथ जोड़ती है। ग्रीवा में सात अस्थि के छल्ले रहते हैं जो कशेरुका (Vertebra) कहलाते हैं। ये छल्ले एक दूसरे पर स्थित हैं, वक्ष उदर और कटि प्रान्त में भी कशेरुका इसी भाँति एक दूसरे पर आश्रित हैं। इस प्रकार कपाल के नीचे ग्रीवा के प्रारम्भ से लेकर कटि प्रान्त के अन्त तक कशेरुकाओं का एक लम्बा दंड बन जाता है जो **मेरुदंड या कशेरुका स्तंभ** (Vertebral Column) कहलाता है। इसको पृष्ठ-वंश भी कहते हैं। सारे मेरुदंड में ३३ कशेरुकाएँ हैं।

इस प्रकार ग्रीवा में सात कशेरुक हैं। सारी करोटि ग्रीवा के प्रथम कशेरुक पर ही आश्रित है जिसको शीर्षधरा (Atlas)) भी कहा जाता है। इस कशेरुक का आकार अन्य कशेरुकों से बहुत भिन्न है। यह केवल एक वलय या मुद्रिका के समान है। इसमें काय नहीं होता। इसके दोनों पार्श्विक भागों पर गड्ढे बने हुए हैं। पश्चकपालास्थि के निचले भाग के बहिःपृष्ठ पर जो गोल-गोल पिंडक हैं वे इन्हीं गड्ढों में आश्रित रहते हैं। सिर के आगे-पीछे झुकने के समय ये पिंडक गड्ढों में आगे-पीछे को घूमते हैं। दृढ़ स्नायुओं द्वारा ये अस्थि भाग अपने स्थान में रहते हैं।

वक्ष प्रान्त में १२ कशेरुक हैं। ये अभिपृष्ठ कशेरुका (Dorsal Vertebra) भी कहलाते हैं। इसके नीचे कटि प्रान्त के ५ कटि कशेरुका (Lumbar Vertebra)
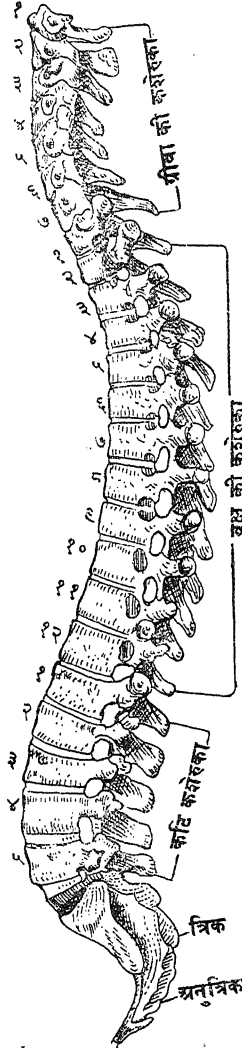
चित्र २६—कशेरुका दंत का पाश्र्व दृश्य

हैं। अगले ५ कशेरुका आपस में मिल गये हैं जिससे त्रिक (Saccrum) नाम की अस्थि बन जाती है। किन्तु इसके अन्तः और ब्रहिः दोनों पृष्ठों पर पृथक्-पृथक् कशेरुकाओं के चिह्न स्पष्ट हैं। प्रत्येक कशेरुका के भाग भी दिखाई देते हैं। त्रिक भाग में

कशेरुकाओं का आकार ऊपर से नीचे की ओर को छोटा होता चला जाता है। इसके नीचे भी चार अति लघु आकार के और अत्यन्त अपूर्ण विकसितकशेरुकों के मिल जाने से अनुत्रिकास्थि या कौक्सिक्स (Coccyx) बन गई है। ये कशेरुका पशुओं की पूँछ के कशेरुकाओं के समावयवी माने जाते हैं। विकास क्रम में मनुष्य में पूँछ का ह्रास होने से इन कशेरुकों का केवल आभास मात्र शेष रह गया है।

कशेरुका : प्रत्येक कशेरुका एक छल्ले के समान होता है। इसका अगला मोटा, चपटा किन्तु वृत्ताकार भाग **कशेरुका काय** (Body of Vertebra) कहलाता है। इसके दोनों ओर से **तन्त्रिका चाप** (Neural Arch) निकलते हैं जो पीछे की ओर जाकर मध्यरेखा में मिल जाते हैं और वहाँ पीछे की ओर को निकला हुआ एक प्रवर्ध

चित्र ३०—वक्षीय कशेरुका

[१—कंटक २—अनुप्रस्थ प्रवर्ध पर पर्शुका से सम्मेलन करने का स्थालक ३—कशेरुका नलिका ४—कशेरुका काय]

बन जाता है जिसको **कंटक** (Spine) कहते हैं। काय से चाप के निकलने के पास ही उससे दाहिनी और बाईं ओर एक-एक प्रवर्ध निकलता है। इनको **अनुप्रस्थ प्रवर्ध** (Transverse Process) कहा जाता है। इन प्रवर्धों और कंटक पर पेशी और स्नायु लगी रहती हैं जो मेरुदंड को सीधा रखती हैं और आगे या पीछे और पार्श्वों की ओर को झुकाती हैं। दोनों ओर की चापों के पीछे की ओर मिल जाने से उनके बीच में मेरुनलिका (Vertebral or Spinal Canal) बन जाती है। कशेरुकाओं के ऊपर नीचे स्थित होने से यह नलिका कशेरुक दंड के आदि से लेकर पाँचवें कटि कशेरुक के अन्त तक फैली हुई है। इस नलिका में मेरुरज्जु (Spinal Cord) रहती है जो मस्तिष्क के पीछे के भाग के अधोपृष्ठ से प्रारम्भ होकर वृहद् विवर में से निकल कर मेरु नलिका में आती है और कटि प्रान्त तक चली जाती है जहाँ वह पतली रज्जु के समान होकर कई

शाखाओं में विभक्त हो जाती है। इस मेरुरज्जु के दोनों ओर से तन्त्रिकायें निकल कर **कशेरुकान्तर छिद्रों** (Inter Vertebra Foramen) में होती हुई शरीर के भिन्न भागों में चली जाती हैं। कशेरुकाओं के बीच में उपास्थि का एक पट्ट रहता है जो उनको आपस में रगड़ने से बचाता है। यह **कशेरुकान्तर पट्ट या उपास्थि** (Inter Vertebral Disc) कहलाती है।

ग्रैव कशेरुका : अन्य प्रान्तों के कशेरुकाओं से छोटे होते हैं। प्रथम कशेरुका में काय,
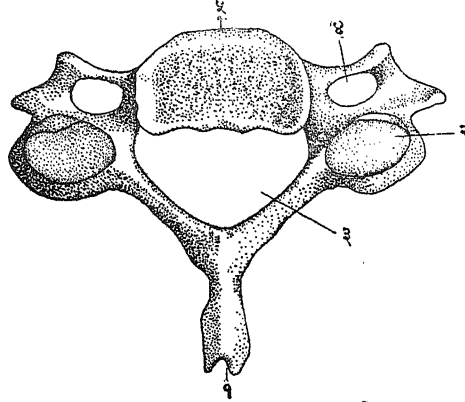
चित्र ३१—ग्रैवेयक कशेरुका

[१—कंटक २—ऊर्ध्वस्थालक ३—कशेरुकानलिका ४—अनुप्रस्थ प्रवर्ध में छिद्र कशेरुकी धमनी के लिये ५—कशेरुका काय]

कंटक तथा अनुप्रस्थ प्रवर्ध भी नहीं होते। दूसरे कशेरुका का रूप भी भिन्न होता है।
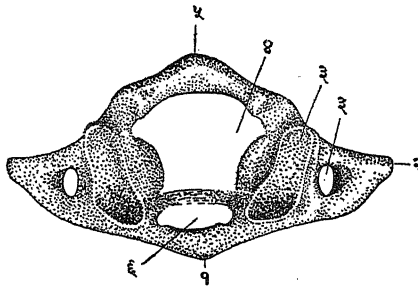
चित्र ३२—प्रथम ग्रैवेयक कशेरुका

[१—कीप जो एक पिंड सा बन कर रह गया है २—अनुप्रस्थ प्रवर्ध ३—वाहुक छिद्र ३' स्थूलक जिनपर पश्चकपालिका के पार्श्व पिंड आश्रित रहते हैं ४—मेरु नलिका ५—कंटक ६—दन्ताभ छिद्र जिनमें दूसरे कशेरुका का दन्ताभ प्रवर्ध रहता है]

उसमें काय के स्थान से एक मोटा प्रवर्ध निकलता है जो सीधा ऊपर को जाकर ऊपर के प्रथम कशेरुक की चाप के अग्र भाग पर लगता है जहाँ उसके लगने का एक चिह्न बना हुआ है। इस प्रवर्ध को **दन्ताभ प्रवर्ध** (Odontoid Process) कहते हैं। जब सिर को इधर-उधर को घुमाते हैं तो यह प्रवर्ध प्रथम कशेरुक के चाप के भीतर कीली की भाँति घूमता है।
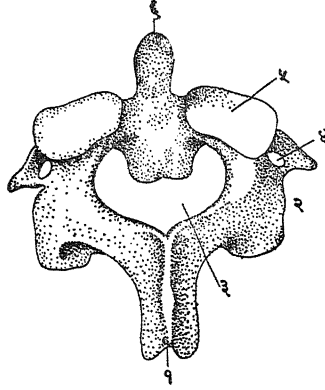
चित्र ३३—द्वितीय ग्रैवेयक कशेरुका

[१—कंटक २—प्रवर्ध ३—मेरु नलिका ४—छिद्र ४—ऊर्ध्व स्थूलक दन्ताभ प्रवर्ध]

इस प्रान्त के कशेरुकाओं में एक विशेषता यह होती है कि उसके अनप्रस्थ प्रवर्धों
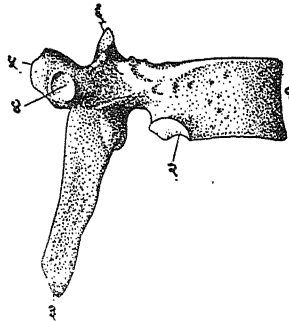
चित्र ३४—प्रथम वक्ष कशेरुका

[१—काय २, ४—पर्शुका सम्मेलक स्थूलक ३—कंटक ५—अनुप्रस्थ प्रवर्ध ६—ऊर्ध्व स्थूलक]

में छिद्र होते हैं जिनमें होकर आभ्यन्तर मातृका धमनी (Internal Carotid Artery) ऊपर की ओर कपाल को जाती है और वहाँ मस्तिष्क को रक्त देती है।

वक्ष प्रान्त (Thoracic Region) के कशेरुक जिनको अभिपृष्ठ (Dorsal) कशेरुक भी कहते हैं ठीक उसी प्रकार के होते हैं जैसा ऊपर वर्णन किया गया है। सातवाँ ग्रैव कशेरुक बहुत कुछ वक्षीय कशेरुक के समान होता है। इन कशेरुकाओं में सामने काय भाग होता है जिसके दोनों ओर के चाप निकल कर पीछे की ओर मिल कर कंटक में अन्त होते हैं। इनके अनुप्रस्थ प्रवर्धों में छिद्र नहीं होते। किन्तु उनके सिरों पर सामने की ओर **पृष्ठक** (facet) बने रहते हैं। ये चिकने चिह्न होते हैं जो पर्शुकाओं पर सिर से तनिक पीछे स्थित समान पृष्ठांकों के संपर्क में रहते हैं। पर्शुका का सिर कशेरुक की काय से सम्पर्क करता है। वह ऊपर और नीचे के दो कशेरुकों के साथ मिलता है। इस कारण आधा पृष्ठक ऊपर के कशेरुक की अधोधारा (Inferior Border) पर और आधा नीचे के कशेरुक की ऊर्ध्व धारा (Superior Border) पर रहता है।

कशेरुकाओं का आकार ऊपर से नीचे को बढ़ता जाता है। १२वाँ कशेरुक अन्य सब कशेरुकाओं से बड़ा होता है।

कटि (Lumbar) : प्रान्त के कशेरुकाओं का आकार और भी बड़ा होता है।
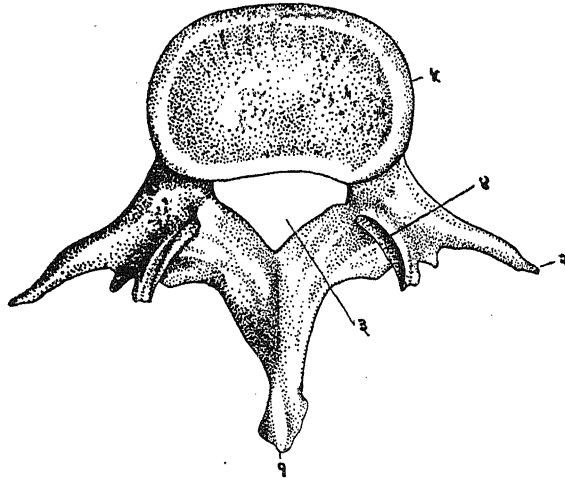
चित्र ३५—प्रथम कटि कशेरुका
[१—कंटक २—अनुप्रस्थ प्रवर्ध ३—कशेरुका नलिका ४—ऊपर के कशेरुका से मिलने वाले स्थूलक ५—काय]

५वाँ कटि कशेरुक सबसे बड़ा और दृढ़ होता है। इसको ऊपर के सिर और सारे मेरुदंड का बोझ उठाना होता है। अतएव नीचे के कशेरुकाओं का आकार बढ़ता जाता है।

इन कशेरुकाओं के प्रवर्धन भी छोटे और मोटे हो जाते हैं। उनकी लम्बाई कम हो जाती है किन्तु चौड़ाई और मोटाई अधिक हो जाती है। इन पर पीठ की दृढ़ एवं बलवान पेशियाँ लगी हुई हैं।

त्रिक (Sacrum) के ५ कशेरुकाओं की रचना भी उपर्युक्त कशेरुकाओं ही के समान है। किन्तु वे सब आपस में जुड़ गये हैं और उनके प्रवर्धों के आकार भी बदल गये हैं। काय, अनुप्रस्थ प्रवर्ध और कंटकों के मिल जाने से सामने एक चिकना अवतल पृष्ठ बन गया है जो श्रोणि (Pelvis) का पश्चपृष्ठ (Posterior Surface) बनाता है। अस्थि के पश्चिम पृष्ठ पर जो पीठ की ओर रहता है कंटक और प्रवर्धों के अवशेष स्पष्ट हैं।
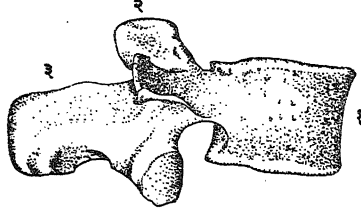
चित्र ३६—कटि कशेरुका का पार्श्व दृश्य
[१—काय २—अनुप्रस्थ प्रवर्ध ३—कंटक]

यह अस्थि श्रोणि के बनाने में विशेष भाग लेती है। अन्य अस्थियों के साथ मिलकर यह एक पूर्ण मेखला बना देती है। इस प्रकार से इसमें जो गुहा बन जाती है वह बड़े महत्त्व की है। इस गुहा में मूत्राशय, गर्भाशय, मलाशय तथा कई अन्य विशेष अंग रहते हैं।

अनुत्रिकास्थि : त्रिकास्थि का एक भाग-सा दीखती है क्योंकि उसके अन्तिम निम्न भाग से जुड़ी रहती है। इसके चारों भाग अवशिष्ट कशेरुक हैं जिनमें कंटक या प्रवर्धों
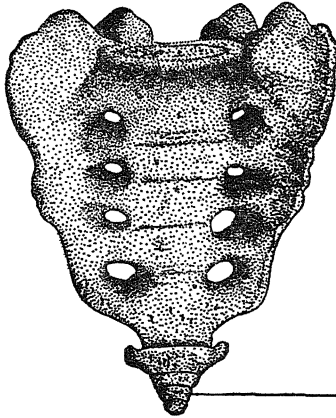
चित्र ३७—त्रिकास्थि और अनुत्रिकास्थि

का कोई चिह्न नहीं होता। त्रिकास्थि से इसका जोड़ ढीला रहता है। इस कारण

प्रसव के समय यह भाग पीछे की ओर को मुड़ जाता है जिससे श्रोणि का बहिर्गम द्वार (Outlet) चौड़ा हो जाता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे भली भाँति स्पष्ट है कि मेरुदंड ३३ वलयाकार भागों का, जिनको कशेरुक कहते हैं, एक स्तंभ है जो करोटि के नीचे से प्रारम्भ होकर नीचे की ओर श्रोणि के निचले नुकीले अन्त पर समाप्त होता है। इस स्तंभ पर अनेक दृढ़ स्नायु तथा पेशियाँ आगे-पीछे और दोनों पार्श्वों पर लगी हुई हैं जो कशेरुकों को अपने स्थान से डिगने नहीं देतीं। यदि कोई कशेरुक अपने स्थान से हट जाय तो उससे शरीर को बड़ी हानि पहुँच सकती है। कशेरुकी या मेरुनलिका में जो मेरुरज्जु रहती है उससे अनेक तन्त्रिकायें निकल कर शरीर के भिन्न-भिन्न भागों तथा अंगों का संचालन करती हैं। मेरुरज्जु कशेरुका के खिसक जाने से कुचल जायगी और तन्त्रिकायें कट जायेंगी जिससे अंग अपना कर्म करना छोड़ देंगे।
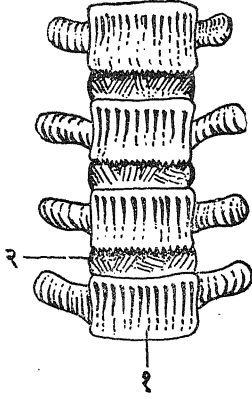
चित्र ३८—कशेरुकाओं के बीच उपास्थि

इस कशेरुक स्तम्भ में एक और विशेषता है। पार्श्व से देखने से पता चलेगा कि यह एक सीधा स्तंभ नहीं है। यह दो स्थानों पर पीछे की ओर मुड़ा हुआ है और इसकी पूर्ति करने के लिए दो ही स्थानों पर सामने की ओर को भी उभरा हुआ है। अर्थात् यह दो स्थानों पर अवतल (Concave) है और दो स्थानों पर उत्तल (Convex) है। चित्र को देखने से प्रतीत होगा कि ग्रीवा का निचला भाग सामने की ओर कुछ उत्तल है। पीछे की ओर यही स्थान अवतल है। इसके नीचे वक्षीय भाग में प्रथम से १२वें कशेरुक तक तो स्पष्ट गहरी अवतलता है। इस अवतलता के कारण वक्ष और उदर गुहाओं में स्थान विस्तृत हो जाता है। इन दोनों गुहाओं में शरीर के बड़े-बड़े महत्वशाली अंग स्थित हैं। प्रथम से पाँचवें कटि कशेरुक तक फिर उत्तलता (Convexity) दीखती है। किन्तु त्रिक और अनुत्रिक फिर एक अत्यन्त गहरी अवतलता (Concavity) बनाये हुए हैं। यही श्रोणि गुहा की पश्चिम भित्ति है। गर्भ के कारण जब गर्भाशय के आकार में वृद्धि होती है तो वह इसी गुहा में रहता है और फिर इस गुहा से भी ऊपर निकल जाता है।

मेरुदंड में जन्म के समय वक्रतायें नहीं होतीं। जब बच्चा खड़ा होने लगता है और चलने का प्रयत्न करता है तब ये वक्रतायें उत्पन्न होने लगती हैं और उसके युवा होने

तक पूर्णतया विकसित होती हैं। शरीर के संतुलन (Balance) या उसको साम्यावस्था (Equilibrium) में रखने के लिये ये वक्रतायें बहुत आवश्यक हैं।

धड़ (Trunk) : ग्रीवा के नीचे से धड़ प्रारम्भ होता है और मूलाधार (Perenium) तक फैला हुआ है। प्रथम वक्षीय कशेरुक से अनुत्रिकास्थि के अन्त तक का भाग धड़ है। यह एक बहुत बड़ी गुहा है जो ऊपर के एक छोटे भाग—**वक्ष** (Thorax) और नीचे के बड़े भाग—**उदर** (Abdomen) में विभक्त हो जाती है। उदर गुहा के निचले भाग को फिर एक पृथक् भाग मान लिया गया है और उसको **श्रोणि गुहा** (Pelivic Cavity) कहा गया है। किन्तु वास्तव में यह उदर गुहा का ही एक भाग है।

इस प्रकार धड़, वक्ष और उदर दो भागों में विभक्त हैं जिनको वक्ष (Thorax) और उदर (Abdomen) कहते हैं। उसके ऊपर की ओर दोनों पार्श्व पर एक-एक ऊर्ध्व शाखा लगी हुई हैं जिससे मनुष्य काम करता है, पकड़ता है, लिखता-पढ़ता है तथा लड़ता है। हाथों से पकड़ना, मनुष्य की विशेषता है जो अन्य जन्तुओं में, उच्च स्तनधारी जीवों में भी एप, चिम्पान्जी और गोरिल्ला के अतिरिक्त नहीं पाई जाती। इसी विशेषता के पूर्ण विकास से मनुष्य सर्वोच्च विकास की श्रेणी पर स्थित हुआ है और पार्थिव सृष्टि का मालिक कहलाया है।

वक्ष (Thorax) : वक्ष एक बन्द सन्दूक है जिसके भीतर शरीर के अत्यन्त विशिष्ट अंग हृदय (Heart) और फुप्फुस (Lungs) सुरक्षित रखे हुए हैं। इस
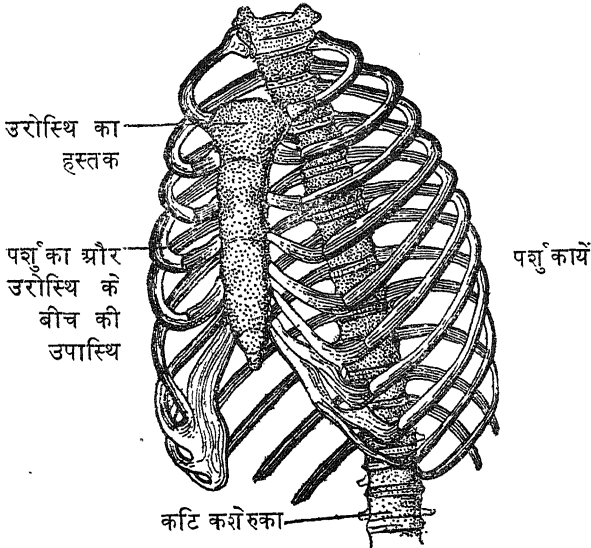
चित्र ३९—वक्ष की रचना

बक्स के चारों ओर अस्थियों और पेशियों की अभेद्य दीवालें बनी हुई हैं। इसका

ऊपर का—भीतर प्रवेश करने का द्वार भी भली भाँति बन्द है और नीचे का बाहर जाने का मार्ग भी पूर्णतया सुरक्षित है ।

इसके पीछे की ओर मेरुदंड के १ से १२ तक वक्ष कशेरुक स्थित हैं जिनका ऊपर वर्णन किया जा चुका है । इन कशेरुकाओं पर दोनों ओर एक-एक पर्शुका (Rib) लगी हुई है जो कशेरुक से प्रारम्भ होकर बाहर की ओर जाकर सामने को मुड़ती है और
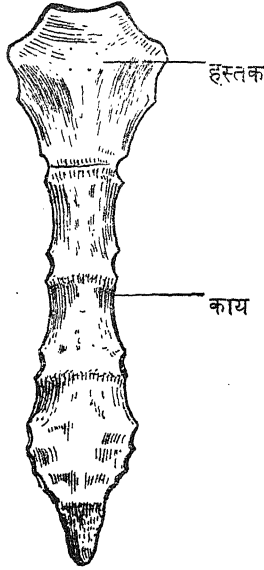
चित्र ४०—उरोस्थि

चित्र ४१—उरोस्थि का पार्श्व दृश्य

वहाँ से सामने पहुँच कर दोनों ओर की पर्शुकाओं के बीच में स्थित **उर:फलक या स्टर्नम** (Sternum) से उपास्थि द्वारा मिल जाती है । चित्र से इनकी स्थिति ठीक समझ में आ जायेगी ।

पर्शुका (Rib) : वक्ष में दोनों ओर २४ पर्शुकायें हैं । इनके बारह जोड़े हैं । पीछे मेरुदंड और आगे उर:फलक के साथ उपास्थि द्वारा मिल कर ये वक्ष को चारों ओर से घेर लेती हैं । कशेरुका के साथ पर्शुका का सिर (Head) सम्मेलन करता है । जहाँ पर्शुका सामने को मुड़ जाती है वह स्थान पर्शुका का कोण (Angle) कहलाता है । यहाँ से सामने आकर फिर पर्शुका उर:फलक या उरोस्थि के कुछ ही दूर समाप्त हो जाती है । पर्शुका और उर:फलक के बीच का अन्तर उपास्थि पूरा कर देती है । इस प्रकार यह वलय पूरा हो जाता है ।

सब पर्शुकायें एक समान नहीं होतीं । प्रथम पर्शुका सबसे छोटी है और सबसे अधिक मुड़ी हुई । इसका सामने का भाग जत्रुक (Clavicle) अस्थि से ढका रहता

है । पीछे के कशेरुक और उरोस्थि से मिल कर यह जो चक्र या वलय बनाती है उसको वक्ष का अन्तर्गम (Inlet) भी कहते हैं । इसके द्वारा ग्रासनलिका, श्वास नाल, महाशिरायें तथा तन्त्रिकायें वक्ष में आती और हृदय से निकली हुई बृहद् धमनी की शाखायें वक्ष से बाहर निकल कर ग्रीवा तथा अंगों में जाती हैं ।

पर्शुकाओं का आकार नीचे की ओर बढ़ता जाता है । आठवीं पर्शुका सबसे बड़ी होती है । नवीं और दसवीं पर्शुकायें कुछ छोटी हो जाती हैं । प्रथम से छठीं पर्शुका तक वे स्वतन्त्रतया उपास्थि द्वारा उर:फलक से सम्मेलन करती हैं । किन्तु सातवीं, आठवीं, नवीं और दसवीं पर्शुकायें सब एक ही उपास्थि द्वारा उर:फलक से मिली हुई हैं । ये दसों मुख्य पर्शुका (True Ribs) कहलाती हैं । ११ वीं पर्शुका छोटी है । वह
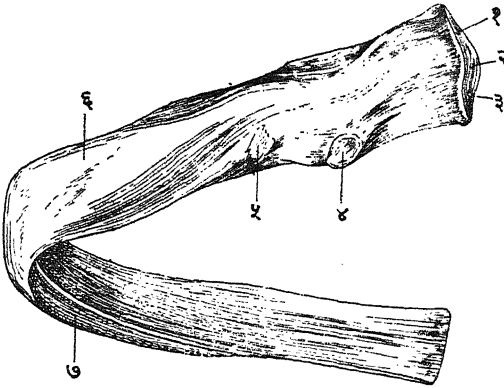
चित्र ४२—पर्शुका

[१—ऊपरी कशेरुका से मिलने का स्थान ३—नीचे के कशेरुका से मिलने का स्थान २—दोनों के बीच का उत्सेध ४, ५—कशेरुका के बाहुक प्रवर्ध से मिलने का स्थान ६, ७—कोण पर्शुका का कोण बीच में नहीं होता इस प्रकार की कोई पर्शुका नहीं होती]

उर:फलक या उपास्थि तक नहीं पहुँचती । पहले ही समाप्त हो जाती है । १२वीं उससे भी छोटी है । इनके अगले सिरे मुक्त हैं । कटि के दोनों ओर अँगुलियों से दबा कर इन सिरों को प्रतीत किया जा सकता है। ये दोनों **गौण** या **चलायमान पर्शुका** (False or Floating Ribs) कहलाती हैं ।

प्रत्येक पर्शुका चपटी और सामने को मुड़ी हुई होती है । इसकी **ऊर्ध्व धारा** पर एक परिखा होती है जिसमें धमनी और तन्त्रिका एक से दूसरे सिरे तक जाती है । इसी प्रकार नीचे का किनारा **अधोधारा** कहलाता है । इन धाराओं की विशेषता यह है कि इन पर पेशियाँ लगी हुई हैं । एक पेशी नीचे की पर्शुका की ऊर्ध्व धारा से निकल कर ऊपर की पर्शुका की अधोधारा पर लगती है । दूसरी पेशी ऊपर की पर्शुका की अधोधारा से

निकल कर नीचे की पर्शुका की ऊर्ध्व धारा पर लगती है। ये पेशियाँ पर्शुकाओं के सिरों के पास से प्रारम्भ होकर उनकी सारी लम्बाई में उनके अन्त तक उन पर लगी हुई हैं। एक पेशी बाहर त्वचा के नीचे स्थित है। दूसरी पेशी इस पेशी के भीतर अर्थात् वक्ष गुहा की ओर स्थित है। पहली बाहर स्थित बहि:पर्शुकान्तर पेशी (External Intercostalis) और भीतर की अन्त:पर्शुकान्तर पेशी (Internal Intercostalis)
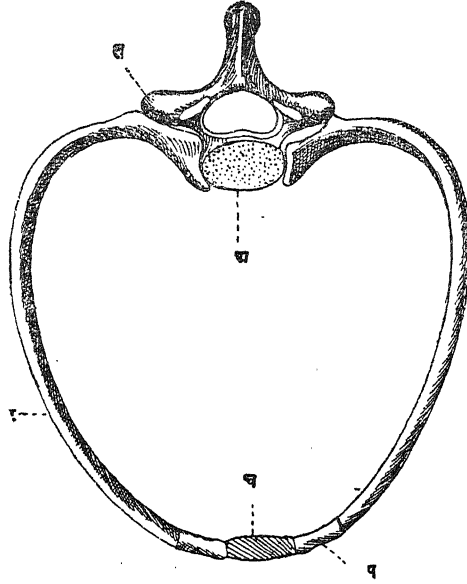
चित्र ४३ – पर्शुका का पृष्ठवंश और वक्षास्थि से सम्मेलन दिखाया गया है
[अ—कशेरुका गात्र, त—कशेरुका का अनुप्रस्थ
प्रवर्धन जिस पर पर्शुका भाग लगता है
प—कारटिलेज, च—वक्षास्थि]

कही जाती है। इन दोनों पेशियों में एक और भी अन्तर है। इनके तन्तुओं की दिशा भी एक दूसरे से विरुद्ध है। बाहर की पेशी के तन्तु ऊपर से नीचे और आगे की ओर जाकर नीचे की पर्शुका की ऊर्ध्व धारा पर लगते हैं। अन्त:पर्शुकान्तर पेशी के तन्तु नीचे से पीछे और ऊपर की ओर जाते हैं और ऊपरी पर्शुका की अधोधारा पर लगते हैं। अतएव बाहर-भीतर स्थित होने के कारण दोनों पेशियों के तन्तु X के समान आगे-पीछे स्थित हैं।

इस प्रबन्ध का महत्त्व श्वास क्रिया में प्रकट होता है। श्वास के समय बहि:पेशी के तन्तु नीचे की पर्शुका को ऊपर और बाहर को खींचते हैं। अन्त: पेशी के तन्तु ऊपर की पर्शुका को नीचे और बाहर को खींचते हैं। इससे पर्शुकायें एक दूसरे के समीप पहुँच

जाती हैं और साथ में सामने बाहर-बाहर ऊपर की ओर को उठ जाती हैं। सारा वक्ष यह गति करता है। इससे उसके भीतर की समाई बढ़ जाती है। अतएव वायु भीतर खिंच
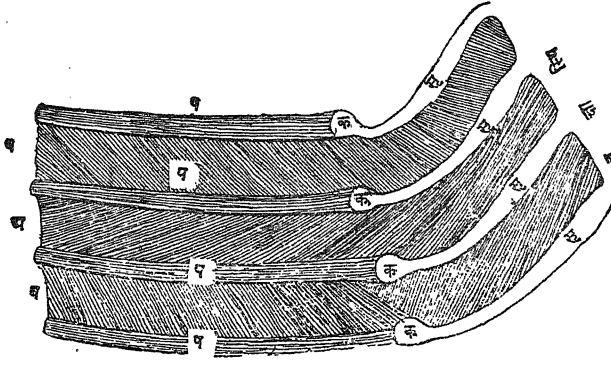
चित्र ४४—वक्ष की भित्ति की रचना

[प०—पर्शुकाओं के बीच बाहर और भीतर दो पेशी स्तर हैं ब—बहिः पर्शुकान्तर और उसके भीतर अ—अन्तः पर्शुकान्तर पेशियाँ के स्तर पर्शुका के प्रारम्भ से आगे उरोस्थि तक स्ट० उपस्थियाँ, पर्शुकाओं के अन्त से उरोस्थि तक]

कर फुप्फुसों में भर जाती है। वक्ष और उदर के बीच में जो विस्तृत मध्यच्छदा (Diaphragm) पेशी है वह भी श्वास के समय नीचे को संकोच करती है जिससे वक्ष का आयतन और भी बढ़ जाता है। यह श्वास लेने की विशेष पेशी है।

उदर (Abdomen) : मध्यच्छदा पेशी के नीचे से उदर गुहा आरम्भ होती है। मध्यच्छदा का नीचे का पृष्ठ उदर गुहा की छत है और उसका ऊर्ध्व पृष्ठ वक्ष गुहा का फर्श है। यही पेशी इन दोनों गुहा के बीच का विभाजक पट्ट है। इस विस्तृत उदर गुहा के पीछे मेरुदंड का अत्यन्त दृढ़ भाग स्थित है किन्तु और चारों ओर की दीवारें केवल मांस पेशियों की बनी हुई हैं। वक्ष की पर्शुकाओं की भाँति इस गुहा में स्थित अंगों को सुरक्षित करने के लिये यहाँ कोई अस्थि नहीं है।

किन्तु उदर के चारों ओर की भित्ति बलवान पेशियों की बनी हुई है। इससे उसमें लचक का गुण भी आ जाता है। उदर की सामने की भित्ति में दृढ़ पेशियों की तीन तहें हैं जो संयोजी ऊतक की बनी हुई आवरणी, वितानों और कंडराओं द्वारा और भी दृढ़ हो गई हैं। पीछे की भित्ति में पीठ की दृढ़ पेशियों के कई स्तर हैं। इस प्रकार इस गुहा के अंग सुरक्षित हैं और उनको विस्तार करने के लिये अधिक स्थान भी मिल सकता है।

इस गुहा के भीतर जो अंग स्थित हैं उनका वर्णन उनके प्रकरण के साथ किया जायगा।

ऊर्ध्व और अधोशाखायें

ऊर्ध्वशाखा (Upper Extremity) : धड़ के ऊपरी भाग के दोनों ओर पार्श्व में एक-एक ऊर्ध्व शाखा लगी हुई है। प्रत्येक शाखा अंसफलक (Scapula) नामक चौड़ी-चपटी अस्थि तथा पेशियों द्वारा धड़ के साथ जुड़ी हुई है। दोनों ओर की अंसफलक उरोस्थि हस्तक तथा जत्रुक अस्थियाँ मिल कर **अंसमेखला** (Pectoral Girdle) बना देती हैं। किन्तु मनुष्य में अंसफलकों के बीच में कुछ अन्तर रह जाने से यह मेखला अपूर्ण होती है। निम्न श्रेणी के बहुत से जन्तुओं में यह मेखला पूर्ण होती है।

चित्र ४५—ऊर्ध्व शाखा की अस्थियाँ

ऊर्ध्वशाखा में निम्नलिखित अस्थियाँ हैं :

जत्रुक, क्लैविकल (Clavicle), अंसफलक, स्कैप्यूला (Scapula), प्रगंडास्थि, ह्यमरस (Humerus), अन्त:प्रकोष्ठास्थि, अल्ना (Ulna), बहि:प्रकोष्ठास्थि, रेडियस (Radius), मणिबंधास्थियाँ (Carpal Bones)—ये ८ अस्थियाँ हैं। करभास्थियाँ, करशलाका (Metacarpals) ये ५ हैं। अंगुल्यास्थियाँ (Phalanges)—प्रत्येक अँगुली में तीन-तीन और अँगूठे में दो अस्थियाँ हैं। इस प्रकार कुल १४ अस्थियाँ हैं।

अतएव प्रत्येक ऊर्ध्व शाखा में ३२ अस्थियाँ हैं। दोनों ओर की मिलाकर ६४ हुईं। इनमें सबसे ऊपर सामने की ओर जत्रुक और पीछे अंसफलक हैं। इनके नीचे का ऊर्ध्व शाखा का भाग बाहु (Arm) कहलाता है। बाहु के ऊपर स्कंध (Shoulder) और नीचे कफोणी संधियाँ हैं। कफोणी (Elbow) संधि के नीचे का लम्बा भाग अग्रबाहु (Forearm) कहा जाता है। उसके नीचे **मणिबंध** (Wrist) प्रान्त है जिसको कलाई कहते हैं। इस प्रान्त में लघु आकार की ८ अस्थियाँ दो पंक्तियों में स्थित हैं। मणिबंध से आगे हाथ (Hand) है। हाथ के बीच के भाग में, जिसको करभ या हथेली
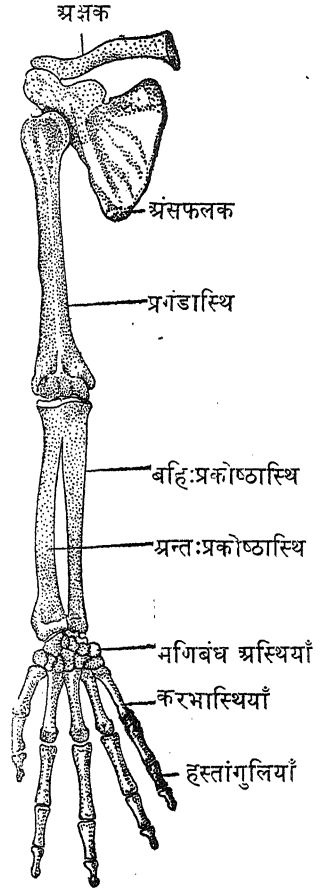
(Palm) कहते हैं, ५ करभास्थियाँ हैं। इनसे आगे अँगुलियाँ हैं। प्रत्येक अँगुली में तीन-तीन लम्बी-चपटी और बहुत कुछ करभास्थियों के आकार के समान किन्तु उनसे छोटी अस्थियाँ हैं। अन्तिम अस्थि का अगला सिरा चपटा और कुछ खुरदरा है। अँगूठे (Thumb) में केवल दो अस्थियाँ हैं।

जत्रुकास्थि : ग्रीवा के नीचे वक्ष में पर्शुकाओं से ऊपर प्रतीत की जा सकती है। यह लम्बी किन्तु *f* अक्षर के समान मुड़ी हुई अस्थि अपने भीतरी सिरे से उरःफलक के
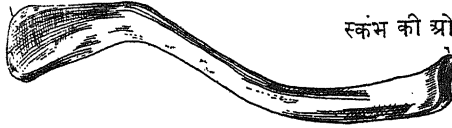
चित्र ४६—जत्रुक

ऊर्ध्व भाग, जिसको उरोस्थि हस्तक (Manubrium Sternii) कहते हैं लगी हुई है। इसी का बाहरी सिरा स्कंध में सबसे ऊपर रहता है और अंसफलक के अंसकूट (acromoin)
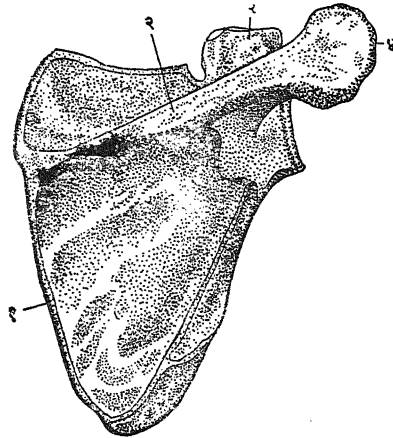
चित्र ४७—अंसफलक पश्चपृष्ठ
[१—अंसफलक की कशेरुकी धारा २—अंस कंटक
३—अंसतुंड ४—अंसकूट]

प्रवर्ध के सिरे के साथ संधि बनाता है। इस अस्थि को साधारणतया हँसुली कहते हैं। शिशुओं में इस अस्थि का भीतरी सिरा कभी-कभी अपने स्थान से हट जाता है जिसको हँसुली उतरना कहा जाता है।

अंसफलक या स्कंधास्थि : यह अस्थि पीठ के ऊपरी भाग में स्कंध के पीछे रहती है। बाहु को पीछे या ऊपर को ले जाने पर इस अस्थि को स्पर्श किया जा सकता है। यह एक चपटी, पतली एवं त्रिकोणाकार अस्थि है जिसके पीछे की ओर एक बड़े आकार का दृढ़ प्रवर्ध निकला हुआ है जिसका अन्तिम भाग अंसकूट (Acromion) कहलाता है जो जत्रुक से संधि बनाता है। स्कंध में पीछे की ओर यह सबसे ऊपर और बाहर अँगुलियों को प्रतीत होता है। इस अस्थि के मोटे ऊपरी सिरे से जो बाहर स्कंध की ओर रहता है, एक ओर छोटा किन्तु दृढ़ और मुड़ा हुआ प्रवर्ध निकला हुआ है जिसको अंसतुंड (Coracoid) कहते हैं। स्कंध सन्धि में यह भाग बाहु की अस्थि प्रगंडास्थि के ऊपर रहता है। ये दोनों प्रवर्ध दृढ़ स्नायुओं द्वारा अन्य भागों से जुड़े हुए हैं।

अंसफलक के इसी सिरे पर एक चौड़ा और कुछ गहरा पृष्ठक है जो उत्तान गुहा, ग्लिनाइड गुहा (Glenoid Cavity) या अंसउलूखल कहलाता है। बाहु की प्रगंडास्थि का गोल सिर इसी में रहता है और दोनों पर स्नायु और तान्तव सम्पुट (Fibrous) तथा **स्नेहिक सम्पुट** (Synovial Capsule) लग कर स्कंध सन्धि बना देते हैं। इस गुहा में प्रगंडास्थि का सिर घूमता रहता है।
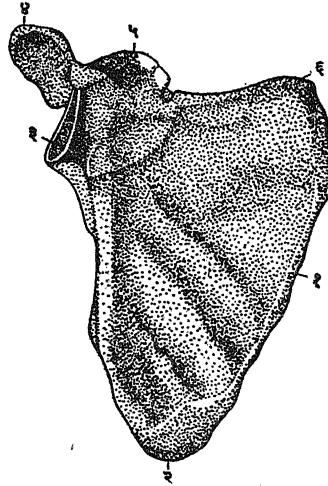
चित्र ४८—अंसफलक का पूर्व पृष्ठ

[१—कशेरुकी धारा २—निम्न कोण ३—उत्तान या ग्लिनाइड गुहा ४—अंसकूट ५—अंसतुंड ६—अन्तः या कशेरुकी कोण]

अंसफलक के तिकोने गात्र के दोनों पृष्ठों पर कितनी ही बलवान पेशियाँ लगी हुई हैं। ये ही उसको धड़ से संबंधित करती हैं।

प्रगंडिका, ह्यमरस, प्रगंडास्थि : यह बाहु की लम्बी दृढ़ अस्थि है। इसमें ऊर्ध्व और अधो प्रान्त हैं और दोनों के बीच में लम्बा गात्र या काय है। **ऊर्ध्व प्रान्त** एक गोल सिर है जो अंसफलक की उत्तान गुहा के साथ स्कंध सन्धि बनाता है। किन्तु गुहा की अपेक्षा सिर कहीं बड़ा है जिससे सिर का गुहा में से निकल आना सहज होता है। इसको जोड़ का हट जाना या संधिभ्रंश (Dislocation) कहा जाता है।
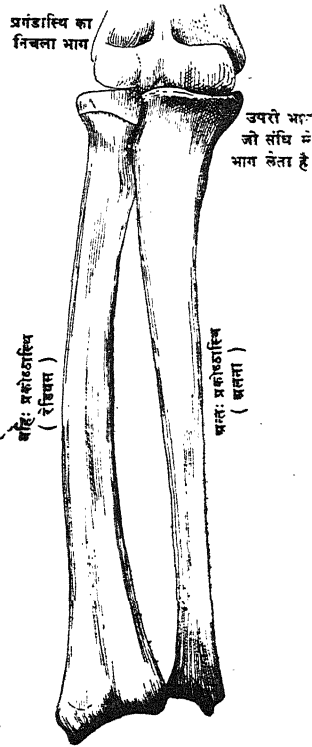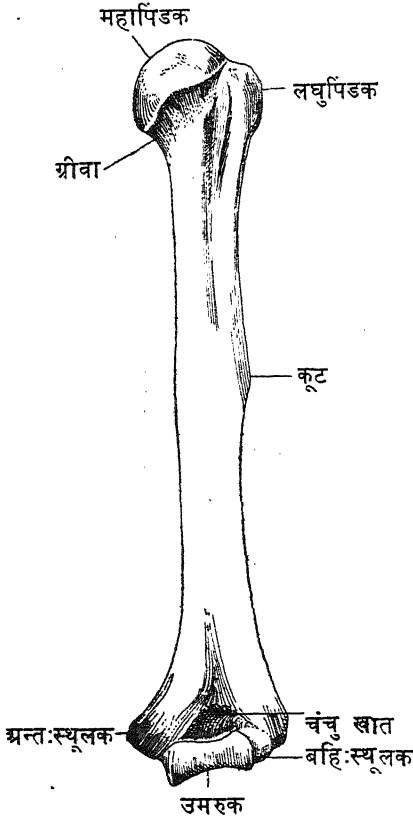
चित्र ४९—बाहु की प्रगंडास्थि चित्र ५०—अग्रबाहु की अस्थियाँ

गुहा के किनारों पर उपास्थि का एक पट्ट लग जाने से गुहा गहरी हो जाती है और संधि के चारों ओर लगी हुई पेशियाँ, अंसफलक के प्रवर्ध तथा स्नायु प्रगंडास्थि के सिर को हटने से रोकते हैं। सिर पर कई पेशियों के लगने के चिह्न हैं।

अस्थि का गात्र लम्बा वर्त्तुलाकार है जिस पर कितने ही चिह्न, परिखायें तथा उभार हैं। उन पर पेशियाँ और कंडरायें (Tendon) लगती हैं और रुधिर वाहिकायें उन पर से जाती हैं।

अधोप्रान्त : चौड़ा और सामने को कुछ मुड़ा हुआ है। इसके दोनों ओर एक-एक उभरा हुआ खुरदरा पिंडक है जिस पर अग्र बाहु तथा हाथ में जाने वाली पेशियाँ लगी हैं। प्रान्त का बीच का भाग सामने की ओर को गोल हो गया है। इसके भी दो भाग हो गये हैं। भीतर का भाग अन्त:प्रकोष्ठिका के ऊर्ध्व प्रान्त से निकले हुए औलिक्रेनन प्रवर्धन की गुहा या खाँच में रहता है और उसके साथ कफोणी या कोहनी (Elbow) संधि बनाता है। दूसरा बाहर का गोल भाग बहि:प्रकोष्ठास्थि के सिर पर के गड्ढे में घूमता रहता है किन्तु सन्धि नहीं बनाता। इस प्रान्त के पश्चिम पृष्ठ पर एक बड़ा गड्ढा है जिसको कूर्पर या औलिक्रेनन (Olecranon) खात कहते हैं। कूर्पर प्रवर्ध का अगला नुकीला भाग बाहु के सीधा करने पर इस खात (Fossa) में रहता है।

अग्रबाहु या प्रकोष्ठ (Forearm): में दो अस्थियाँ हैं, एक भीतर की ओर (शरीर की मध्य रेखा की ओर) और दूसरी बाहर स्थित है। इनको अन्त: और बहि: प्रकोष्ठिका कहते हैं।

अन्त:प्रकोष्ठिका : यह भी एक लम्बी अस्थि है जिसमें ऊर्ध्व और अधो प्रान्त हैं और उनके बीच में लम्बा गात्र है। ऊर्ध्व प्रान्त मोटा दृढ़ और क्रमहीन है। उससे दो प्रवर्ध निकले हुए हैं। एक बड़ा प्रवर्ध सीधा ऊपर को जाकर सामने की ओर पक्षी की चोंच की भाँति मुड़ गया है और एक गोल सिरे में अन्त हो गया है। यही कूर्पर या ओलिक्रेनन प्रवर्ध है जिसकी गहरी अवतल वक्रता में प्रगंडास्थि के अधोप्रान्त का सन्धायक भाग रहता है और कफोणी संधि बनाता है।

जहाँ से यह प्रवर्ध निकलता है उसके समीप अस्थि के बाहर की ओर से एक छोटा प्रवर्ध निकला हुआ है जिस पर बहि:प्रकोष्ठास्थि के सिर का गोल किनारा लगा रहता है।

अस्थि का गात्र लम्बा, कुछ भाग में त्रिकोणाकार और खुरदरा है जिस पर बहुत सी पेशियाँ लगी रहती हैं। जो किनारा या धारा बहि:प्रकोष्ठास्थि की समान धारा की ओर रहती है उस पर एक दृढ़ अस्थ्यन्तर कला (Interosseous Membrane) लगी हुई है। यह बहि:प्रकोष्ठास्थि तक विस्तृत होकर पूर्व की पेशियों को पश्चिम ओर की पेशियों से पृथक् कर देती है।

अधोप्रान्त : अस्थि नीचे को पतली होती चली जाती है और अधोप्रान्त में पहुँच कर फिर कुछ मोटी हो जाती है। इस प्रान्त का एक भाग गोल, चिकना सिर (Head) कहलाता है और दूसरा भाग एक नुकीले कंटक के रूप में प्रवर्धित हो जाता है जिसको **शर प्रवर्ध** (Styloid Process) कहते हैं।

बहिःप्रकोष्ठिका : हथेली को सामने की ओर फैलाने से यह अस्थि अन्तःप्रकोष्ठिका के बाहर की ओर स्थित रहती है। किन्तु यदि हथेली को पीछे की ओर घुमा दें तो यह अस्थि अन्तःप्रकोष्ठिका के सामने या ऊपर आ जाती है और इसका निचला सिरा भीतर की ओर आ जाता है। अन्तःप्रकोष्ठिका का अधोप्रान्त बाहर स्थित हो जाता है। यह क्रिया अवतानन (Pronation) कहलाती है। इसकी विरुद्ध क्रिया उत्तानन (Supination) कही जाती है जिसमें हथेली सामने या ऊपर को आ जाती है।

चित्र ५१—हथेली को नीचे या पीछे की ओर को घुमाने पर बहिःप्रकोष्ठास्थि भीतर की ओर और अन्तःप्रकोष्ठास्थि बाहर की ओर मुड़ जाती है।
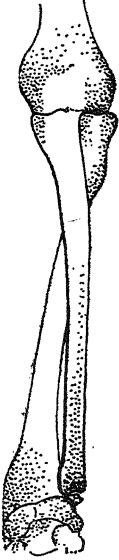
इस लम्बी अस्थि का ऊपर का चपटा किन्तु वृत्ताकार भाग सिर कहलाता है। उसके नीचे ग्रीवा द्वारा यह गात्र से जुड़ा हुआ है जिसमें तीन पृष्ठ हैं जो पेशियों से आच्छादित हैं। इसका चौड़ा त्रिभुज के आकार का अधोप्रान्त नीचे की ओर २ करमास्थियों से सम्मेलन करता है। इसके पूर्वपृष्ठ पर कई रेखायें हैं जिनमें होकर पेशियों की कंडरायें हाथ में जाती हैं।

मणिबंधास्थि : **मणिबंध** (Carpus) वास्तव में हाथ और प्रकोष्ठ के बीच का भाग है। इस भाग को **कलाई** (Wrist) भी कहते हैं। इसमें निम्नलिखित ८ अस्थियाँ दो पंक्तियों में स्थित हैं :

प्रथम पंक्ति

१. नावस्थि (Navicular)
२. अर्धचन्द्राभ (Semilunar)
३. त्रिकोणिक (Triquetral)
४. वर्तुलिका (Pisiform)

द्वितीय पंक्ति

१. वृहत् बहुकोणिका (Greater Muliangular)
२. लघु बहुकोणिका (Lower Multangular)
३. पृथुका (Capitate)
४. फणधर (Hammate)

प्रथम पंक्ति की प्रथम दो अस्थियाँ अर्थात् नावस्थि और अर्धचन्द्राभ बहिःप्रकोष्ठास्थि के अधोप्रान्त के अधोपृष्ठ के सम्पर्क में रहती हैं और हाथ घुमाने के समय वहीं घूमती रहती हैं। तीसरी और चौथी अस्थियों का ऊपर की ओर किसी अस्थि से सम्पर्क नहीं होता। उन पर पेशियों की कंडरायें लगती हैं या वे कला से ढकी रहती हैं।

दूसरी पंक्ति की अस्थियाँ ऊपर की ओर प्रथम पंक्ति से सम्पर्क करती हैं और नीचे की ओर करभास्थियों से। इस प्रकार इन चारों में से प्रत्येक अस्थि एक से अधिक अस्थियों से सम्पर्क करती है।

दोनों पंक्तियों की अस्थियों में आपस में तथा ऊपर की ओर बहिःप्रकोष्ठास्थि से और नीचे की ओर करभास्थियों के साथ संधियाँ बन गई हैं। इस कारण यहाँ संधियों की संख्या बहुत है। अतएव स्नायु भी अनेक हैं यद्यपि वे छोटे-छोटे हैं। इसी कारण इस प्रान्त की अस्थियों में चारों ओर को गति होती है। कलाई से हाथ को सामने, पीछे, इधर-उधर भली भाँति घुमाया जा सकता है।

करभास्थि : हथेली या करभ प्रान्त की पाँचों अस्थियों में सामने की ओर चिकना गोल सिर बीच में उनका गात्र या काय और पीछे मूल या आधार (Base) है
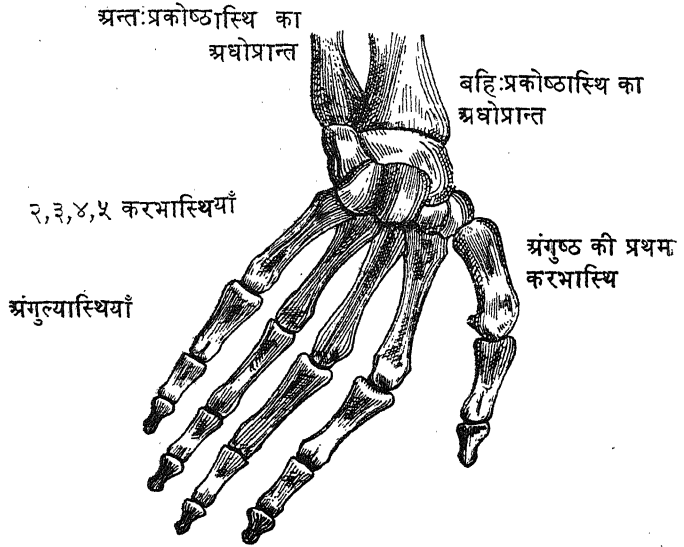
चित्र ५२—हाथ की अस्थियाँ

जिस पर अन्य अस्थियों के साथ मिलने के चिह्न या स्थालक बने रहते हैं। अंगुष्ठ की करभास्थि छोटी और मोटी होती है। पाँचवीं करभास्थि पतली और अन्य की अपेक्षा छोटी है।

अंगुल्यास्थि भी इसी सिद्धान्त पर बनी हैं—जैसा कि चित्र से स्पष्ट है। प्रत्येक अंगुलि में तीन अस्थियाँ हैं। अंगूठे में दो हैं। अंतिम अस्थि का अगला सिरा कुछ गोल

और खुरदरा है । शेष बीच की अस्थियों के दोनों सिरे चिकने और स्थालक युक्त हैं। अन्य अस्थियों से सम्पर्क के कारण वे चिकने हो गये हैं ।

करभास्थि की भाँति हाथ की अन्य सब अस्थियों के बीच में भी संधि हैं जिनके द्वारा उनमें गति होती हैं। यह प्रकृति के कौशल का एक अद्‌भुत् परिचय है कि उसने इस प्रान्त में छोटी-छोटी अस्थियाँ बनाकर और उन सब को अनेक संधियों द्वारा जोड़ कर मनुष्य को छोटी से छोटी वस्तु पकड़ने और उसको इधर-उधर चारों ओर घुमाने की सामर्थ्य दी है जो उसके विकास क्रम के सर्वोच्च पद पर पहुँचने का एक विशेष साधन बनी है। अंगुष्ठ की स्थिति सामने होने के कारण वह प्रत्येक अंगुलि से सम्पर्क स्थापित कर सकता है जिससे मुट्ठी बन्द हो सकती है । पशुओं में यह क्रिया संभव नहीं होती ।

निम्न या अधोशाखा

ऊर्ध्वशाखा के सिद्धान्त पर ही निम्नशाखा का निर्माण हुआ है । अंसमेखला की भाँति यहाँ श्रोणि मेखला है जो धड़ के निम्न भाग को घेरे हुए है । यह मेखला ७ अस्थियों से मिलकर बनी है। २ श्रोणिफलक (Ilium), २ आसनास्थि या इस्कियम (Ischium), २ जघनास्थि (Pubis) और १ त्रिकास्थि (Sacrum) । इसी को साधारणतया श्रोणि (Pelvis) कहा जाता है ।

मनुष्य में श्रोणि फलक, आसनास्थि और जघनास्थि के जुड़ जाने से एक अस्थि बन गई है जिसको नितंबास्थि (Hip Bone) कहते हैं। कितने ही पशुओं में ये अस्थियाँ पृथक् होती हैं।

इन तीनों अस्थियों को प्रत्येक ओर की निम्न शाखा का भाग समझा जाता है और उसकी अन्य अस्थियों के साथ ही उनका वर्णन किया जाता है ।

श्रोणि : चित्र को देखने से श्रोणि की रचना सहज में समझ में आ जायगी। दोनों ओर की नितम्बास्थियों, जो स्वयं तीन अस्थियों के मिलने से बनी हैं और पीछे की ओर उन दोनों के बीच में त्रिकास्थि के जुड़ने से श्रोणि बन जाती है । सामने की ओर नितम्बास्थि का जो भाग जघनास्थि कहलाता है वह दूसरी ओर की अस्थि के समान भाग के साथ जुड़ा है। जीवित अवस्था में इस स्थान पर दोनों भागों के बीच उपास्थि का एक पट्ट स्थित होता है । यह स्थान जघन **तन्तूपास्थि संधि** का (Symphys is Pubis) कहलाती है ।

पुरुष और स्त्री की श्रोणियों का अन्तर चित्रों से स्पष्ट है । स्त्रियों की श्रोणियों में उनके अन्तर्गम और बहिर्गम (Outlet Inlet adn) द्वार अधिक विस्तृत होते
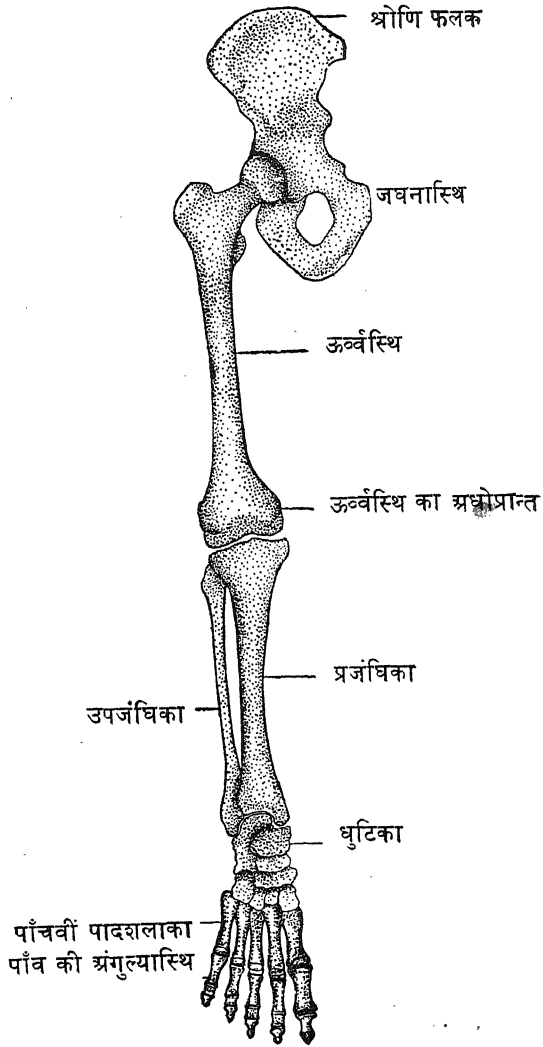
चित्र ५३—अधोशाखा की अस्थियाँ

हैं। वे अधिक चौड़ी होती हैं और उनकी गहराई कम होती है। जघन चाप (Pubic Arch) भी चौड़ी होती है।
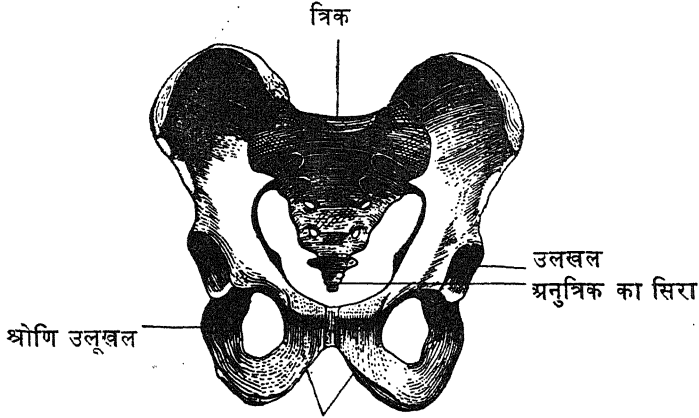
चित्र ५४—पुरुष की श्रोणि

नितम्बास्थि (Hip Bone) : तीनों अस्थि जिनसे यह अस्थि बनी है चित्र में
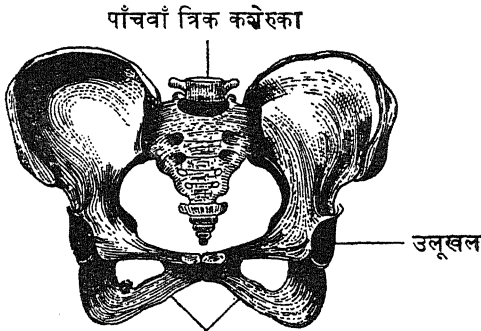
चित्र ५५—स्त्री की श्रोणि

दिखाई दे रही हैं। ये तीनों जहाँ आपस में मिलती हैं वहाँ बाहर की ओर एक गहरा गड्ढा बन जाता है जो श्रोणि उलूखल या एसीटेब्यूलम (Acetabulum) कहलाता है। इसमें ऊर्वस्थि का गोल सिर रहता है। इसी में तीनों अस्थियों के मिलने के

चिह्न लगे पाये जाते हैं । शैशवावस्था में तीनों अस्थि पृथक् रहती हैं। आयु अधिक होने पर जुड़ती हैं।
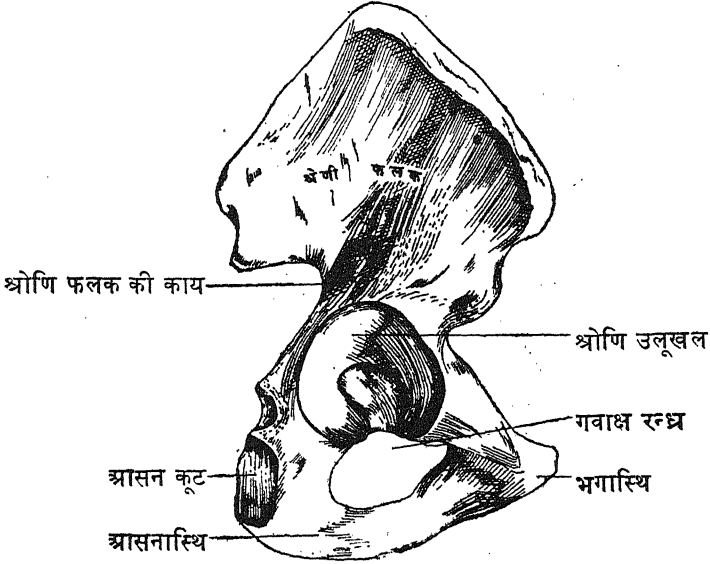
चित्र ५६—नितंबास्थि

अतएव अधोशाखा में निम्नलिखित अस्थियाँ होती हैं :

(१) नितम्बास्थि (Hip Bone) जो श्रोणि फलक (Ilium), आसनास्थि (Ischium) और जघनास्थि (Pubis) के मिलने से बनती है।

(२) ऊर्वस्थि (Femur)

(३) जान्वस्थि या पटेला (Patella)

(४) प्रजंघिका (Tibia)

(५) उपजंघिका (Fibula)

(६) गुल्फकास्थियाँ (Tarsal Bone)

(७) पादशलाका या प्रपदास्थियाँ (Metatarsals)

(८) पादांगुल्यास्थियाँ (Phalanges)

श्रोणि में सबसे बड़ा श्रोणिफलक का भाग रहता है। श्रोणि में दोनों ओर का ऊपर का चौड़ा भाग इन्हीं अस्थियों का बना है। कमर में दोनों ओर हाथ रख कर दाबने से इसी अस्थि का ऊपरी किनारा प्रतीत होता है। नितम्ब का बहुत-सा भाग यही अस्थि घेरे रहती है। उलूखल (Acetabulum) से ऊपर का सारा भाग श्रोणिफलक है। इसके नीचे और बाहर का भाग आसनास्थि है। इसमें दो लम्बे भाग हैं। एक

ऊपर की ओर उलूखल की तरफ जाकर उससे मिल जाता है। दूसरा सामने की ओर जाकर जघनास्थि के समान भाग से मिलता है। इन दोनों के संगम स्थान पर एक मोटा पिंडक है जो आसनपिंडक (Ischial Tuberosity) कहलाता है। बैठने के समय यही भाग नीचे रहता है और शरीर-भार को सँभालता है। जघनास्थि (Pubis) तीसरा भाग है जो दूसरे ओर की अस्थि के समान भाग के मिल कर जघनसन्धानिका बनाता है। यहाँ से भी एक लम्बा भाग—प्रशाखा (Ramus) ऊपर उलूखल को जाता है और दूसरा बाहर की ओर जाकर आसनास्थि के समान भाग से मिल कर एक चाप बना देता है। यह चाप **श्रोणि रन्ध्र** (Obturator Foramen) की अधोधारा बनाती है। इस रन्ध्र के ऊपर जघनास्थि का उलूखल को जाने वाला भाग रहता है। शरीर में इस रन्ध्र पर एक दृढ़ कला लगी रहती है जिसमें होकर कुछ विशिष्ट रक्त वाहिकायें तथा तन्त्रिका श्रोणि से निकल कर उरु प्रान्त में आती हैं।

ऊर्वस्थि (Femur) : यह शरीर की सबसे लम्बी और दृढ़ अस्थि है। खड़े होने पर शरीर का सारा भार इसी अस्थि पर पड़ता है। चित्र देखने से इसका गोल सिर ग्रीवा द्वारा गात्र के साथ एक वृहत् कोण (Obtuse Angle) पर जुड़ा हुआ दिखाई देता है। ग्रीवा के गात्र से जुड़ने के बाहर अस्थि का एक चतुष्कोणाकार चपटा भाग ऊपर को उठा हुआ है। यह बृहद शिखरक (Greater Trochanter) कहलाता है। इसके बाहरी पृष्ठ पर नितम्ब की कई बलवान पेशियाँ लगी हुई हैं। अस्थि का लम्बा गात्र सामने की ओर चिकना किन्तु पीछे की ओर खुरदरा है और उस पर एक लम्बी तीरणिका नीचे तक चली गई है जो पेशियों के समूह को पृथक् करती है। अस्थि को चारों ओर से अत्यन्त बलवान पेशियाँ घेरे हुए हैं।

इस अस्थि का अधोप्रान्त अत्यन्त दृढ़ और मोटा है। दोनों ओर एक-एक मोटा स्थूलक है जो बहिःस्थूलक और अन्तःस्थूलक (Medial and Lateral Condyle) कहलाते हैं। इनसे दृढ़ बलवान पेशी निकलती है जो टाँग तथा पाँव में चली जाती है। दोनों स्थूलकों के बीच में सामने एक चिकना स्थान है जहाँ जान्वस्थि सम्पर्क करती है।

जान्वस्थि (Patella) : यह छोटी चतुष्कोणाकार अस्थि एक प्रकार से कंकाल
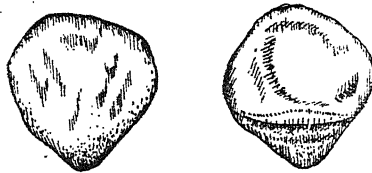
चित्र ५७—जान्वस्थि के पूर्व और पाश्चपृष्ठ

के बाहर है। इसकी किसी अस्थि के साथ संधि नहीं बनती। यह ऊर्व्वस्थि के अधो-

प्रान्त के सामने स्थित है और घुटने को मोड़ने के समय ऊपर-नीचे सरकती है। बहुधा टूट जाने पर उसको निकाल दिया जाता है। यह अस्थि ऊरु के सामने की बलवान पेशियों की कण्डरा से ढकी रहती है जो नीचे की ओर जाकर जंघिका के ऊर्ध्व भागों के सामने के पिंडक पर लगती है।

प्रजंघिका : यह अस्थि ऊर्ध्वशाखा की अन्त:प्रकोष्ठिका के समान है। जंघा (Leg) प्रान्त में इस अस्थि का अधिक भाग उपजंघिका के सामने रहता है। इसके ऊर्ध्व प्रान्त पर दो बड़े-बड़े गोल पृष्ठक हैं जो ऊर्व्वस्थि के स्थूलकों से सम्पर्क करते हैं। थोड़े नीचे ही सामने की मध्यरेखा पर स्थित वह पिंडक है जिस पर ऊरु की सामने की बलवान पेशियों की कंडरा लगती हैं।
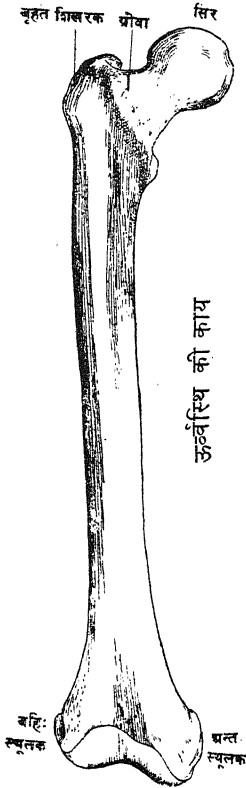
चित्र ५८—ऊर्व्वस्थि
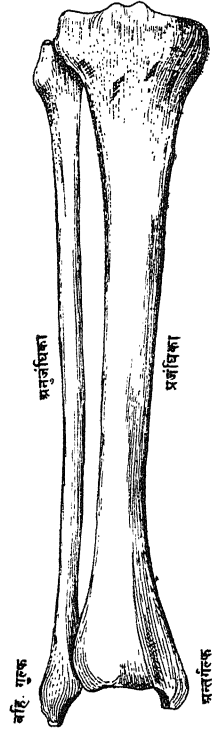
चित्र ५९—जंघा की अस्थियाँ

इसके अधोप्रान्त के निम्न पृष्ठ पर चौड़ा चौकोर पृष्ठक है जिसमें गुल्फ की एक बड़ी अस्थि घुटिकास्थि या टैलस (Talus) का ऊर्ध्व पृष्ठ लगा रहता है।

इस भाग के भीतर की ओर से एक चपटा प्रवर्ध नीचे को निकला हुआ है जो अभिमध्य गुल्फि (Internal Malleolus) कहलाता है। पाँव के ऊपर गुल्फ प्रान्त के भीतर की ओर जिसको साधारणतया टखना कहते हैं, इसको प्रतीत किया जा सकता है। इसी प्रकार का पार्श्व गुल्फि (Internal Malleolus) टखने के बाहर की ओर है जो उपजंघिका का नीचे का प्रवर्धित भाग है। दोनों ओर के गुल्फ एक प्रकार का उलूखल बना देते हैं जिसमें घुटिका अस्थि का उत्तल ऊर्ध्व भाग रहता है। इसी कारण पाँव केवल ऊपर नीचे को गति कर सकता है, कलाई की भाँति इधर-उधर नहीं घूम सकता।

अनुजंघिका : प्रजंघिका के बाहर और पीछे की ओर यह अस्थि स्थित है। यह
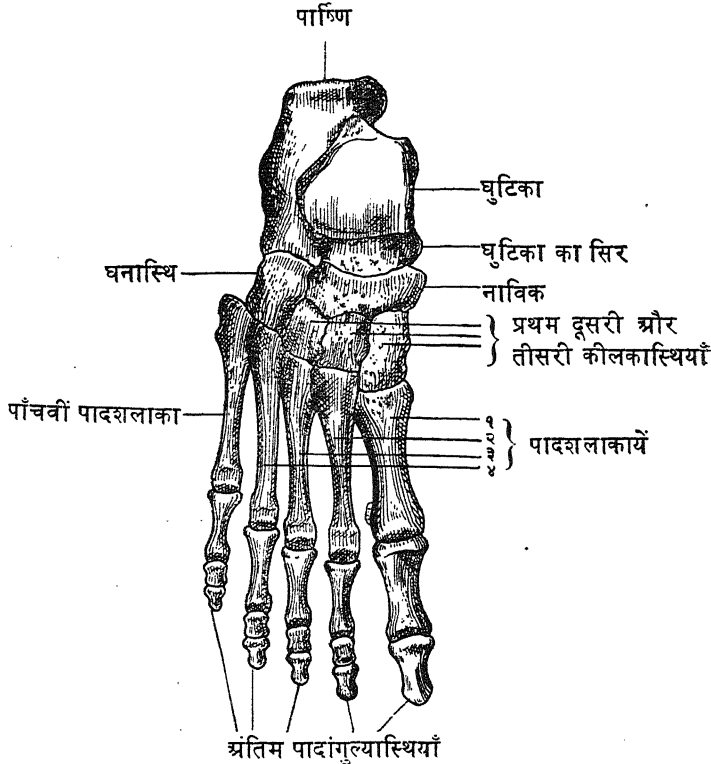
चित्र ६०—पाँव की अस्थियाँ

लम्बी किन्तु पतली चतुष्कोणाकार अस्थि है जिसके ऊर्ध्व और अधोप्रान्त कुछ चौड़े और विस्तृत हैं। इसके चारों पृष्ठों पर पेशी लगी हुई है। इसको अनुजंघिका भी कहते हैं।

गुल्फिकास्थियाँ : इस क्षेत्र में सात अस्थियाँ हैं। इनको इस स्थान के लिए उपयुक्त बनाया गया है। इनको सारे शरीर का बोझ उठाना पड़ता है।

मणिबंध की भाँति यहाँ भी आगे की पंक्ति में ४ अस्थियाँ हैं जो अपने अगले या पूर्वपृष्ठ (Anterior Surface) पर पादशलाकाओं से मिली रहती हैं। ये अस्थियाँ नाविका (Navicular) और ३ कीलकास्थियाँ (Cuneiforms) कहलाती हैं और पाँव की चौड़ाई की ओर स्थित हैं। इनके पीछे की तीन अस्थियाँ बड़ी दृढ़ और क्रमहीन आकार की हैं तथा इनकी स्थिति में भी कोई क्रम नहीं है। सबसे बड़ी पार्ष्णि (Calcaneus) अस्थि नीचे और पीछे की ओर स्थित है। यही ऐड़ी बनाती है। इसके सामने के भाग के ऊपर घुटिका या टैलस (Talus) स्थित है। तीसरी अस्थि घनास्थि (Cuboid) इसके आगे और भीतर की ओर है।

प्रपदास्थि या पादशलाका (Metatarsals) : हथेली की भाँति यहाँ भी ५ पादशलाकायें (Metatarsal) हैं जो पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी और पाँचवीं पादशलाकायें कहलाती हैं। इनकी रचना तथा आकार भी करभशलाकाओं के समान है। पादतल इन्हीं अस्थियों से बनता है।

पादांगुलि : हाथ की भाँति प्रत्येक अँगुलि में तीन और अंगूठे में दो अस्थियाँ हैं।
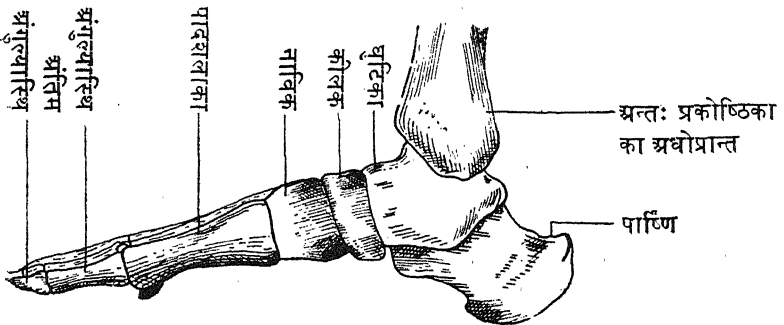
चित्र ६१—पाँव की अस्थियाँ

पाँव की रचना : पाँव गुल्फास्थियों, शलाकाओं और अंगुल्यास्थियों का बना हुआ
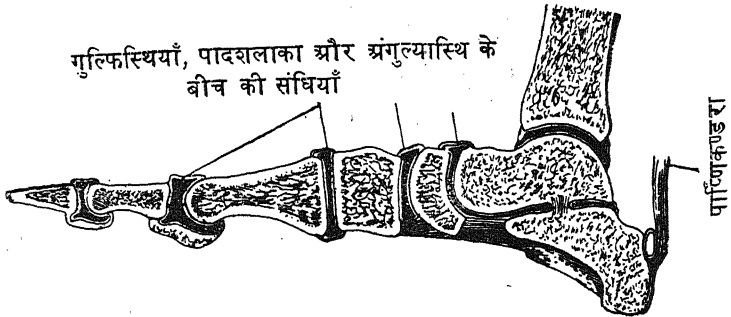
चित्र ६२—पाँव की संधियाँ

है जो आपस में सन्धियों और दृढ़ स्नायुओं द्वारा जुड़ी हुई हैं। ध्यान से देखने से मालूम

होगा कि ये अस्थियाँ इस प्रकार जुड़ी हैं कि एक आगे से पीछे की ओर को इनसे चाप बन जाती है। इसी प्रकार पाँव की चौड़ाई की दिशा में भी चाप बनी हुई है। ये **पदचाप** (Plantar Arch) कहलाती हैं। इनसे पाँव का बीच का भाग चलते समय कुछ ऊपर उठा रहता है। एड़ी और पंजा भूमि पर टिकते हैं। इस प्रकार की रचना अत्यन्त दृढ़ होती है। इससे चलने दौड़ने आदि में बड़ा सुभीता होता है।

अस्थिभवन (Ossification) : जन्म के समय अस्थि के स्थान में केवल उपास्थि होती है। इस उपास्थि में निश्चित समय पर **अस्थिभवन केन्द्र** (Ossification Centre) बनते हैं। उनसे अस्थि बनना प्रारम्भ होता है और कुछ वर्षों में पूर्ण अस्थि-भवन हो पाता है। लम्बी अस्थियाँ सिरों की ओर से बढ़ती हैं। यह वर्धक प्रान्त
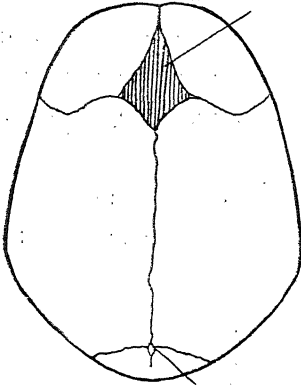
चित्र ६३—शिशु कपाल
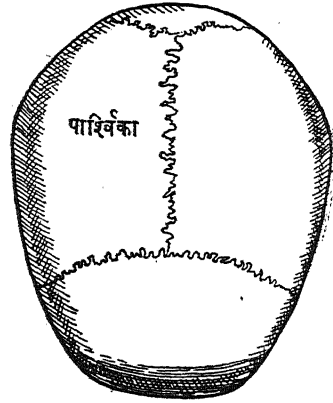
चित्र ६४—युवा का कपाल जिसमें अस्थियाँ जुड़ चुकी हैं

या **ऐपीफ़िसिस** (Epiphysis) कहलाता है और बीच का लम्बा भाग डायाफीसिस (Diaphysis)। ये कई वर्षों के पश्चात् आपस में जुड़ते हैं। जुड़ने का समय निश्चित होता है। इससे व्यक्ति की आयु मालूम करने में बड़ी सहायता मिलती है।

कपाल की चपटी अस्थियाँ कला (membrane) से बनती हैं। पहले अस्थियों के स्थान में कला रहती हैं। इनमें अस्थिभवन केन्द्र बनते हैं। उनसे कला में अस्थि बन जाती है।

अस्थि की रासायनिक रचना : अस्थि में कारबनिक (Organic) और अकार्बनिक दोनों प्रकार के पदार्थ होते हैं। अकार्बनिक (Inorganic) में कैलसियम फास्फेट विशेषकर और कुछ कैलसियम कार्बोनेट भी होता है। यदि एक तुरन्त के मरे हुए पशु की पर्शुका को हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के घोल में कई दिन तक रखा जाय तो उससे

सारा कैलसियम घुलकर बाहर आ जायगा और केवल कार्बनिक भाग रह जायगा। पर्शुका रबड़ के टुकड़े की भाँति नरम हो जायगी जिसकी गाँठ बाँधी जा सकती है।

अतएव अस्थियों के विकास के लिए तथा उनके स्वास्थ्य के लिए कैलसियम आवश्यक है। यह कैलसियम हमको भोज्य पदार्थों, विशेषकर दूध से मिलता है। अतएव विशेषतया शिशु और बालकों के लिए दूध अत्यन्त आवश्यक है।

सन्धियाँ या जोड़ (Joints)

गत पृष्ठों में जिन अस्थियों का वर्णन किया गया है वे आपस में संधियों द्वारा जुड़ी हुई हैं। उनकी उपयोगिता ही सन्धियों पर निर्भर करती है। अस्थियाँ संधियों पर मुड़ती हैं जिससे एक अंग दूसरे के समीप पहुँचता है या दूर हो जाता है। जब हम किसी वस्तु को पकड़ कर उठाते हैं तो स्कंध, कफोणी, मणिबंध तथा हाथ की करभास्थियों तथा अँगुल्यास्थियों की सब संधियाँ काम करती हैं। ऊर्ध्व शाखा की सब अस्थियाँ इन जोड़ों पर मुड़ कर वस्तु को पेशियों की सहायता से पकड़ने में समर्थ होती हैं। केवल क़लम को उठाने और उससे हस्ताक्षर करने में ही ऊर्ध्वशाखा की संधियों की क्रिय होती है। ये शरीर के अत्यन्त आवश्यक अंग हैं।

संधि की रचना : दो अस्थियों के मिलने के स्थान को संधि कहते हैं। शरीर में बड़े कौशल से इन संधियों को बनाया गया है। बाहर एक **तान्तव सम्पुट** (Fibrous
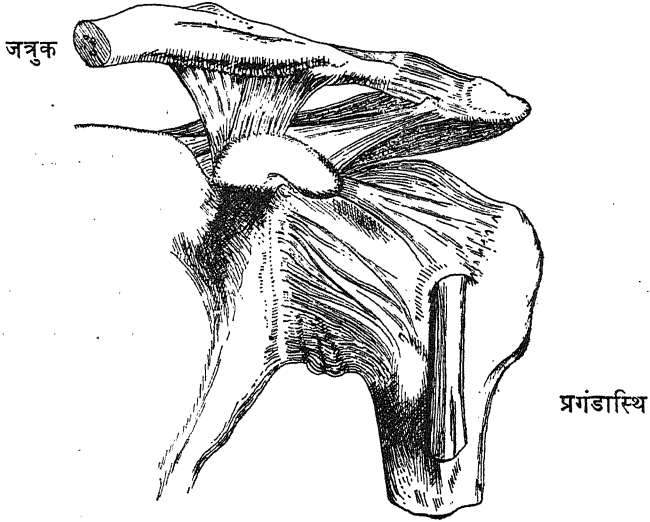
चित्र ६५—स्कंध सन्धि

Capsule) होता है जो एक थैली की भाँति दोनों अस्थियों के सिरों पर चढ़ा रहता है। इसके भीतर एक **स्नैहिक सम्पुट** (Synovial Capsule) होता है जो तान्तव सम्पुट के ही

सन्धियों के दो मुख्य विभाग हैं।

कुछ संधियों में तनिक भी गति नहीं होती जैसे कपाल की अस्थियों के बीच। वे **अचल संधि** (Synarthrosis) कहलाती हैं। जिनमें चारों प्रकार को पूर्णगति होती है वे **अवाध चल संधि** (Diarthrosis) कही जाती हैं। अवाध चल संधियाँ निम्न चार प्रकार की होती हैं :—
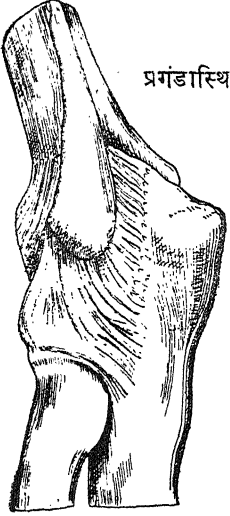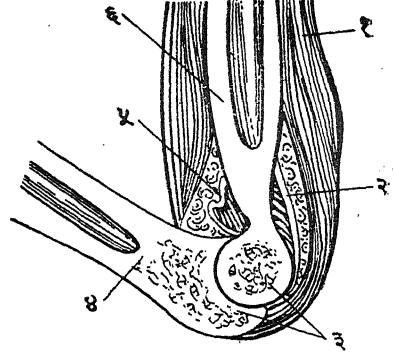
चित्र ६७—कफोणी संधि
प्रगंडास्थि के निचले सिरे और अन्तःप्रकोष्टिका के ऊपरी सिरे पर तान्तव ऊतक चढ़ा हुआ है जिसके भीतर स्नैहिक सम्पुट है

चित्र ६८—कफ़ोणी संधि का काट
[१—त्रिशिरस्का पेशी २, ५—स्नैहिक सम्पुट ३—प्रगंडास्थि और अन्तः-प्रकोष्ठास्थि का चंचु प्रवर्ध ४—अन्तः-प्रकोष्ठास्थि]

(१) **उलूखल सन्धि** (Ball and Socket) : एक अस्थि में गढ़ा बन जाता है और दूसरी में एक गोल उभरा हुआ भाग जो प्रायः मुंड कहलाता है। गढ़े में मुंड बैठ-कर भली भाँति घूमता है। स्कंध और नितम्ब की सन्धियाँ इसी प्रकार की हैं।

(२) **विवर्त्तिका सन्धि** (Pivot Joints) : जहाँ एक अस्थि का प्रवर्ध दूसरी अस्थि की कीली पर घूमता है।

(३) **संसर्पी संधि** (Gliding Joints) : जहाँ एक अस्थि दूसरी पर सरकने की क्रिया करती है। मणिबंध और गुल्फ संधियों में यह क्रिया होती है।

(४) **कोर सन्धि** (Hinge Joint) : जहाँ एक अस्थि के किसी भाग पर दूसरी अस्थि घूमती है, जैसे कफोणी या कुहनी, जानु, गुल्फ या अंगुल्यास्थियाँ।
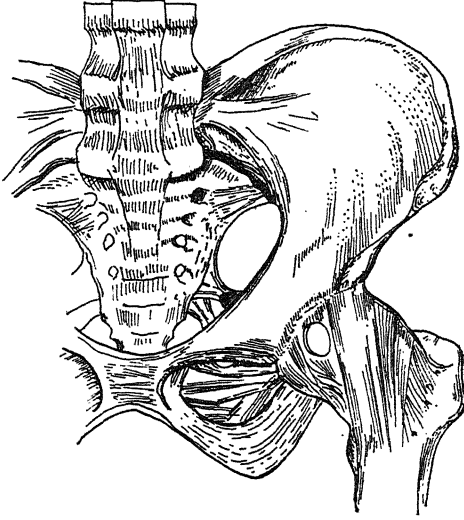
चित्र ६९—श्रोणि और नितंब संधि के स्नायु दिखाये गये हैं

संधियों पर होने वाली क्रियायें : संधियों पर निम्नलिखित गति होती हैं :
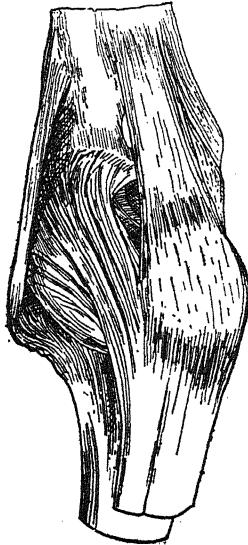
चित्र ७०—जानु संधि

१. **आकुंचन** (Flexion) : इस गति से एक अंग दूसरे के पास खिंच आता है। अग्रबाहु का बाहु के पास खिंच आना कुहनी संधि का आकुंचन है।
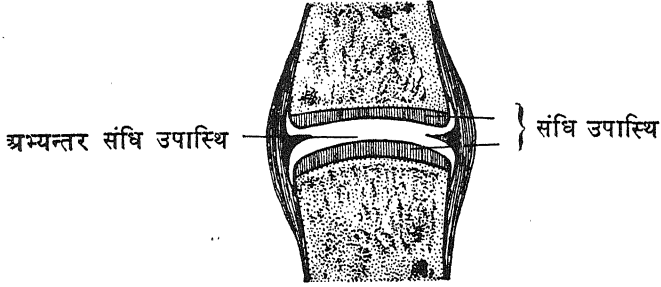
चित्र ७१—जानु संधि का अनुदैर्घ्य काट

२. **प्रसरण या प्रसारण** (Extension) : उपर्युक्त से उलटी क्रिया है। अग्रबाहु का बाहु से दूर चला जाना प्रसारण है।
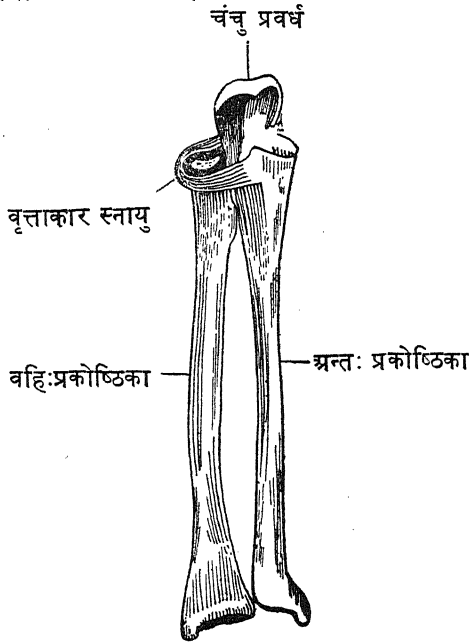
चित्र ७२—दोनों प्रकोष्ठिकाओं की संधि

३. **अभिवर्त्तन** (Adduction) : बाहु को बाहर की ओर से धड़ के पास लाना अभिवर्त्तन है। इसी प्रकार जंघा को बाहर से शरीर की मध्यरेखा की ओर लाना अभिवर्त्तन कहलायेगा।

४. **अपवर्त्तन** (Abduction) : इससे विरुद्ध क्रिया है, अर्थात् अंग को शरीर की मध्यरेखा से बाहर ले जाना।

५. **आवर्त्तन** (Circumduction) : अंग का चारों ओर को घुमाना। यदि बाहु को सीधा करके शरीर के समकोण पर फैलाकर घुमावें तो हाथ एक बहुत बड़ा वृत्त बना देगा। यह क्रिया आवर्त्तन कहलाती है। जंघा भी इस गति को कर सकती है किन्तु वह बाहु के समान पूर्ण नहीं होती।

शरीर में निम्नलिखित मुख्य संधियाँ हैं :

स्कंध संधि (Shoulder Joint)
कफोणि संधि (Elbow Joint)
मणिबंध संधियाँ (Carpal Joints)
हाथ की अस्थियों के बीच की संधियाँ
नितम्ब संधि (Hip Joint)
जानु संधि (Knee Joint)
गुल्फास्थियों, प्रपाद तथा अंगुल्यस्थियों के बीच की संधियाँ
कशेरुकाओं के बीच की संधियाँ

तथा हाथों और पाँवों के प्रान्त की संधियाँ यद्यपि छोटी हैं किन्तु बड़ी उपयोगी हैं। अंग का उपयोग इन पर ही निर्भर करता है।

मांस पेशी

पेशी दो प्रकार की होती हैं—**ऐच्छिक** और **अनैच्छिक**। ऐच्छिक पेशी हमारी इच्छा के आधीन होती है। जब चाहें उनसे काम करवा सकते हैं। अनैच्छिक पेशी हमारे इच्छा से स्वाधीन हैं। हमारा उन पर कोई अधिकार नहीं है। वे हमारी इच्छा से काम नहीं करतीं। स्वतः ही क्रिया करती रहती हैं। इन दोनों की रचना का भेद बताया जा चुका है। हृदय की पेशियाँ तीसरे प्रकार की हैं जिनकी रचना यद्यपि बहुत कुछ ऐच्छिक पेशियों के समान है, किन्तु वे हमारी इच्छा के आधीन नहीं हैं।

ऐच्छिक पेशी : हमारे शरीर का सारा कंकाल इन पेशियों से ढका हुआ है। प्रत्येक अस्थि से कुछ पेशियाँ निकलती हैं, कुछ उस पर लगती हैं, कुछ उनको आच्छादित करती हुई दूसरी अस्थि पर जाकर लगती हैं। थोड़ी ही ऐसी अस्थि हैं जिनसे पेशी न निकलती हो या उन पर न लगी हों।

प्रत्येक पेशी तन्तुकों के गुच्छों का समूह है। प्रत्येक तन्तुक (Fibril) पेशी की एक कोशिका है। एक तन्तुक को पृथक् करना कठिन है क्योंकि वह अणुदर्शी द्वारा ही देखा जा सकता है। पेशी को लम्बाई की ओर चीरने से वह तन्तु समूहों में विभक्त होता चला

जाता है। इन पेशियों के तन्तुक रेखांकित (Striped) होते हैं। ये तन्तुक अस्थि के एक स्थान से निकलते हैं जो पेशी का **मूलबन्ध** (Origin) कहलाता है। यहाँ पर प्राय: पेशी का आकार छोटा होता है। आगे चलकर तन्तुकों की संख्या बढ़ जाती है और बीच में पेशी मोटी हो जाती है। आगे चल कर वह फिर सिकुड़ने लगती है और अन्त को एक रज्जु के समान संकुचित **कंडरा** (Tendon) में अन्त हो जाती है। यह कंडरा चमकते हुए अत्यन्त बारीक तांतव तन्तुओं की बनी होती है जो किसी दूसरी अस्थि पर लगती है। यह स्थान उसका **चेष्टा बिन्दु** (Insertion) कहलाता है। इसी स्थान से पेशी की क्रियायें होती हैं। इस प्रकार पेशी एक अस्थि पर से निकलती है और दूसरी अस्थि पर लगती है।

पेशी की क्रिया (Muscular Action) : पेशीऊतक का विशेष गुण संकोचशीलता (Contractility) या संकुचन है। पेशी का प्रत्येक तन्तुक संकोच करता है। संकोच करने पर उसकी लम्बाई कम और मोटाई अधिक हो जाती है। पेशी के सब तन्तुकों का संकोच (Contraction) पेशी का संकोच है। अतएव जब पेशी संकोच करती है तो जिस अस्थि पर उसकी कंडरा लगी है वह दूसरी अस्थि की ओर खिच जाती है। बाहु में सामने की ओर द्विशिरस्का (Biceps Brachii) पेशी है। यह ऊपर की ओर जत्रुक और प्रगंडास्थि के ऊर्ध्व प्रान्त से निकलती है और वहाँ से बाहु के सामने से होती हुई उसके अधोभाग में पहुँच कर कंडरा बनाती है जो कुहनी की संधि के सामने से निकलकर बहि:प्रकोष्ठिका पर जाकर लग जाती है। जब यह पेशी संकोच करती है तो अग्रबाहु बाहु की ओर खिचती चली आती है जिससे बाहु में सामने की ओर एक उभार-सा
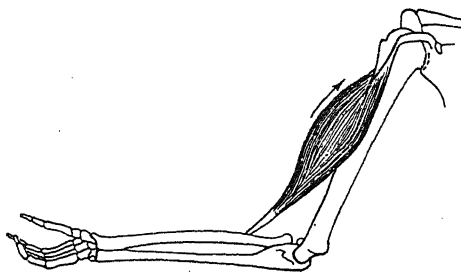
चित्र ७३—अग्रबाहु का आकुंचन

बन जाता है। यह द्विशिरस्का का बीच का भाग है। बाहु को कुहनी पर से मोड़ कर यह देखा जा सकता है। जंघा के पीछे की ओर दो बलवान पेशियाँ हैं जो जंघा की पिंडिका (Calf of Leg) बनाती हैं जिसको साधारणतया पिंडली कहते हैं। ये पेशियाँ ऊर्व्विका के अधो प्रान्त के स्थूलकों के पश्चिम पृष्ठ से निकलती हैं और सीधी नीचे जाकर जंघा के अधो प्रान्त में पहुँच कर एक दृढ़ कंडरा बनाती हैं। यह कंडरा नीचे की ओर

पार्ष्णि (एड़ी) पर पहुँच कर उसके पीछे की ओर पश्च पृष्ठ पर लग जाती है। जब ये पेशियाँ संकोच करती हैं तो पार्ष्णि या एड़ी ऊपर को खिंच आती है और केवल पाँव का पंजा भूमि पर लगा रह जाता है। चलने या दौड़ने में इन पेशियों की यही क्रिया हुआ करती है।

शरीर में जितनी गति की क्रियायें होती हैं वे सब पेशियों के संकुचन का परिणाम हैं। वे अपनी स्थिति के अनुसार अंग को ऊपर को उठाती हैं या नीचे को खींचती हैं अथवा शरीर से दूर या उसके पास ले जाती हैं। संधियों के संबंध में जो भिन्न-भिन्न प्रकार की गतियाँ बताई गई हैं उनका कारण पेशियों का संकोच है। संकोच के रूप में कोई भेद नहीं होता। संकोच क्रिया से पेशियों में समान परिवर्तन होते हैं। किन्तु पेशियों की स्थिति के अनुसार उनके संकोच का परिणाम भिन्न होता है। किसी से आकुंचन होता है, किसी से प्रसारण या अभिवर्तन व अपवर्तन होता है।

इन्हीं गतियों के अनुसार पेशियों के समूहों का नामकरण किया गया है। इस प्रकार **आकुंचक पेशी** (Flexors) अंग के एक भाग को दूसरे भाग के पास खींचती हैं। प्रसारक पेशी (Extensors) उसको दूर ले जाती हैं। **अभिवर्त्तक पेशी** (Adductors) अंग को शरीर की मध्य रेखा की ओर लाती हैं। **अपवर्त्तक** (Abductors) शरीर या मध्यरेखा से दूर ले जाती हैं। **घूर्णक** (Rotators) अंग को घुमाती है, **बहिः-घूर्णक** बाहर की ओर अन्तःघूर्णक भीतर की ओर को। उत्तानक (Supination) हथेली को सामने की ओर को घुमाती है, अवतानक (Pronation) पीछे को घुमा देती है।

ये पेशी-समूह शरीर के उन सब अंगों में पाये जाते हैं जिनमें गति होती है। प्रत्येक अंग में विरोधक पेशियों (Antagonistic Groups) के समूह लगे हुए हैं। इनकी विरोधी क्रियाओं ही का यह फल होता है कि हम शरीर को एक स्थिर या साम्य स्थिति में रख सकते हैं। साम्यावस्था या सन्तुलन विरोधी पेशी समूहों की क्रिया का परिणाम है। जब हम खड़े होते हैं तो कुछ पेशियाँ धड़ को पीछे को खींचे रहती हैं जिससे शरीर सामने की ओर न लुढ़क जाय। सामने की कुछ पेशियाँ आगे की ओर खींच कर रखती हैं जिससे शरीर पीछे को न गिर जाये। इसी प्रकार कुछ सिर को सामने से, कुछ पीछे तथा पार्श्व से संभालती हैं। चलने, भागने और दौड़ने में अनेक पेशियाँ क्रिया करती हैं। एक पेशी-समूह टाँग को आगे को खींचता है, दूसरा पाँव को भूमि पर जमा कर रखता है, तीसरा दूसरी टाँग को आगे को खींचता है, चौथा सिर को पीछे को खींचे रखता है, पाँचवें और छठवें धड़ को स्थिर रखते हैं। बाहुओं को आगे-पीछे को हिलाने वाले अन्य ही समूह हैं। श्वास को वेग से भीतर लेने वाली अन्य ही पेशियाँ हैं। सामान्यतया तेज चलने में २०० से अधिक पेशियाँ क्रिया करती हैं।

इन पेशियों के तन्तु रेखांकित होते हैं।

अनैच्छिक पेशियों के तन्तु अथवा उनकी कोशिकायें लम्बी और अरेखित होती हैं। उनमें एक केन्द्रक होता है। कोशिका का एक सिरा लम्बा पुच्छ के समान होता है।

पेशियों के संकोच का कारण : ऐच्छिक, अनैच्छिक तथा हृदय की पेशी सभी संकोच करती हैं। ऐच्छिक पेशी से हम जब चाहें संकोच करवा सकते हैं। हमारी इच्छा करने ही से वे संकोच करती हैं। हृदय की पेशी तथा आन्त्र, प्रणालियों, रक्तवाहिकाओं आदि में उपस्थित अनैच्छिक पेशियाँ स्वतः ही संकोच करती रहती हैं और आवश्यकतानुसार गति को घटा-बढ़ा भी लेती हैं। किन्तु संकुचन दोनों ही करती हैं। संकोच करना या संकुचन पेशी का धर्म है।

किन्तु संकोच का क्या कारण होता है ? शरीर में कौन-सी ऐसी घटना होती है जिससे पेशी का संकोच होता है ?

पेशी में जब किसी प्रकार का संवेग या उद्दीपन (Stimulus, Impulse) पहुँचता है, विद्युत्, रासायनिक या यांत्रिक तो पेशी संकोच करती है। पेशी पर यदि पीतल के तार से विद्युत् धारा लगा दी जाय तो वह तुरन्त संकोच करने लगती है। अम्ल के सम्पर्क का भी यही परिणाम होता है। उसको ताड़न करने से भी यही होता है।

जब हम इच्छा करते हैं तो हमारे मस्तिष्क के प्रान्तस्था (Cortex) भाग की पिरामिदीय (Pyramidal) कोशिकाओं में संवेग उत्पन्न होता है। वहाँ से संवेग कोशिका के ऐक्सन (Axon) में होकर मेरुरज्जु की कोशिका के **पश्च शृंग की कोशिका** में पहुँचता है। वहाँ से फिर **अग्रशृंग** कोशिका में पहुँचता है। वहाँ से एक दूसरा **अपवाही तन्तु** (Efferent Fibres) उसको पेशी तक ले जाता है और पेशी संकोच करने लगती है। यह विद्युत् उत्तेजना होती है। विद्युत् मापी द्वारा उसको मापा गया है।

अनैच्छिक पेशियों में भी इसी प्रकार का संवेग आया करता है। किन्तु वह मस्तिष्क या तन्त्रिकातन्त्र के उस भाग से आता है जिस पर हमारी इच्छा का प्रभाव नहीं होता। वह स्वतः ही संवेगों को भेजता रहता है। शारीरिक दशाओं और आवश्यकताओं के अनुसार वह भाग संवेगों की गति को घटा-बढ़ा देता है। किन्तु हमारी आज्ञा या इच्छा की वह तनिक भी परवाह नहीं करता।

हमारी इच्छा किन्हीं बाह्यकारणों का फल होती है। जब हम किसी वस्तु को उठाना चाहते हैं, किसी पुस्तक को पढ़ना चाहते हैं तो उस वस्तु या पुस्तक को देख कर जो संवेग उत्पन्न होता है वह नेत्रों द्वारा मस्तिष्क में पहुँचता है। हमारी इच्छा भी मस्तिष्क में संवेग उत्पन्न करती है। यही संवेग मस्तिष्क की कोशिका से तन्तु में होकर एक दूसरी कोशिका के तन्तु में होता हुआ पेशी में पहुँचता है और पेशी संकोच करने लगती है।

कभी-कभी हम किसी काम में व्यस्त होते हैं और अकस्मात् एक कीड़ा नेत्र में घुसने लगता है। तुरन्त पलक बन्द हो जाते हैं और कीड़ा बाहर ही रह जाता है। सोते-सोते शरीर पर किसी स्थान में बैठे हुए कीड़े को हाथ स्वयं वहाँ पहुँच कर हटा देता है। ये **प्रतिवर्त्त क्रियायें** (Reflex Action) कहलाती हैं। संवेग त्वचा से मेरु रज्जु के पश्च शृंग की कोशिका में पहुँचता है। वहाँ से वह मस्तिष्क में न जाकर सीधा अग्रिम शृंग की कोशिकाओं में चला जाता है। इन कोशिकाओं
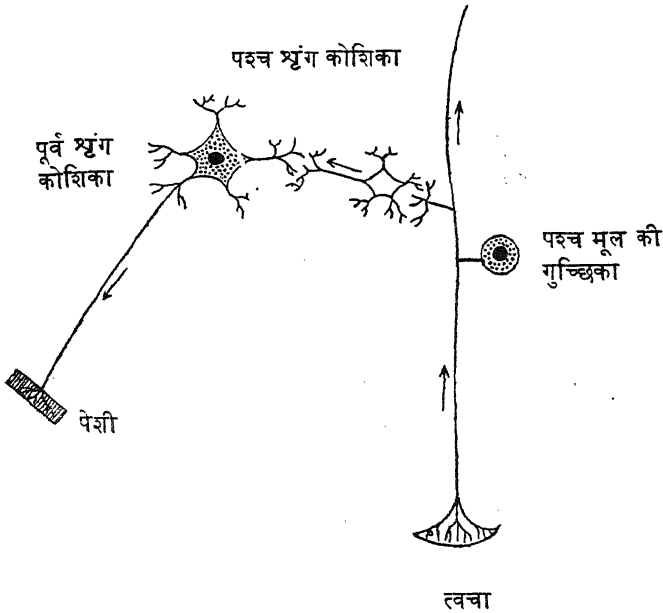
चित्र ७४—परावर्त्त चाप तथा क्रिया

से संवेग अंग की पेशियों में पहुँचता है और वे संकोच करके इच्छित कर्म का सम्पादन कर देती हैं। इस प्रकार संवेग छोटे ही मार्ग से अल्प काल में अभीष्ट स्थान में पहुँच जाता है। इस मार्ग को **प्रतिवर्त्तचाप** (Reflex Arc) कहते हैं। त्वचा से जाने वाला अभिवाही तन्त्रिका-तन्तु (Catterent Fibre), मेरु रज्जु की पश्च तथा पूर्व कोशिकायें तथा वहाँ से पेशी में जाने वाला अपवाही तन्तु मिलकर इस चाप को बनाते हैं। शरीर में ऐसी बहुत-सी प्रतिवर्त्त क्रियायें सदा (Reflex Action) होती रहती हैं।

पेशी और तन्त्रिका का सम्बन्ध—प्रत्येक पेशी में एक तन्त्रिका आती है। वहाँ पहुँच कर उसके तन्तु पृथक् हो जाते हैं और पेशी के प्रत्येक तन्तुक में तन्त्रिका का एक तन्तु जाता है। जहाँ पेशी तन्तुक में तन्त्रिका का तन्तु अन्त होता है वहाँ वह कई सूक्ष्म

शाखाओं में विभक्त हो जाता है और उनके चारों ओर कोशिका द्रव्य के कुछ कण एकत्र हो जाते हैं। ये स्थल अन्ताङ्ग, अन्तपट्ट या तन्त्रिकान्त (End Organs, End Plates or Nerve Endings) कहलाते हैं।

संवेग मस्तिष्क की कोशिकाओं से मेरुरज्जु में होता हुआ तन्त्रिका द्वारा उसके तन्तुओं में होकर पेशी के प्रत्येक तन्तु में पहुँच जाता है और अन्ताङ्ग द्वारा उसके कोशिका द्रव्य को उत्तेजित करता है जिससे उसमें संकुचन होता है। इस प्रकार पेशी के प्रत्येक तन्तु का तन्त्रिका के एक तन्तु से सम्बन्ध होता है। उसी के द्वारा मस्तिष्क या मेरुरज्जु से संवेग पेशी में पहुँचते हैं।

साधारणतया संवेग मस्तिष्क से ही आते हैं। किन्तु प्रतिवर्त क्रियाओं में मेरुरज्जु ही से प्रतिवर्तन हो कर वे पेशी में पहुँच जाते हैं।

दुर्बल और सबल या बलवान पेशी—कुछ व्यक्ति दुर्बल और कुछ बलवान होते हैं। अन्तर केवल यह है दुर्बल व्यक्ति की पेशियाँ काम करने की अभ्यस्त नहीं होतीं। वे अधिक परिश्रम नहीं कर सकतीं। शीघ्र ही थक जाती हैं क्योंकि उनको काम करने का अभ्यास नहीं कराया गया है। जिन पेशियों को काम करने का अभ्यास कराया जाता है वे अधिक परिश्रम कर सकती हैं। वे बलवान् कहलाती हैं, उनमें अधिक बल होता है। ऐसी पेशियोंवाला व्यक्ति बलवान् होता है। पेशी ही बल का भण्डार हैं। और अभ्यास से बल बढ़ता है जो सांसारिक सफलता की कुंजी है। अभ्यास द्वारा जितना चाहें बल बढ़ाया जा सकता है। यह अभ्यास हो व्यायाम कहलाता है।

व्यायाम

व्यायाम स्वास्थ्य की कुंजी है और शरीर तथा स्वास्थ्य की वृद्धि के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसी कारण संसार भर के सभ्य देश अपनी-अपनी जनता में खेल-कूद तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यायामों में रुचि उत्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं। ओलिम्पिक खेलकूद इसीलिए किये जाते हैं। इसमें सभी देश अपने-अपने खिलाड़ियों को भेजते हैं। भिन्न-भिन्न देश अपने यहाँ भी एसे ही खेलकूद का उत्सव करते हैं जिनमें देश के भिन्न-भिन्न भागों से खिलाड़ी आकर भाग लेते हैं और आपस में प्रतिस्पर्धा करते हैं। इसी भाँति देश के प्रत्येक भाग तथा प्रत्येक संस्था में इस प्रकार के उत्सव किये जाते हैं। इनका अभिप्राय यह है कि जनता में व्यायाम की रुचि उत्पन्न हो, प्रत्येक व्यक्ति व्यायाम करके अपने स्वास्थ्य को उन्नत करे जिससे बल और कार्य कुशलता बढ़े और देश सम्पन्न हो।

व्यायाम से शरीर के सब ही तन्त्र उन्नत होते हैं। व्यायाम करने में शरीर की पेशियाँ विशेष काम करती हैं। व्यायाम का वास्तव में अर्थ ही है पेशियों का व्यायाम। व्यायाम

से पेशियों में रक्त संचार बढ़ जाता है। अधिक पोषण और आक्सिजन पहुँचते हैं। इससे पेशी की वृद्धि होती है, नये तन्तुक बनते हैं। पेशी का बल बढ़ता है। वे सुगठित हो जाते हैं और उनकी काम करने की शक्ति बढ़ जाती है। अतएव व्यक्ति के बल की वृद्धि होती है। बिना व्यायाम के पेशियाँ ढीली पड़ी रहती हैं। उनका क्षय होने लगता है, कर्म करने की शक्ति नहीं रहती। इसी का नाम दुर्बलता है।

व्यायाम से श्वास जल्दी-जल्दी आता है। अधिक वायु फुफ्फुसों में पहुँचती है जिससे उनकी श्वासधारिता शक्ति बढ़ती है। रक्त को अधिक आक्सिजन मिलती है। कार्बन डाइ-आक्साइड का अधिक त्याग होता है। हृदय को व्यायाम के समय जल्दी-जल्दी रक्त को पम्प करके पेशियों में भेजना पड़ता है। हृदय स्वयं मांस पेशियों का एक थैला है। अतएव उसमें भी नये पेशी-तन्तुक बनते हैं और उसकी भी शक्ति बढ़ती है। हृदय में अपनी शक्ति को कई गुणा बढ़ा लेने की सामर्थ्य है। शक्तिशाली हृदय जीवन के उपयोग का आधार है।

व्यायाम से पाचक तन्त्र को भी बहुत लाभ होता है। शरीर में अधिक पोषण का स्वांगीकरण होता है। इसलिए पाचन उन्नत होता है, पाचक रस अधिक बनते हैं और शरीर के प्रत्येक अंग को अधिक पोषण मिलता है। आंत्र की क्रिया भी उन्नत होती है। वृक्क में अधिक रक्त पहुँचने से उनका काम भी अधिक होता है और शरीर से विषों का त्याग अधिक पूर्णता के साथ होता है।

किन्तु जहाँ व्यायाम से इतना लाभ होता है वहाँ अति व्यायाम से हानि भी होती है। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'। उससे हृदय का प्रसार तक हो जाता है।

व्यायाम सदा खुले स्थान में या कमरे की खिड़कियों को खोलकर करना चाहिये। बन्द कमरों में व्यायाम करने से हानि हो सकती है। विशेषकर जिनको दिन भर बन्द कमरों में काम करना पड़ता है उनके लिए शुद्ध वायु में व्यायाम अत्यन्त आवश्यक है।

व्यायाम अनेक प्रकार के हैं। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति व्यायाम को चुन सकता है। शरीर के विकास के लिए यह आवश्यक है कि व्यायाम क्रमानुसार हो। उसकी भिन्न-भिन्न क्रियाओं से शरीर की भिन्न-भिन्न पेशियों का व्यायाम हो। इस प्रकार सिर से लेकर पाँवों तक की पेशियों का व्यायाम हो जाय। व्यायाम करते समय यह ध्यान रहे कि अमुक क्रिया में अमुक पेशी काम कर रही है।

व्यायाम दो प्रकार के होते हैं। एक जो खुले में घर से बाहर (Out-door Exercise) होते हैं जैसे टहलना, दौड़ना, साइकिल चलाना, घोड़े की सवारी, नाव खेना, फुटबाल, हाकी आदि। दूसरे घरके भीतर करने वाले (Indoor Exercise) होते हैं। जैसे डंड, बैठक, मुगदर हिलाना, सूर्य नमस्कार, सैन्डो-व्यायाम आदि। प्रथम प्रकार के व्यायामों से शरीर में स्फूर्ति आती है। पेशियों की क्रियाशीलता बढ़ती है तथा मनोरंजन होता

है। किन्तु पेशियों के विकास और उनको सुदृढ़ बनाने के लिए दूसरे प्रकार के व्यायाम आवश्यक हैं।

व्यायाम कभी भी इतना न करना चाहिए कि उससे शरीर श्रमित हो जाये। यदि ऐसा हो तो अति व्यायाम हो गया है। व्यायाम के पश्चात् हलकी-सी थकावट होनी चाहिये किन्तु शिथिलता नहीं। यह थकावट थोड़े से विश्राम के पश्चात् जाती रहती है। तब साबुन और गरम या साधारण जल से स्नान कर डालना चाहिए जिससे स्वेद से जो मैल निकल कर शरीर पर एकत्र हो गया है वह धुल जाय।

चौथा परिच्छेद

पाचक तन्त्र

(Digestive System)

पाचक तन्त्र का काम आहार को पचाना है। आहार के भिन्न-भिन्न पदार्थों को पीस कर सूक्ष्म कणों में विभाजित करना और तब इनको गला कर ऐसे रूप में परिवर्तित कर देना कि उनका सहज में अवशोषण होकर शरीर द्वारा स्वांगीकरण (Assimilation) हो जाय यह पाचक तन्त्र का कर्म है।

यह तन्त्र एक लम्बा नाल है जो मुख से आरम्भ होता है जहाँ आहार पिसता है और उसका ग्रास बन जाता है। तब वह ग्रासनली (Œsophagus) में होता हुआ आमाशय (Stomach) में पहुँचता है। यहाँ उसमें आमाशय का पाचक रस मिलकर उसको पचाता है। आमाशय से निकल कर वह डुओडिनम या ग्रहणी (Duodenum) में जाता है जो क्षुद्रान्त्र (Small Intestine) का प्रथम भाग है। यहाँ से क्षुद्र आन्त्र की २२ फुट लम्बी नली प्रारम्भ हो जाती है जिसमें आहार का पाचन और अवशोषण दोनों होते हैं। उसके प्रथम भाग में विशेषकर पाचन होता है। शेष भाग का मुख्य कर्म अवशोषण है यद्यपि कुछ पाचन वहाँ भी होता रहता है। जब आहार क्षुद्रान्त्र में प्रवेश करता है तो वह गाढ़ी तरल अवस्था में होता है। क्षुद्रान्त्र के अन्त तक वह इसी रूप में रहता है। कुछ जलीय भाग के अवशोषण से गाढ़ा होने लगता है। क्षुद्रान्त्र से वह शेषान्धान्त्र या ईलियोसीकल कपाटिका (Ileocæcal Valve) द्वारा वृहदान्त्र के प्रथम भाग में आता है जिसको सीकम (Coecum) या अन्धान्त्र कहते हैं। क्षुद्रान्त्र का पहला भाग डुओडिनम या ग्रहणी है। इस कारण दूसरे भाग को मध्यान्त्र (Jejunum) और तीसरे भाग को ईलियम या शेषान्त्र (Ilium) कहा जाता है। इस कारण कपाटिका का उपर्युक्त नाम पड़ा है। वृहदान्त्र भी लगभग ६ फुट लम्बा नाल है। किन्तु इसकी चौड़ाई क्षुद्रान्त्र से अधिक है। इस नाल में क्षुद्रान्त्र से आये हुए पदार्थों के जल का अवशोषण होता है और जब वह इस नाल से निकल कर मलाशय में जाता है तो उसका वह रूप बन चुकता है जिसमें वह शरीर का त्याग करता है। इस तन्त्र में निम्न लिखित मुख्य भाग हैं जिनके कर्म का संक्षेप से वर्णन किया गया है।

१. मुख (Mouth) : मुख में नीचे की ओर जिह्वा और ऊपर की ओर कठिन तालु हैं। जिह्वा के नीचे कई पेशियाँ मुख का फर्श (Floor) बनाती हैं। मुख

के पीछे की ओर का चौड़ा कुप्पी के समान जो भाग है वह ग्रसनी (Pharynx) कहलाता है जिसमें होकर ग्रास ग्रासनली में चला जाता है। ग्रास नाल (Œsophagus)
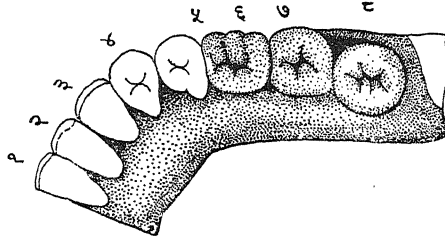
चित्र ७५—आधे जबड़े की दंत चाप

[१, २—छेदक ३—भेदक ४, ५—अग्रचर्वणक और ६, ७, ८—चर्वणक दाँत]

के सामने की ओर से श्वासनाल प्रारंभ होता है जिसमें होकर श्वास द्वारा वायु फुप्फुस में पहुँचती है।

मुख के विशेष अवयव जो पाचन में भाग लेते हैं दाँत और लालाग्रंथियाँ हैं जिनमें लाला (Saliva) नाम का पाचक रस बनता है।

२. **दाँत** (Tooth) : युवावस्था में मुख में १६ दाँत ऊपर और १६ दाँत नीचे होते हैं जिनमें से ८ दाहिनी ओर ८ बाईं ओर हैं। ऊपर और नीचे की हन्वस्थियों में दाँत एक महराब या चाप के आकार में स्थित हैं ? इस कारण इसको दन्त चाप (Dental Arch) कहते हैं। प्रत्येक ओर दन्तचाप में सामने दो छेदक या
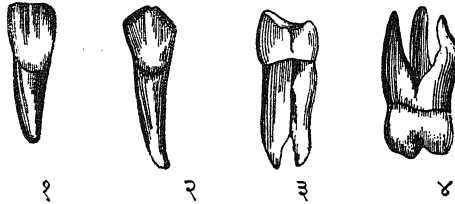
चित्र ७६—दाँत

[१—छेदक २—भेदक ३—अग्र चर्वणक ४—चर्वणक]

कर्त्तनक (Incisor) दाँत होते हैं। इनका काम कुतरने का है। ये आहार को काटते हैं। इनके बाहर एक भेदक (Canine) दाँत है। यह फाड़ने का काम करता है। इसके पीछे २ अग्रचर्वणक (Premolar) दाँत हैं। उनके पीछे तीन चौड़े चर्वणक (Molar) दाँत हैं जिनको **डाढ़** कहते हैं। इन पाँचों दाँतों का काम चबाना (Mastication) है। अन्तिम दाँत को **अक़ल डाढ़** (Wisdom Tooth) भी कहते हैं। बच्चों के दाँत जो दूध के दाँत या **अस्थाई दाँत** (Deciduous or Temporary

Teeth) कहलाते हैं उनकी संख्या कम होती है । वे छठे वर्ष से गिरने लगते हैं । छः वर्ष के बालक के मुँह में २० दाँत होने चाहिए । इनके गिरने के पश्चात् **स्थायी दाँत** (Permanent Teeth) निकलते हैं । युवावस्था में लगभग २२ वर्ष की आयु पर इनकी संख्या ३२ होती है । इस संख्या को सूत्र के रूप में भी लिखा जाता है जो **दन्त्य सूत्र** (Dental Formula) कहा जाता है । यह सूत्र $\frac{२.१.२.३}{२.१.२.३}$ है । यह ऊपर और नीचे के जबड़ों में स्थित दाँतों की संख्या का सूचक है । इसका अर्थ है कि ऊपर और नीचे के आधे-आधे जबड़े में २ कर्त्तनक, १ भेदक, २ अग्रचर्वणक और ३ चर्वणक दाँत हैं ।
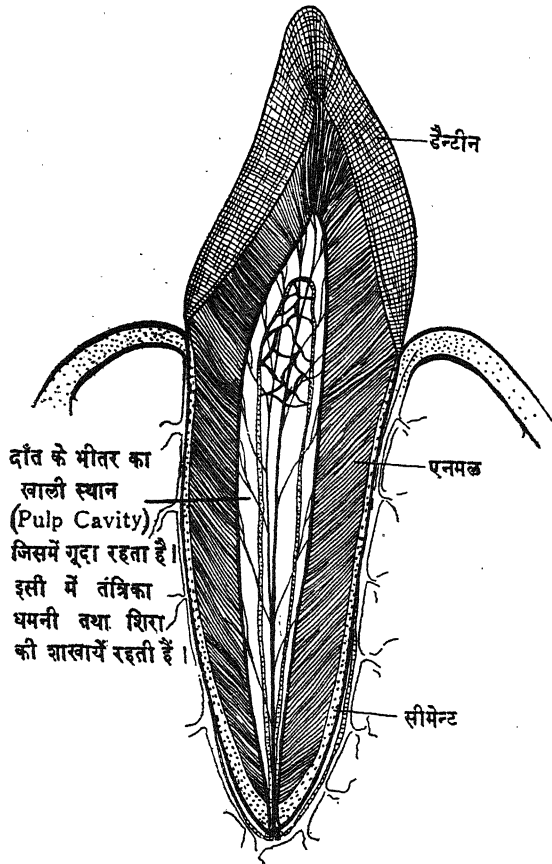
चित्र ७७—दाँत की भीतरी रचना

दाँत की रचना : दाँत शरीर की सबसे कठोर रचना है । अस्थि से यह कई गुणा

कठोर है। प्रत्येक दाँत जबड़े की अस्थि के भीतर कोष्ठिका (Alveolus) में स्थित रहता है। उसका यह भाग **मूल** (Root) कहलाता है। मुँह में उसका जितना भाग निकला रहता है वह **शीर्ष** (Crown) कहा जाता है। इन दोनों भागों के बीच दन्त **ग्रीवा** (Neck) होती है।

यदि दाँत को बीच से काट कर देखा जाय तो उसके बीच में एक रिक्त स्थान या गुहा दिखाई देगी जिसमें रक्तवाहनियाँ तथा तन्त्रिका की सूक्ष्म शाखायें और कुछ अन्य ऊतक के कण रहते हैं। यह **पल्प गुहा** (Pulp Cavity) कहलाती है। दाँत का बाहरी स्तर **ऐनेमल** (Enamel) नामक अत्यन्त कठोर पदार्थ का बना होता है। इसके भीतर **डैन्टीन** (Dentin) का मोटा स्तर रहता है जिसके भीतर की ओर **पल्प गुहा** स्थित है। दाँत और अस्थि के बीच में **सीमेंट** (Cement) नामक पदार्थ का एक स्तर होता है जो अस्थि के साथ दाँत का संयोजन करता है।

दन्तोद्भवन (Dentition) : दाँत अधोहन्वस्थि के भीतर बनते हैं। यदि छः वर्ष के एक बालक की अधोहन्वस्थि का एक्सरे चित्र लिया जाय तो उसमें निकले हुए दाँतों के नीचे अधोहन्वस्थि के भीतर स्थाई दाँत भी स्थित दिखाई देंगे। इनमें
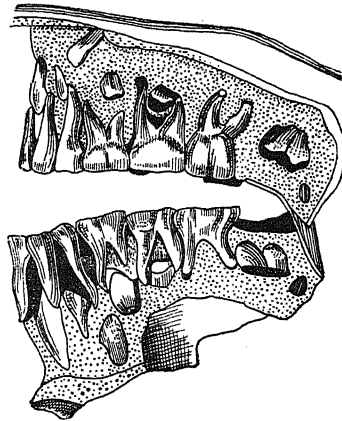
चित्र ७८—बालक का अधोहनु जिसमें कुछ अविकसित दाँत दीख रहे हैं

कैलसियम के एकत्र होने से इनका विकास होता रहता है और ठीक नियत समय पर अस्थाई दाँतों को गिराकर ये दाँत निकल आते हैं।

अस्थाई दाँतों का उद्भवन भी ठीक नियत समय पर होता है।

चर्वण (Mastication) : ऊर्ध्व और अधोहन्विकाओं के ऊपर और नीचे तथा इधर-उधर पार्श्वों की ओर पेशियों की क्रिया से चलने के कारण आहार सूक्ष्म कणों में विभक्त हो जाता है। इसी को चर्वण कहते हैं। इसका प्रयोजन आहार को ऐसी दशा में ले आना है कि उसके प्रत्येक कण पर लाला रस की क्रिया हो सके।

लाला ग्रन्थियाँ : (Salivary Glands) : मुख गुहा के इधर-उधर तथा नीचे की ओर लाला ग्रन्थियाँ स्थित हैं जिनमें लाला रस बन कर मुख में आता रहता है। आहार को चबाने के समय इस रस की मात्रा और भी बढ़ जाती है। इन ग्रन्थियों के नाम ये हैं :—

कर्णमूल ग्रन्थि	(Parotid Gland)	२
अधोहनु ग्रन्थि	(Sub-maxillary Gland)	२
जिह्वाधर ग्रन्थि	(Sub-lingual Gland)	२

चित्र में इन ग्रन्थियों की स्थिति और आकार दिखाया गया है।

कर्णमूल ग्रन्थि सबसे बड़ी ग्रन्थि है। दोनों ओर कपोल पर कर्णमूल के सामने से हनु के नीचे तक स्थित इन ग्रन्थियों में एक जलीय स्राव (Secretion) बनता है जो
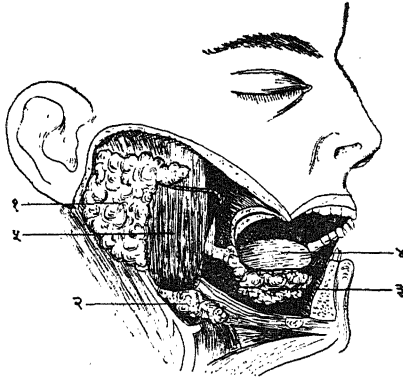
चित्र ७६—लाला रस स्रावक ग्रन्थिया

[१—कर्णमूल ग्रन्थि, २—अधोहनु ग्रन्थि, ३—जिह्वाधर ग्रन्थि, ४—जिह्वा पेशी, ५—चर्वणक पेशी।]

एक वाहिनी (Duct) द्वारा कपोल के भीतर ऊपर के दूसरे अग्रचर्वणक के सामने एक छिद्र द्वारा मुख में आता है और वहाँ आहार में मिल जाता है।

अधोहनु ग्रन्थियाँ : अधोहन्वस्थि के दाहिने और बायें कोण से तनिक आगे स्थित हैं। इनकी वाहनियाँ जिह्वा के पिछले भाग के नीचे से मुखतल में सामने छेदक दाँतों के बीच की ओर जाती हुई बन्धनिका (Frenum) के दोनों ओर फर्श में खुलती हैं जहाँ उनके दो सूक्ष्म छिद्रों को आवर्धक लैन्सों की सहायता से देखा जा सकता है।

जिह्वाधर ग्रन्थियाँ : बादाम के समान आकार वाली जिह्वा के मूल और नीचे के चर्वणक दाँत के मसूड़ों के बीच में एक-एक दोनों ओर स्थित हैं।

लाला रस की क्रिया : लाला रस में एक विशेष **प्रकिण्व** या **इंजाइम** (Enzyme) होता है जिसको टायलिन (Ptyalin) कहते हैं। जब से हम ग्रास चवाना

प्रारम्भ करते हैं तब से ही लाला रस ग्रास में मिलने लगता है। ग्रास सूक्ष्म कणों में विभाजित होता रहता है और लाला रस का तथा कणों का सम्पर्क होकर उन पर टायलिन की क्रिया होती रहती है।

टायलिन की क्रिया आहार के कार्बोहाइड्रेट भाग पर होती है। अन्न में जो **स्टार्च** या श्वेतसार (Starch) उपस्थित होता है वह इस क्रिया से प्रथम डैक्सट्रिन (Dextrin) में परिवर्तित हो जाता है। डैक्सट्रिन से माल्टोज़ बनता है जो रस की ओर अधिक क्रिया होने से ग्लूकोज़ (Glucose) में परिवर्तित हो जाता है।

लाला रस की दूसरी क्रिया भी बहुत महत्व की है। वह ग्रास को चिकना और नरम बना देता है। उसमें जो म्यूसीन (Mucin) नामक पदार्थ मिला होता है उसकी
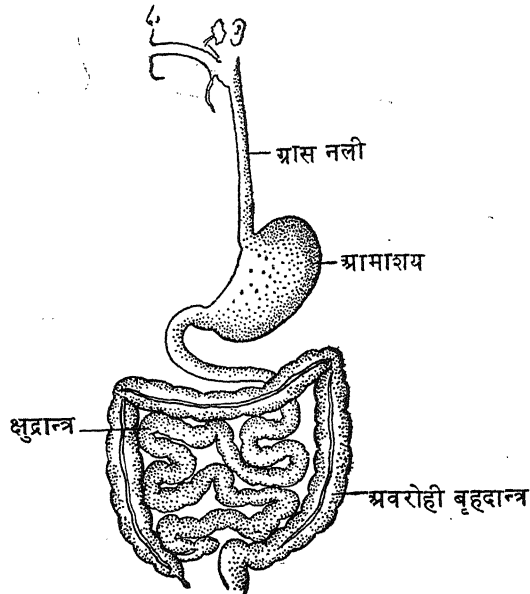
चित्र ८०—पाचक नाल

क्रिया से दाँतों द्वारा चबाये हुए आहार के कण एक ग्रास के रूप में बँध जाते हैं और इस ग्रास का निगलना संभव होता है।

निगलना (Deglutition) : यह क्रिया जिह्वा और तालू दोनों मिलकर करते हैं। आहार का ग्रास बनकर जिह्वा के पिछले भाग और तालू के बीच में आ जाता है। जिह्वा के संकोच करने से ग्रास तालू और जिह्वा के बीच में दबकर जिह्वा के पीछे की ओर को फिसल कर ग्रसनी (Pharynx) में चला जाता है। इसी समय एक और महत्व की क्रिया होती है। स्वरयन्त्र के ऊपर से निकला हुआ जो एक तिकोना-सा मांस

निर्मित फलक दीखता है जिसको **घाँटीढापक** या **उपजिह्विका** (Epiglottis) कहते हैं। वह संकोच करके सामने की ओर स्थित स्वरयन्त्र को ढक देता है और ग्रास उस पर से फिसलता हुआ ग्रासनली (Œsophagus) में चला जाता है। यह एक नौ इंच लम्बी नली है जो ग्रसनी के दूसरे सिर से प्रारम्भ होती है और नीचे को जाकर आमाशय में खुलती है।

३—आमाशय में पाचन

आमाशय मांस का एक थैला है जिसमें ग्रास नली द्वारा आया हुआ आहार एकत्र हो जाता है। जब हम भोजन करते हैं तो आहार यहीं पर आकर एकत्र होता है और उसका पाचन होता है जिसको आमाशयिक पाचन (Gastric Digestion) कहते हैं।
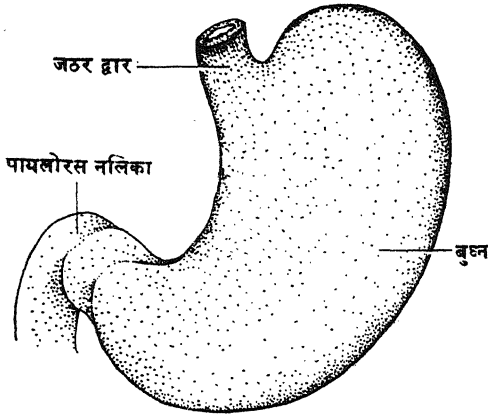
चित्र ८१—आमाशय (बाहर से)

चित्र से आमाशय का आकार स्पष्ट है। ग्रासनली के द्वार के नीचे इसका चौड़ा भाग है जिसको **बघ्न** (Fundus) कहते हैं। यहाँ से आगे आमाशय का गात्र है जिसके दूसरी ओर का नली के आकार का भाग पायलोरस (Pylorus) कहलाता है। इस भाग के अन्त पर एक छिद्र (Pyloric Orifice) है जिस पर एक कपाटिका लगी हुई है। यह पायलोरस की कपाटिका (Pyloric Valve) कहलाती है। इस कपाटिका के विस्तार करने पर छिद्र खुलता है और तब आमाशय में पचा हुआ आहार इस नली में होकर क्षुद्रान्त्र के प्रथम भाग में जाता है जिसको **ग्रहणी** या **ड्यूओडिनम** (Duodenum) कहा गया है।

आमाशय की रचना : आमाशय की भित्ति या दीवार में पेशी तन्तु तीन दिशाओं में स्थित हैं—(१) अनुदैर्घ्य तन्तु (Longitudinal Fiber) आमाशय की

लम्बाई की दिशा में उसके एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैले हुये हैं। (२) अनुवृत्त-तन्तु, (Circular) जो उसको चौड़ाई की ओर से घेरे रहते हैं। (३) तिर्यक् (Oblique Fiber) टेढ़ी दिशा में नीचे के किनारे से ऊपर की ओर को जाते हुए स्थित हैं। आमाशय में आहार के पहुँचने पर ये तीनों प्रकार के तन्तु जब संकोच करते हैं तो आमाशय के भीतर स्थित आहार मथ-सा जाता है जिससे आमाशय का पाचक
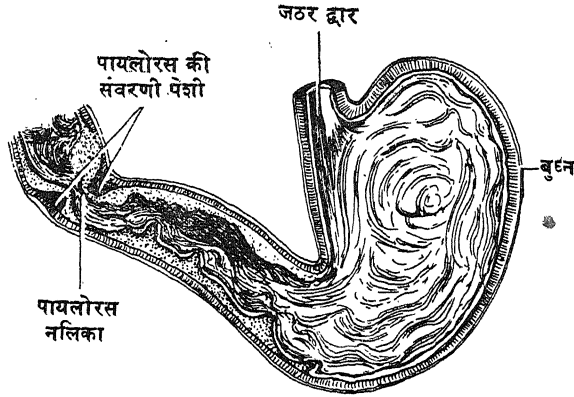
चित्र ८२—आमाशय को काटकर भीतर की रचना दिखाई गई है

रस आहार के कणों के घनिष्ठ सम्पर्क में आ जाता है और उत्तम पाचन होता है। यह मन्थन गति (Churning Movements) कहलाती है।

ये पेशी स्तर भीतर से श्लेष्मल कला (Mucous Membrane) से आच्छादित हैं। इस गुलाबी रंग की कला में वे सूक्ष्म ग्रन्थियाँ स्थित हैं जिनमें आमाशय का पाचक रस बनता है। इस रस के दोनों विशिष्ट अवयव **पैप्सिन** (Pepsin) नामक प्रकिण्व और **हाइड्रोक्लोरिक अम्ल** (Hydrochloric Acid) भिन्न-भिन्न ग्रन्थियों में बनते हैं। दोनों को बनाने वाली पृथक्-पृथक् कोशिकायें हैं। इस कला में सिलवटें पड़ी हुई हैं क्योंकि आमाशय के भीतरी पृष्ठ की अपेक्षा कला का विस्तार अधिक है। इन्हीं सिलवटों में स्थित ग्रन्थियों में पाचक रस बनकर आमाशय में आता रहता है। किन्तु वह उसी समय आता है जब आमाशय में आहार पहुँचता है।

पेशीसूत्र बाहर से पर्युदरी (Peritoneum) कला के स्तर से आच्छादित है जिससे इनका पृष्ठ चिकना और हलके गुलाबी रंग का दीखता है। यह सीरीय स्तर (Serous Coat) कहलाता है।

आमाशय में पाचन : आमाशय रस की विशिष्ट क्रिया आहार के उस अवयव पर होती है जिसको प्रोटीन कहते हैं। ये अवयव नाइट्रोजनयुक्त होते हैं। अन्य तत्वों, कार्बो-

हाइड्रेट और स्नेह में केवल कार्बन, हाइड्रोजन और आक्सिजन होते हैं। मांस, अंडा, दूध, दाल, मटर, सेम आदि में प्रोटीन अधिक होती है यद्यपि अन्य तत्व भी रहते हैं।

(१) प्रोटीनों पर क्रिया करने वाला आमाशय रस का प्रकिण्व **पेप्सिन** है। हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की उपस्थिति में पेप्सिन की क्रिया से प्रोटीन पहिले फूल जाती है और फिर बाहर की ओर से गलने लगती है। प्रोटीन के पाचन में कई अवस्थायें होती हैं जिनके रासायनिक रूप का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा चुका है। प्रोटीन के पाचन से प्रथमतः मेटा-प्रोटीन (Metaprotein) बनती है। मेटा-प्रोटीन से पौलीपैप्टाइड (Poly-peptide) और प्रोटियोज़ (Proteoses) बनते हैं। ये प्रोटीयोज़ पैप्टोन (Peptone) में परिवर्तित हो जाते हैं। यहीं पर यह पाचन समाप्त हो जाता है। इससे अगला परिवर्तन नहीं होता जिससे अमीनो अम्ल बनते हैं। यह परिवर्त्तन ग्रहणी तथा आन्त्र में होता है।

(२) पाचक रस में दो और प्रकिण्व होते हैं। एक का नाम **ऐमाइलेज़** (Amylase) है। इसकी क्रिया से ग्लूकोज (इक्षुशर्करा) और फ्रुक्टोज (फलशर्करा) में बदल जाती है।

(३) दूसरा प्रकिण्व **लाइपेज़** (Lipase) स्नेह का विभंजन करता है।

(४) आमाशय रस में रेनिन (Renin) नामक वस्तु उपस्थित होती है जिसकी क्रिया से दूध फट जाता है।

(५) हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के कारण आमाशय रस में जीवाणुओं को निष्क्रिय कर देने की भी कुछ शक्ति है।

आमाशय में आहार के आने पर मन्थन गति होने लगती है जिससे आमाशय रस और आहार के कणों का घना सम्पर्क होता है और आहार गलने लगता है। ग्रास जो मुँह से आया है उसमें लाला रस अभी तक उपस्थित है जो क्षारीय है। आमाशय रस आम्लिक है। अतएव वह लाला का निराकरण कर देता है। किन्तु ग्रास के मध्य भाग में लगभग २० मिनट तक लाला की क्रिया होती रहती है। आमाशय रस की क्रिया पहले ग्रास के बाहर की ओर होती है। उसके भीतर के भाग में पहुँचने में २० से २५ मिनट लग जाते हैं। तब तक लाला रस की क्रिया वहाँ होती रहती है। तत्पश्चात् उसका पूर्ण निराकरण हो जाता है।

तीन से चार घंटे में आमाशय में जितना आहार गया था वह सब पच कर निकल जाता है। वह गल कर एक गाढ़ा रस-सा हो जाता है जिसको आमपेष (Chyme) के बाहर जाना प्रारम्भ करता है। भोजन करने के लगभग १ घंटे पश्चात् यह क्रिया आरम्भ होती है। कुछ वस्तुएँ तो और भी जल्दी आमाशय से निकल जाती हैं। दूध डेढ़

दो घंटे में पचकर निकल जाता है। जल तुरन्त निकल ही जाता है। साढ़े तीन से चार घंटे में तो ग्रामाशय बिलकुल खाली हो जाता है।

ग्रामाशय के पायलोरस भाग ग्रौर क्षुद्र ग्रान्त्र के बीच में पायलोरिक कपाटिका (Pyloric Valve)) स्थित है जो ग्रामाशय में ग्रम्ल की ग्रधिकता होने पर ही खुलती है। तब ग्राहार का पचा भाग ग्रामपेष के रूप में ग्रहणी में जाता है।

४—ग्रग्न्याशय रस द्वारा पाचन (Pancreatic Digestion)

ग्रहणी में जब ग्रामपेष पहुँचता है तो उसको वहाँ दो पाचक रस मिलते हैं जिनको ग्रग्न्याशय रस (Pancreatic Juice) ग्रौर पित्त (Bile) कहते हैं।
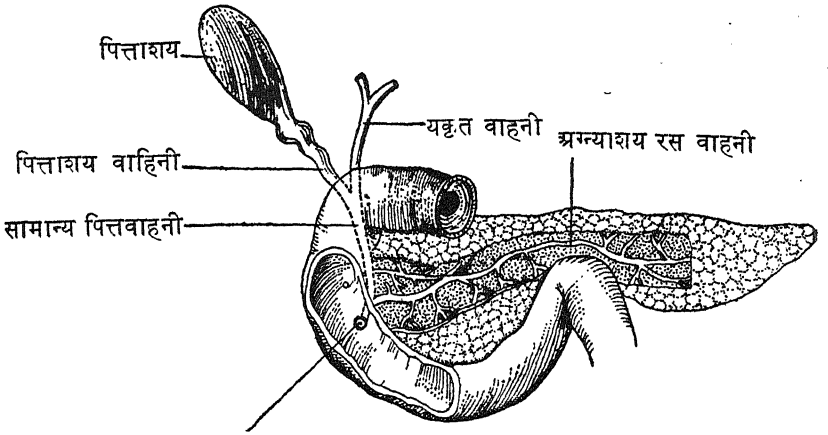
चित्र ८३—ग्रहणी के मोड़ में स्थित ग्रग्न्याशय का सिर, पित्ताशय ग्रादि

ग्रग्न्याशय रस:—यह ग्रग्न्याशय (Pancreas) नामक ग्रन्थि में बनता है। यह एक बड़े ग्राकार की मटमैले रंग की ग्रन्थि है जिसका सिर ग्रहणी के मोड़ में स्थित है ग्रौर पुच्छ बाईं ग्रोर प्लीहा के सम्पर्क में है। इस प्रकार यह ग्रन्थि उदर में दाहिने से बायें ग्रोर तक विस्तृत है। इसके छोटे-छोटे खंड उसके पृष्ठ पर उभरे हुए दीखते हैं। इस कारण इसकी समता शहतूत से दी जाती है। इसके भीतर एक लम्बी नलिका इसके पुच्छ से प्रारम्भ होकर सिर तक चली जाती है ग्रौर उसके ग्रगले किनारे से निकल कर पित्ताशय से ग्राने वाली नलिका के साथ मिलकर ग्रहणी के भीतर एक छिद्र द्वारा खुलती है। ग्रन्थि के प्रत्येक भाग से छोटी नलिकायें इस नलिका में ग्राकर मिलती हैं ग्रौर वहाँ पर बने हुए स्राव को एकत्र करके बड़ी नलिका में पहुँचाती हैं जिसके द्वारा वह ग्रहणी में पहुँचकर पित्त के साथ मिलकर ग्रामाशय से ग्राये हुए ग्रामपेष में मिल जाता है।

अग्न्याशय रस में तीन प्रकिण्व होते हैं, **ट्रिप्सिन** (Trypsin), **ऐमाइलेज और लाइपेज**। यह एक गाढ़ा स्वच्छ तरल द्रव्य होता है जिसकी हल्की क्षारीय प्रतिक्रिया होती है।

ट्रिप्सिन की विशिष्ट क्रिया प्रोटीन पर होती है जो पेप्सिन से कहीं अधिक प्रबल होती है। वह प्रोटीनों को पचाकर अमीनोअम्ल (Amino Acids) बना देती है जो प्रोटीन के अन्तिम घटक हैं। आमाशय से आये हुए आमपेष में जो पैप्टोन होते हैं वे भी अमीनोअम्लों में परिवर्तित हो जाते हैं।

अग्न्याशय रस में ट्रिप्सिन का एक पूर्वरूप रहता है जिसको **ट्रिप्सिनोजन** (Trypsinogen) कहते हैं। क्षुद्र आन्त्र में उत्पन्न होने वाले आन्त्र रस (Succus Entericus)
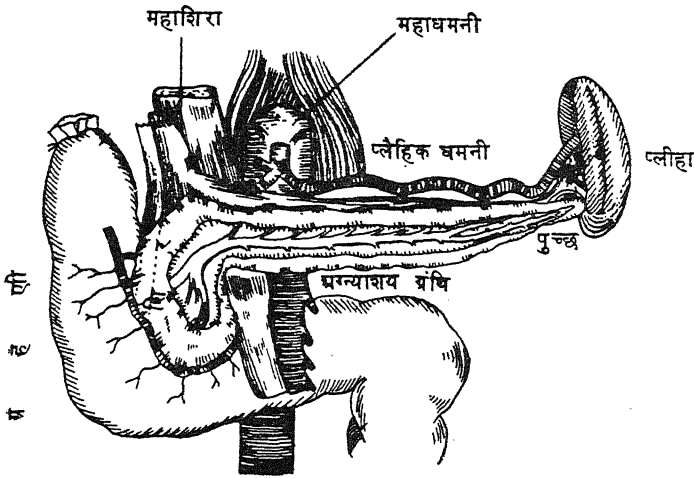
चित्र ८४—ग्रहणी, अग्न्याशय ग्रन्थि आदि

में उपस्थित **ऐन्टरोकाइनेज** (Enterokinase) नामक प्रकिण्व जब ट्रिप्सिनोजन के साथ मिलता है तब ट्रिप्सिनोजन से ट्रिप्सिन बनता है।

ऐमाइलेज श्वेतसार का पाचन करके उसको माल्टोज (Maltose) नामक शर्करा में बदल देता है। लाइपेज की क्रिया से आहार का स्नेह भाग ग्लिसरीन और वसा-अम्लों में विभक्त हो जाता है। पित्त के पित्तलवणों (Bile Salts) से इस क्रिया में लाइपेज को सहायता मिलती है।

अग्न्याशय ग्रन्थि में एक विशेष प्रकार की कोशिकाओं के समूह अधिकतर पुच्छ में पाये जाते हैं जिनको **लैंगरहैन्स की द्वीपिकायें** (Islets of Langerhans) कहते हैं।

इनका कार्बोहाइड्रेट के चयापचय से घनिष्ठ सम्बन्ध है । इनके विकार या नाश से मधु-**मेह** या **डायाबिटीज** (Diabetes) रोग उत्पन्न हो जाता है जिसमें मूत्र में शक्कर आने लगती है । इन द्वीपिकाओं में एक विशेष पदार्थ बनता है जिसको **इनसुलीन** (Insulin) कहते हैं । शरीर द्वारा कार्बोहाइड्रेट के स्वाङ्गीकरण पर इसका विशेष प्रभाव होता है । इसकी कमी से शरीर कार्बोहाइड्रेट (श्वेतसार अथवा शर्करा) का उपयोग नहीं कर सकता । इस कारण रक्त में शर्करा की मात्रा अधिक हो जाती है और वह मूत्र द्वारा निकलने लगती है । मधुमेह रोग में इनसुलीन के इंजेक्शन दिये जाते हैं ।

५–पित्त (Bile) की क्रिया

यह गहरे हरे रंग का एक गाढ़ा तरल द्रव्य होता है जो यकृत (Liver) में बनता है और वहाँ से पित्ताशय नलिका द्वारा पित्ताशय (Gall Bladder) में एकत्र हो जाता है । पित्ताशय केवल एक थैले की भाँति है । यह यकृत के नीचे के पृष्ठ के लगभग बीच में लगा रहता है । यकृत से एक नलिका द्वारा इसमें पित्त आता है और दूसरी नलिका द्वारा इससे निकल कर ग्रहणी में जाता है । यह पित्तवाहनी (Bile Duct) कहलाती है और अग्न्याशय की नलिका के अन्तिम भाग के साथ मिलकर **सामान्य पित्तवाहिनी** (Common Bile Duct) बनाती है । इस प्रकार दोनों रस एक ही नलिका द्वारा, ग्रहणी में पहुँचते हैं ।

पित्त के विशेष घटक दो लवण और दो रंजक वस्तु होती हैं । लवण (सोडियम ग्लाइकोकोलेट और टौरोकोकोलेट) स्नेह के विभंजन तथा उसके अवशोषण में सहायक होते हैं । रंजक अवयव (विलीर्‌यूबिन, बिलीवर्डिन) रक्त की लाल कणिकाओं के नष्ट होने से बनते हैं ।

आन्त्र (Intestine)

इनको साधारणतया आँतें या अँतड़ी कहा जाता है । उदर गुहा का अधिक भाग इन्हीं से भरा हुआ है । आन्त्र में दो भाग हैं—एक **क्षुद्र आन्त्र** और दूसरा **वृहद आन्त्र** । इन दोनों में विशेष अन्तर आकार का है जो उनके नाम का कारण है । सारा आन्त्र एक ३० या ३२ फुट की लम्बी नली है जिसका प्रथम २२ फुट का भाग दूसरे भाग की अपेक्षा पतला है । इस नली की चौड़ाई दूसरे भाग से कम है । इस कारण पहले भाग को क्षुद्र और दूसरे भाग को वृहद आन्त्र कहते हैं ।

६–क्षुद्र आन्त्र (Small Intestine)

क्षुद्र आन्त्र को तीन भागों में विभक्त किया गया है । प्रथम १० इंच का मुड़ा हुआ भाग **ग्रहणी** कहा गया है । शेष आन्त्र का पहिला २/५ भाग **मध्यान्त्र**

(Jejunum) और दूसरा ३/५ भाग शेषान्त्र (Ilium) कहलाता है। क्षुद्र आन्त्र ऊपर की ओर पायलोरिक कपाटिका के निचले (ग्रहणी के ओर के) पृष्ठ से प्रारम्भ होता है और दूसरी ओर **शेषान्धान्त्र या ईलियोसीकल कपाटिका** (Ileocecal Valve) पर अन्त होता है जिसके दूसरी ओर से वृहद आन्त्र आरम्भ हो जाता है। उसका पहला भाग अन्धान्त्र (Coecum) है। इसी कारण कपाटिका का नाम शेषान्धात्र कपाटिका पड़ा है क्योंकि वह दोनों भागों के बीच में स्थित है।

क्षुद्रान्त्र की रचना : उदर को खोलकर देखने से क्षुद्रान्त्र की एक या डेढ़ इंच चौड़ी, चमकते हुए गुलाबी रंग की स्निग्ध और मुलायम नली कुंडलों के आकार में उदर
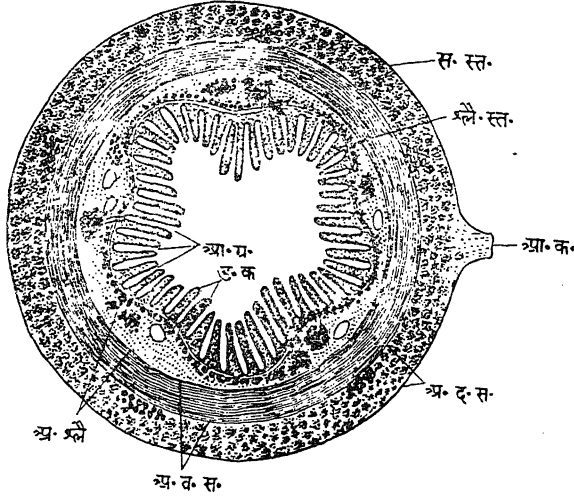
चित्र ८५--क्षुद्रान्त्र का चौड़ाई की ओर से काट (Transverse Section) दिखाया गया है

[१--स० स्त०, सीरीय स्तर २--श्ले० स्त०, श्लेष्मल स्तर ३--आ० क०, आन्त्रकला ४--अ० द० स०, अनुदैर्घ्य पेशी तन्तु ५--अ० व० स०, अनुवृत्त पेशी तन्तु ६--अ० श्ले०, अधो-श्लेष्मल स्तर ७--आ० ग्र०, आन्त्रग्रन्थि ८--उ० क०, उपकला जिस पर अंकुर लगे हुये हैं]

गुहा में भरी हुई दिखाई देती है। यह उदर की पश्च भित्ति पर एक चौड़ी कला द्वारा लगी हुई है जिसको आन्त्र-योजनी या मिजेन्टरी (Mesentery) कहते हैं। यह कला

सारे आन्त्र को संभाले रहती है। इसके दो परत होते हैं—नीचे के किनारे पर इन दोनों परतों के बीच में आन्त्र लिपटा हुआ है। यहाँ से ऊपर और पीछे को जाकर दोनों परतें उदर की पीछे की भित्ति पर लगे हुए हैं। इससे क्षुद्र आन्त्र के कुंडल पूर्णतया चलायमान रहते हैं। उदरगुहा में स्वतन्त्रतापूर्वक इधर-उधर डोलते रहते हैं। इसी कला में होकर वाहिनियाँ तथा तन्त्रिकायें आन्त्र में पहुँचती हैं। इस कला का जो भाग आमाशय तथा अनुप्रस्थ वृहदान्त्र को आच्छादित करके नीचे श्रोणि की ओर को लटका रहता है वह **वपा** (Omentum) कहलाता है।

आन्त्र को काट कर भीतर से देखने पर उसमें एक चौड़ा मार्ग या अवकाशिका (Lumen) दिखाई देती है। इसी मार्ग में पाचित द्रव आहार प्रवाह किया करता है।

इस मार्ग के चारों ओर नली में सबसे भीतर **श्लेष्मल** कला का स्तर है जिसमें बहुत अधिक सिलवटें पड़ी हुई हैं। इन सिलवटों के कारण इस कला का विस्तार आन्त्र की अपेक्षा कई सौ गुना बढ़ गया है। इस कला का काम पचे हुए आहार से रस का अव-शोषण करना है। प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट तथा स्नेह जब पाचक रसों की क्रिया से अपने अन्तिम रूप में आ जाते हैं तो उनका शोषण इस श्लेष्मल कला द्वारा होता है। इन पोषक अवयवों का पूर्ण अवशोषण हो सके इसी प्रयोजन से प्रकृति ने इतने थोड़े स्थान में इतनी अधिक श्लेष्मल कला को स्थापित किया है।

फिर आगे शोषण करने वाले पृष्ठ को और भी विस्तृत बनाने के लिये प्रकृति ने एक और अद्भुत् कर्म किया है। श्लेष्मल कला की सिलवटों पर उसने अनेक अंकुर लगा दिये हैं। इनको रसांकुर (Villi) कहते हैं। चित्र में दो रसांकुरों को उनकी लम्बाई की ओर से काट कर दिखाया गया है। प्रत्येक अंकुर के बीच में एक खाली नलिका अंकुर के अन्त तक जाती दीख रही है जो श्लेष्मल स्तर के बाहर अधोश्लेष्मल स्तर (Submucous Layer) में समान नलिकाओं के जाल में समाप्त हो जाती है। यह नलिका पायसनिका (Lacteal) कहलाती है। इसके द्वारा केवल स्नेह के अवयवों का अवशोषण होता है जिनको वह नलिका जाल में पहुँचा देती है जहाँ से वह अन्य बड़ी नलिकाओं द्वारा एकत्र होकर स्नैहिक अवयव रक्त में पहुँच जाते हैं।

रसांकुर में रसवाहिका के दोनों ओर काले रंग की रेखायें भी अंकुर के अन्त तक जाती हुई दिखाई गई हैं और उनका सूक्ष्म रेखाओं के साथ जाल-सा बना हुआ है। ये रक्तवाहिकायें धमनी और शिरायें हैं जिनका जाल फैला हुआ है। ये भी अधोश्लेष्मल स्तर की रक्तवाहिकाओं के जाल में जाकर मिल जाती हैं। प्रोटीन और कार्बोहाइड्रेट के पाचन से जो अंतिम रूप बनते हैं उनका अवशोषण रक्तवाहिकाओं द्वारा होता है। श्लेष्मल कला की सिलवटों और उन पर लगे हुए असंख्य रसांकुरों का यही **प्रयोजन** है।

(१) श्लेष्मल कला के बाहर के (२) अधोश्लेष्मल स्तर में कुछ अवकाशी ऊतक के भीतर रक्तवाहिकायें तथा तन्त्रिकाओं का जाल फैला हुआ है। इसके बाहर (३) वृत्ताकार पेशी तन्तुओं (Circular Muscle Fibres) का एक स्तर है और उसके बाहर (४) अनुदैर्घ्य पेशी तन्तु (Longitudinal Muscle Fibres) आन्त्र की लम्बाई की दिशा में स्थित हैं। वृत्ताकार तन्तु चौड़ाई की दिशा में वृत्त के रूप में आन्त्र मार्ग को घेरे हुए हैं। पेशी तन्तुओं के बाहर (५) पर्युदर्या कला (Peritoneum) का सूक्ष्म स्तर आन्त्र पर आच्छादित है जो आन्त्र भित्ति का एक भाग है और उससे पृथक् नहीं किया जा सकता।

चित्र ८९—अंकुर की रचना
[के०—केशिका ग्र०—ग्रन्थियाँ
श्ले० क०—श्लेष्मल कला,
पा०—पायसनी]
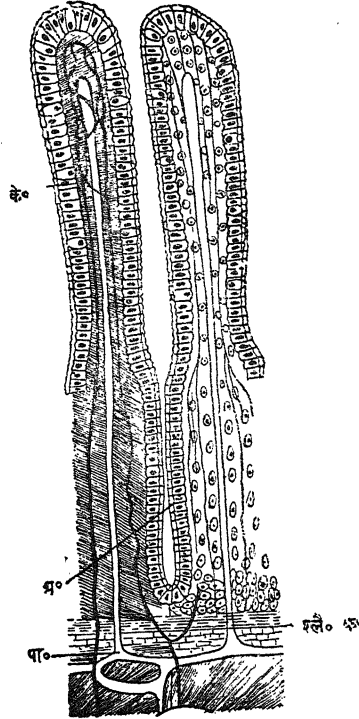
क्षुद्रान्त्र में पाचन : क्षुद्र आन्त्र में आन्त्र रस (Succus Entericus) बनता है। इसमें कई प्रकिण्व होते हैं। (१) ईरेप्सिन (Erepsin) प्रकिण्व की क्रिया पौलीपेप्टाइड और पैप्टोनों पर होती है। जो पैप्टोन ट्रिप्सिन की क्रिया से बच आते हैं वे ईरेप्सिन द्वारा पकड़ लिये जाते हैं और अमीनोअम्ल में विभंजित कर दिये जाते हैं।

(२) इसमें इनवर्टेज़, लेक्टेज़ और माल्टेज़ नामक प्रकिण्व भी होते हैं जो क्रमानुसार गन्ने की शर्करा तथा लैक्टोज और माल्टोज शर्कराओं को ग्लूकोज में परिवर्तित करते हैं। शरीर श्वेतसार और शर्करा को ग्लूकोज के रूप में ग्रहण करता है।

(३) लाइपेज़ प्रकिण्व स्नेह का ग्लीसरीन और वसाम्ल में विभंजन करता है।

(४) ऐन्टरोकाइनेज का अग्न्याशय रस के साथ उल्लेख किया जा चुका है। इसके बिना अग्न्याशय रस में क्रिया करने की शक्ति नहीं आती।

आन्त्र में जीवाणुओं की क्रिया (Bacterial Action)

जीवाणु अत्यन्त सूक्ष्म जीव होते हैं जो बिना अणुदर्शी की सहायता के नहीं देखे जा सकते। प्राय: इनका नाम रोगोत्पत्ति के सम्बन्ध में ही लिया जाता है। किन्तु ऐसे बहुत

जीवाणु होते हैं जो रोग उत्पन्न नहीं करते । बहुत-से तो हमारे लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। हमारी आन्त्रों में रहने वाले जीवाणु इसी श्रेणी के हैं। आन्त्र में ये जीवाणु भरे हुए हैं। इनकी संख्या इतनी अधिक होती है कि नित्यप्रति जो मल हमारे शरीर से निकलता है उसका अधिक भाग इन जीवाणुओं के शरीर का होता है। ये जीवाणु पाचन में सहायता करते हैं। कुछ जीवाणु प्रोटीन का संलयन करते हैं। वे प्रोटीन-संलायी (Proteolytic) हैं। कुछ स्नेह (Lipolytic) का संलयन करते हैं और कुछ की क्रिया कार्बोहाइड्रेट पर (Amylolytic) होती है। वनस्पतियों में, विशेषकर गोभी, आलू आदि में सैल्यूलोज (Cellulose) अधिक होता है। इस पर किसी पाचक रस की क्रिया नहीं होती। जीवाणु इसका भी भंजन कर डालते हैं। इससे मीथेन गैस आदि बनती हैं।

७—**वृहदान्त्र** (Large Intestine)

इसकी मुटाई क्षुद्रान्त्र की अपेक्षा अधिक होती है। यह नली अधिक चौड़ी है। वृहदान्त्र शेषान्त्र और अन्धान्त्र के बीच की कपाटिका के बाहरी पृष्ठ से जो अन्धान्त्र की ओर रहता है, प्रारंभ होता है। जहाँ क्षुद्रान्त्र और वृहदान्त्र का सम्मेलन होता है उसके आगे वृहदान्त्र का प्रथम फूला हुआ नीचे का भाग **अन्धान्त्र** (Coecum) कहलाता है। इस भाग के निचले सिरे से आगे और भीतर की ओर को एक मुड़ा हुआ पूंछ के समान नलिका के आकार का भाग निकला रहता है। इसको **उंडुक** या **एपेंडिक्स** (Vermiform Appendix) कहते हैं। शाकाहारी पशुओं में यह भाग एक विशिष्ट अंग होता है जो पाचन क्रिया में भाग लेता है। किन्तु मनुष्य में इसका कुछ काम न होने से वह केवल एक अवशेष मात्र रह गया है। इसी में शोथ हो जाने से एपेन्डीसाइटिस नामक भयंकर रोग होता है।

अन्धान्त्र से प्रारम्भ होकर वृहदान्त्र का प्रथम भाग दाहिने श्रोणिखात (Iliac Fossa) से सीधा ऊपर को यकृत के नीचे तक चला जाता है। यह **आरोही** वृहदान्त्र (Ascending Colon) कहलाता है। वहाँ से वह बाँये ओर को मुड़ जाता है और उदर को पार करता हुआ दाहिनी ओर से बाईं ओर को प्लीहा तक चला जाता है। आन्त्र का यह भाग **अनुप्रस्थ वृहदान्त्र** (Transverse Colon) कहलाता है। चित्र से मालूम होगा कि यह भाग कुछ नीचे की ओर को लटका रहता है। प्लीहा के पास पहुँच कर आन्त्र फिर नीचे की ओर को मुड़ता है। यहाँ से नीचे उतरने लगता है और श्रोणि में पहुँच जाता है। यह भाग **अवरोही वृहदान्त्र** (Descending Colon) कहलाता है। **श्रोणि में** का भाग **श्रोणिगत वृहदान्त्र** (Pelvic Colon) कहा जाता है। इसके आगे एक ९ इंच लम्बी सीधी नली है जिसकी रचना और आकार वृहदान्त्र से भिन्न हैं। यह

मलाशय (Rectum) है । यह नली मांस तन्तु निर्मित है जिसके भीतर की ओर श्लेष्मल कला का स्तर चढ़ा हुआ है और बाहर की ओर सीरीय स्तर से नीचे के थोड़े से भाग के अतिरिक्त आच्छादित है । इसी नली में बृहदान्त्र से मल आकर एकत्र होता है ।

मलाशय से आगे का एक या डेढ़ इंच लम्बा भाग गुदा (Anus) कहा जाता है जिसमें होता हुआ मल शरीर से गुदद्वार (Anal Orifice) से होकर बाहर
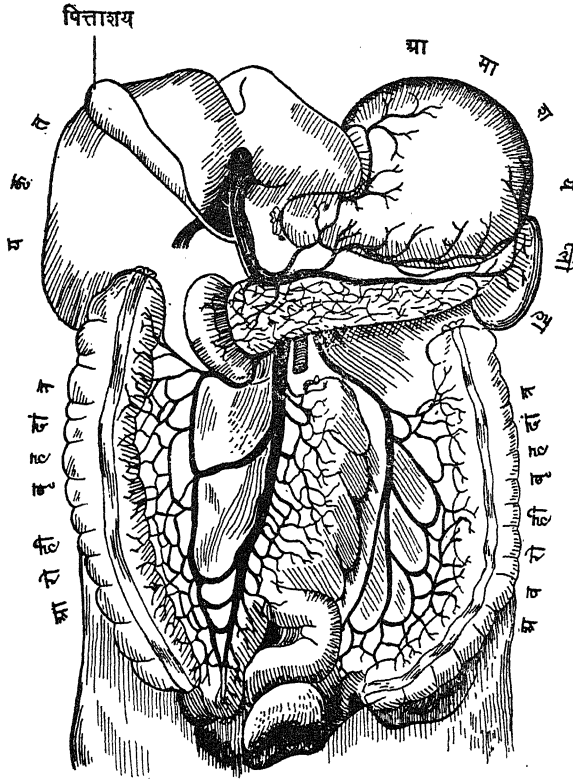
चित्र ८७—क्षुद्रान्त्र को निकाल कर और यकृत को उलट कर पीछे की संस्थनायें दिखाई गई हैं ।

निकल जाता है । इसके चारों ओर **गुद संवरणी** पेशी (Sphincter Anii) के वृत्ताकार तन्तु स्थित हैं जिनके संकोच से गुदाद्वार बन्द हो जाता है । ये वास्तव में दो पेशी हैं । एक पेशी तो गुदाद्वार को ही घेरे हुए है और दूसरा इससे ऊपर की ओर स्थित है । यह अधिक विस्तृत है ।

यह् दीर्घ लम्बी नली, पोषण नाल (Alimentary Canal) मुख से प्रारम्भ होकर गुदद्वार पर समाप्त होती है। इसके एक सिरे पर आहार इसमें प्रवेश करता है और सारी नली को पार करने के पश्चात् उसका अवशेष मलद्वार से २२ घंटे के पश्चात् निकल जाता है। इस लम्बी नली पर कितनी ही प्रयोगशालायें स्थित हैं जिनमें आहार को पीसा जाता है, कितने ही रासायनिक और जैवी (Biological) द्रव्यों से उसको गलाया
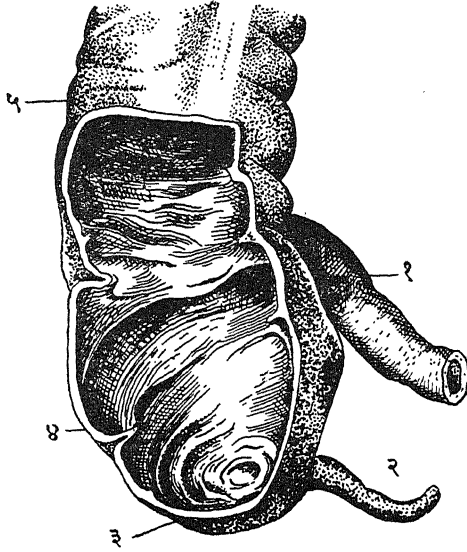
चित्र ८८—वृहदान्त्र का प्रारम्भ
[१—क्षुद्रान्त्र का अंतिम भाग जो बृहदान्त्र से मिल रहा है २—उण्डुक
३—अंधान्त्र का सिरा जिसमें उण्डुक का छिद्र दीख रहा है
४—अंधान्त्र]

जाता है, उसको अत्यन्त सूक्ष्मतम कणों और घटकों में विभक्त कर दिया जाता है और उसमें जितना भी पोषक द्रव्य होता है उसको सोख लिया जाता है जिससे शरीर की पुष्टि होती है। जो अवशेष रह जाता है उसको शरीर से बाहर निकाल दिया जाता है। यही इस दीर्घ नाल का कर्म है।

वृहदान्त्र की क्रिया : इस अंग का विशेष काम जलका अवशोषण है। कुछ लवणों का भी शोषण होता है। पचा हुआ आहार साढ़े चार घंटे के पश्चात् अन्धान्त्र में आने लगता है और २२ घंटे तक वृहदान्त्र ही में रहता है। आने के समय उसमें जल की काफी

मात्रा रहती है। इस लम्बे काल में वृहदान्त्र जल का शोषण कर लेता है और मल
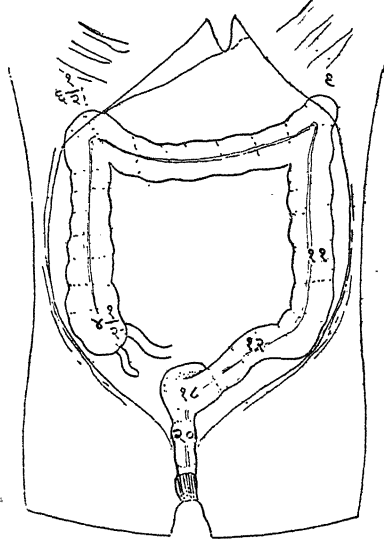
चित्र ८६—वृहदान्त्र में भिन्न-भिन्न भागों में पाचित आहार का समय घंटों में अंकित है।

कड़ा पड़ जाता है। कोष्ठबद्धता या कब्ज इसी अंग की शिथिलता का परिणाम होता है।

आन्त्र में गतियाँ (Movements)

आन्त्र-गति : (Peristalsis) : आन्त्रनाल के एक सिरे से दूसरे सिरे तक आहार यात्रा करता चला जाता है। इसका कारण आन्त्र-गति होती है जो उसको निरन्तर आगे को धकेलती रहती है। आमाशय तथा सारे आन्त्र में यह गति होती है। यह गति पेशी तन्तुओं के संकोच और शिथिलन (Relaxation) का परिणाम होता है। गत पृष्ठों में बताया गया है कि आन्त्र में पेशी-तन्तु अनुदैर्घ्य और अनुप्रस्थ दो दिशाओं में स्थित हैं। अनुदैर्घ्य तन्तु लम्बाई की दिशा में स्थित होने के कारण उनके संकोच से नाल की लम्बाई कम होती है। अनुप्रस्थ तन्तु वृत्ताकार स्थिति में नाल को चौड़ाई की दिशा में घेरे हुए हैं। इनके संकोच से नाल की चौड़ाई कम हो जाती है। इस प्रकार ये दोनों तन्तु बारी-बारी से संकोच करके आहार को आगे को बढ़ाते रहते हैं।

(२) खंडीभवन (Segmentation) : दूसरे प्रकार की गति वह है जिससे आहार और पाचक रस का पूर्ण सम्मिश्रण होता है। नाल की दीवार में किसी स्थान

पर तन्तुओं का एक खंड संकुचित हो जाता है। यह संकोच चौड़ाई की ओर स्थित एक उभार के समान बन जाता है। यह उभार फिर दो समान भागों में विभक्त हो जाता है और दोनों विभाग आगे को या इधर-उधर को चल देते हैं। इनका भी फिर इसी प्रकार विभाजन हो जाता है। ये खंडीभवन गति कहलाती है।

अवशोषण (Absorption) : क्षुद्रान्त्र के संबंध में अवशोषण की क्रिया बताई जा चुकी है। यह क्रिया बहुत कुछ भौतिक नियमों का पालन करती है। किन्तु जीवित वस्तु होने के कारण शरीर की कोशिकाओं में चुनाव की शक्ति (Power of Selection) है। वे उपयोगी वस्तु का तुरन्त अवशोषण कर लेती हैं, शेष को छोड़ देती हैं। कुछ विषैले रासायनिक पदार्थों का भी शोषण हो जाता है। किन्तु वह भौतिक क्रियाओं द्वारा होता है।

यह बताया जा चुका है कि प्रोटीन अथवा अमीनोअम्लों और कार्बोहाइड्रेटों का अवशोषण क्षुद्रान्त्र की श्लेष्मल कला के रसांकुरों की रक्तवाहिकाओं द्वारा और स्नेह का पायसनिकाओं (Lacteal) द्वारा होता है।

यकृत (Liver)

यकृत मनुष्य के शरीर की सबसे बड़ी ग्रंथि है जो उदर में दाहिनी ओर पर्शुकाओं के नीचे स्थित है। इसके कर्म जीवन के लिए अत्यन्त महत्वशाली हैं। इसका महत्व इसी से समझा जा सकता है कि जिन जन्तुओं में से इसको निकाल दिया गया उनकी २४
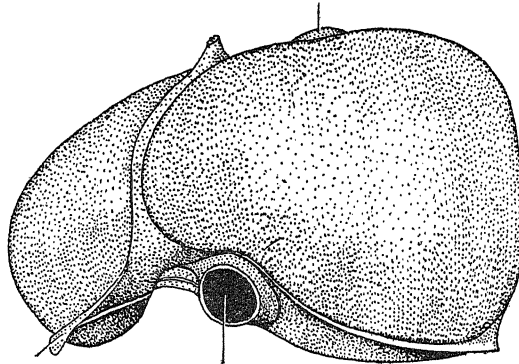
चित्र ६०—यकृत का सामने पृष्ठ (अधोधारा के नीचे पित्ताशय का भाग दीख रहा है)

घंटे के भीतर ही मृत्यु हो गई। इसका रंग गहरा भूरा होता है। इसके नीचे के पृष्ठ पर हरे रंग का पित्ताशय लगा होता है। इसके नीचे के सिरे पर एक भंगिका

(Notch) है जो यकृत-द्वार (Porta Hepatis) कहलाती है। इसमें होकर यकृत धमनी और प्रतिहारिणी शिरा (Hepatic Artery, Portal Vein) यकृत में आती है और यकृत शिरा और यकृतवाहिका (Hepatic Vein and Duct) बाहर जाती हैं।

(अ) **यकृत धमनी** औदरीय महाधमनी की एक शाखा है जो यकृत में शुद्ध रक्त ले जाती है जिससे यकृत की कोशिकाओं का पोषण होता है।
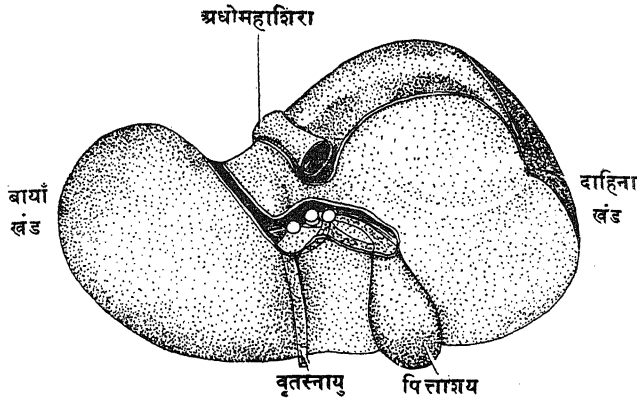
चित्र ९१—यकृत का अधोपृष्ठ जिस पर पित्ताशय, यकृत-द्वार और अधोमहाशिरा दिखाये गये हैं

(क) **प्रतिहारिणी शिरा** में आमाशय, अन्त्रियों, अग्न्याशय और प्लीहा से सूक्ष्म शाखाओं और केशिकाओं द्वारा रक्त लौट कर आता है। यह वह रक्त है जो इन अंगों में संचार कर चुका है और इस कारण कुछ नीलिमायुक्त होता है। यह शिरा प्लीहा शिरा और ऊर्ध्व आन्त्रयोजनी (Splenic and Superior Mesenteric Veins) से बनती है। इस शिरा की विशेषता यह है कि यह यकृत के भीतर पहुँच कर यकृत की खंडिकाओं (Lobules) के बीच में और उनके भीतर धमनी की भाँति केशिकाओं में विभाजित हो जाती हैं जिससे शिरा द्वारा आया हुआ रक्त यकृत की कोशिकाओं के बीच में संचार करता है और उनके सम्पर्क में आता है। शरीर में यकृत ही ऐसा अंग है जहाँ कोशिकाओं और रक्त का पूर्ण सम्पर्क होता है।

प्रतिहारिणी शिरा की खंडिकान्तर शाखायें (Interlobular) यकृत की खंडिकाओं के बीच में रहती हैं। इनसे सूक्ष्म शाखायें निकल कर खंडिकाओं के भीतर चली जाती हैं जो अन्तर्खंडिका (Intralobular) शाखा कहलाती है। ऐसी कई शाखाओं के खंडिका से बाहर निकल कर उनके नीचे मिल जाने में अधोखंडिका (Sublobular)

शाखा बनती है। अधोखंडिका शाखायें मिलकर यकृत शिरा (Hepatic Vein) बना देती हैं जिसके द्वारा रक्त लौट कर महाशिरा में पहुँच जाता है।

(च) **यकृत शिरा** : यह प्रतिहारिणी शिरा और यकृत धमनी द्वारा यकृत में आये हुये रक्त को लौटाकर महाशिरा में पहुँचाती है।

(व) **यकृत वाहिका** : यकृत से निकलने वाली दो पित्तवाही नलिकाओं के मिलने से बनती है। इसकी एक शाखा पित्त को पित्ताशय में ले जाती है और वह स्वयं अग्न्याशय वाहिका (Pancreatic Duct) के साथ मिलकर सामान्य पित्तवाहिका (Common Bile Duct) के रूप में एक छिद्र द्वारा ग्रहणी में खुलती है।

यकृत शरीर की बहुत बड़ी रासायनिक प्रयोगशाला है जिसमें अनेक रासायनिक क्रियायें होती रहती हैं। उन सबों का उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं है। यकृत के विशेष कर्म निम्नलिखित हैं :

(१) **पित्त को बनाना** : यकृत की खंडिकाओं की कोशिकाओं में तैयार होकर **यकृतवाहिनी** (Hepatic Duct) द्वारा पित्त पित्ताशय तथा ग्रहणी दोनों में पहुँच जाता है। जिस समय पाचन होता रहता है पित्त यकृतवाहिनी से सामान्य पित्तनलिका में होता हुआ ग्रहणी में चला जाता है। जब पाचन नहीं होता, आमाशय और ग्रहणी खाली होते हैं तो पित्त पित्ताशयवाहनी (Cystic Duct) में होकर पित्ताशय में पहुँकर एकत्र होता रहता है और वहाँ से पाचन के समय फिर ग्रहणी में पहुँच जाता है। स्वयं पित्त में कोई प्रकिण्व नहीं हैं। किन्तु वह अन्य पाचक प्रकिण्वों का सहायक है। इस कारण पाचन क्रिया में पित्त का विशेष स्थान है।

(२) यकृत ग्लूकोज को ग्लाइकोजिन (Glycogen) में परिर्वतित करके अपने में एकत्र कर लेता है। जब शरीर को आवश्यकता होती है तो उसको फिर से ग्लूकोज में बदल कर शरीर में भेज देता है। यह ग्लूकोज को ग्लाइकोजिन में और ग्लाइकोजिन को ग्लूकोज में परिर्वतित करने का यकृत ही का काम है।

(३) यकृत का तीसरा बड़े महत्व का काम शरीर में उत्पन्न हुए जैवविषों (Toxins) का निराकरण करना है। इसको **निर्जीवविषीकरण** (Detoxicating Action) कहते हैं। प्रोटीन के पाचन से बने हुए अनेक अमीनोअम्ल शरीर के काम में नहीं आते। उनके उसी रूप में शरीर में रह जाने से शरीर को हानि पहुँचती है। यकृत उनका भंजन करके यूरिया, यूरिक अम्ल, क्रियेटिन, क्रियेटिनिन, ज़ैन्थिन आदि अकार्बनिक योग बना देता है जो मूत्र द्वारा शरीर से निकल जाते हैं।

(४) यकृत कई विटामिनों को बनाता है जिनमें से एक का रक्तोत्पत्ति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।

(५) रक्तक्षीणता (Anaemia) दूर करने वाला एक विशिष्ट पदार्थ यकृत में बनता है।

(६) यकृत में एक वस्तु हिपेरिन (Heparin) बनती है जो रक्त को जमने नहीं देती।

(७) रक्त में फाइब्रिन (Fibrin) उत्पन्न करने वाली फाइब्रिनोजन (Fibrinogen) यकृत में बनती है।

(८) रासायनिक और जीवाणुओं से उत्पन्न हुए कितने ही विषों का भी यकृत नाश करता है और पित्त के साथ पुनः ग्रहणी में भेज कर मल के साथ उनका शरीर से त्याग कराता है।

(९) अनुपयुक्त अमीनो अम्लों से यकृत यूरिया और यूरिक अम्लों को तैयार करता है। अन्य बहुत-सी रासायनिक क्रियायें भी यकृत में होती रहती हैं।

पाँचवाँ परिच्छेद

भोजन, आहार या खाद्य

(Food)

हमारा शरीर रात-दिन काम किया करता है। जब हम सोते हैं तो भी शरीर के बहुत-से अंग निरन्तर काम करते रहते हैं। हृदय धड़कता ही रहता है। शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में रक्त संचार जारी रहता है। यद्यपि मस्तिष्क सुषुप्ति अवस्था में रहता है तो भी उससे कुछ न कुछ उत्तेजनायें शरीर में आया करती हैं। जागृत अवस्था में तो शरीर सदा ही परिश्रम करता रहता है।

इन सब कामों को करने के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है जिसको ऊर्जा (Energy) कहते हैं। प्रत्येक मशीन को ऊर्जा चाहिए। वह ऊर्जा के बिना काम नहीं कर सकती। ऊर्जा का कोई भी रूप हो, रासायनिक, विद्युत् अथवा यांत्रिक—उसमें ऊर्जा पहुँचना आवश्यक है। उसके बिना मशीन काम नहीं कर सकती। हमारा शरीर भी एक मशीन है। अतएव उसको कहीं न कहीं से ऊर्जा मिलनी चाहिए जिससे वह काम कर सके।

यह ऊर्जा हमको भोजन से मिलती है। हम जो नित्यप्रति तीन या चार बार, अथवा कम से कम दो बार आहार करते हैं उसी से काम करने की ऊर्जा उत्पन्न होती है। ऊर्जा को ताप के रूप में नापा जाता है जिसकी इकाई (Unit) केलोरी मानी गई है। जो आहार हम करते हैं उसका शरीर में दहन (Combustion) होता है। दहन एक रासायनिक क्रिया है जो आक्सिजन के संयोग से होती है। रक्त आक्सिजन को शरीर के प्रत्येक भाग से प्रत्येक अंग में पहुँचाता रहता है और वहाँ प्रत्येक समय यह क्रिया होती रहती है जिसके परिणामस्वरूप ऊर्जा अथवा ताप उत्पन्न होता है। जो भोजन हम खाते हैं उसका रस रक्त द्वारा शरीर के अंग-प्रत्यंग में पहुँचता है जब प्रत्येक ऊतक का सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग इस रस का अपना भाग पा जाता है तब उसका आक्सिजन के साथ संयोग होता है और दहन की क्रिया होती है जिसका दूसरा रासायनिक नाम **आक्सीकरण** या **उपचयन** (Oxidation, Ketabolism) है। इससे ताप, ऊर्जा या शक्ति उत्पन्न होती है। जब हमको भोजन नहीं मिलता तो हमको क्षुधा मालूम होती है। हमारा शरीर शिथिल हो जाता है। उसमें काम करने की शक्ति नहीं रहती। क्षुधा (Hunger) इस बात की सूचक है कि शरीर में ऊर्जा या ताप उत्पन्न करने

वाले पदार्थों की कमी हो गई है। शरीर की माँग है कि उसको शक्ति उत्पन्न करने के लिए भोजन मिलना चाहिए।

हमारे शरीर में अंग, हाथ, पाँव, बाहु, जंघा के अतिरिक्त अभ्यन्तरांग (Internal Organs) जो वक्ष, उदर या कपाल की गुहाओं में स्थित हैं उनमें भी काम करने से सदा टूट-फूट होती रहती है। उनकी कोशिकायें अपना कर्म करते-करते अन्त को नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार की टूट-फूट मस्तिष्क के अतिरिक्त, प्रत्येक अंग में होती रहती है। इस क्षति की पूर्ति के लिए, नई कोशिकाओं को बनाने के लिए, भी आहार की आवश्यकता होती है।

अतएव भोजन या आहार के तीन प्रयोजन होते हैं :

(१) काम करने के लिए आवश्यक ऊर्जा की उत्पत्ति,

(२) शरीर के अंगों का निर्माण, उनके नष्ट हुए भागों को फिर से बनाना और

(३) शारीरिक क्रियाओं का उपयुक्त सम्पादन।

इसके अतिरिक्त बच्चे और बालकों के शरीर की वृद्धि के लिए ऊतकों को बनाने के हेतु भी आहार की आवश्यकता होती है।

भोजन के विशिष्ट घटक (Essential Constituents) : भोजन-पदार्थों में कुछ ऐसे अवयव होते हैं जो प्रत्येक भोज्य-पदार्थ में पाये जाते हैं। किसी पदार्थ में कोई अवयव कम होता है, किसी में कोई अधिक होता है। ये अवयव निम्नलिखित हैं :

(१) प्रोटीन (Protein) : इनमें कार्बन, नाइट्रोजन, हाइड्रोजन और आक्सिजन होते हैं। इनके अतिरिक्त गंधक, फास्फोरस आदि भी पाये जाते हैं। ये अवयव पाशविक पदार्थों में अधिक होते हैं। दूध, मांस, अंडा, मछली आदि में इनका भाग अधिक होता है। वानस्पति पदार्थों में भी ये विद्यमान रहते हैं, विशेषकर दालों में तथा गेहूँ, चना जौ आदि में। किन्तु पाशविक पदार्थों की अपेक्षा उनकी मात्रा कम होती है।

(२) कार्बोहाइड्रेट (Carbohydrate) : इनमें नाइट्रोजन नहीं होती। आक्सिजन और हाइड्रोजन उसी निष्पत्ति में रहती है जैसी जल (H_2O) में, अर्थात् एक भाग आक्सिजन और दो भाग हाइड्रोजन (Hydrogen), कार्बन भी होता है। चावल, आलू तथा अन्नों में इसकी मात्रा अधिक होती है। शर्करा शुद्ध कार्बोहाइड्रेट है। अन्न के दानों को पीसने से जो स्टार्च या श्वेतसार या मंड (Starch) निकलता है वह भी शुद्ध कार्बोहाइड्रेट है।

(३) स्नेह (Fat) : ये भी कार्बन, हाइड्रोजन और आक्सिजन से बनते हैं। किन्तु इनकी निष्पत्ति कार्बोहाइड्रेट से भिन्न होती है। मक्खन में ९० प्रतिशत स्नेह होता है। घी शुद्ध स्नेह है। तेल भी शुद्ध स्नेह ही है, यद्यपि उनमें अन्य अवयवों की अत्यल्प मात्रा रहती है। सब स्निग्ध पदार्थों में स्नेह की मात्रा अधिक होती है।

(४) **लवण :** सोडियम, पोटेशियम, कैलसियम, लौह आदि के क्लोराइड, कार्बोनेट, फास्फेट या सल्फेट लवण, विशेषकर वानस्पतिक पदार्थों में प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। शरीर में ये लवण बहुत मात्रा में होते हैं। ये शरीर के लिये बड़े उपयोगी हैं। कैलसियम फास्फेट अस्थि निर्माण के लिए अत्यन्त आवश्यक है। दूध में इसकी प्रचुर मात्रा होती है। इस कारण दूध शिशु तथा बालकों का अत्यावश्यक आहार है। सोडियम क्लोराइड आमाशयिक रस तथा अन्य कई शारीरिक स्रावों के लिए आवश्यक है। लौह रक्त के लिए अत्यावश्यक है। उसकी कमी से रक्तक्षीणता (Anaemia) नामक रोग हो जाता है।

प्रत्येक भोज्य-पदार्थ में ये लवण रहते हैं जिनको शरीर अपनी आवश्यकतानुसार ग्रहण कर लेता है। हरे फलों, सन्तरा, नीबू, अंगूर, अनार, इमली आदि में जो लवण होते हैं वे रक्त की क्षारीयता को बनाये रखने का महत्त्वपूर्ण कर्म करते हैं। हरे फल स्वास्थ्य के लिये बहुत आवश्यक हैं।

(५) **विटामिन** (Vitamin) : ये स्वास्थ्य तथा शरीर की वृद्धि के लिए अत्यावश्यक अवयव पाई गई हैं। इनकी खोज पिछले ५० वर्ष से अधिक की नहीं है। ये कई प्रकार की होती हैं जो शरीर की भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं को पूरी करती हैं।

(६) **जल :** शरीर में $\frac{2}{3}$ भाग जल होता है। शरीर से सदा जल निकला करता है। मूत्र, मल, स्वेद के अतिरिक्त त्वचा से उसका वाष्पीभवन होता रहता है जिसका हमको पता भी नहीं चलता। इस कारण शरीर को जल की सदा आवश्यकता रहती है जिसकी प्यास विशेष सूचक है। प्यास लगने का अर्थ है कि शरीर में जल की कमी हो रही है।

जल पीने के अतिरिक्त वह हमको भोज्य-पदार्थों से भी मिलता है। प्रत्येक पदार्थ में जल होता है। फल, शाक आदि में तो जल अत्यधिक होता है। किन्तु अन्य जो शुष्क पदार्थ दीखते हैं जैसे अन्न के दाने, उनमें भी जल रहता है या पकाते समय मिलाया जाता है।

प्रत्येक भोज्य-पदार्थ में ये छः अवयव होते हैं। किसी पदार्थ में कोई अधिक होता है कोई कम।

ऊपर कहे अवयवों के अनुसार भोज्य-पदार्थों को दो श्रेणियों में बाँटा गया है—एक **नाइट्रोजनयुक्त** (Nitrogenous) और दूसरा **नाइट्रोजनहीन** (Non-nitrogenous)।

कर्मों के अनुसार भी ये तत्व तीन प्रकार के हैं, **संरक्षी** (Protective Foods), **ऊर्जोत्पादक** (Energy Producing) और शरीर निर्माण करने वाले (Body Building)। संरक्षी अवयव शरीर की रोगों से रक्षा करते हैं। दूध, मांस, अंडा, हरे फल तथा शाक संरक्षी पदार्थ हैं। ये शरीर में रोगों के निवारण करने तथा उनका प्रतिरोध करने की शक्ति उत्पन्न करते हैं।

के इरेप्सिन नामक प्रकिण्वों तथा जीवाणुओं की क्रिया से प्रोटीनों का पूर्ण पाचन होने के पश्चात् वे अमीनो अम्लों के रूप में आ जाते हैं। इनको रक्त ऊतकों की कोशिकाओं के पास पहुँचा देता है और कोशिकायें उनका फिर से संश्लेषण करके अपने लिए उपयुक्त प्रोटीन तैयार कर देती हैं।

कार्बोहाइड्रेट भी कई प्रकार के होते हैं। पौलीसैकेराइड (Polysaccharide) के अणु बहुत बड़े होते हैं जैसे सैल्यूलोज जो जल में नहीं घुलते। जो घुले से दीखते हैं जैसे ग्लाइकोजिन, वे अत्यन्त सूक्ष्म कणों में विभक्त होकर जल में आलम्बित रह जाते हैं। वे कालाइड (Colloid) रूप में आते हैं और उनका **आलम्बन** (Suspension) बन जाता है। (२) **डाइ-सैकेराइड** (Disaccharide) का अणु पौली से छोटा किन्तु मोनोसैकेराइड से बड़ा होता है। गन्ने की शर्करा, माल्टोज, लैक्टोज (दुग्ध शर्करा) डाइ-सैकेराइड हैं। (३) पाचक रसों की क्रिया से इनका विश्लेषण होकर ग्लूकोज फ्रुक्टोज (फल शर्करा) आदि **मोनोसैकेराइड** (Monosaccharide) बन जाते हैं।

कार्बोहाइड्रेट का पाचन : लाला रस के टायलिन और आमाशयिक, अग्न्याशयिक तथा आन्त्र रसों के ऐमाइलेज प्रकिण्वों की क्रिया से सब प्रकार के कार्बोहाइड्रेट ग्लूकोज में परिवर्तित हो जाते हैं जो रक्त द्वारा क्षुद्रान्त्र से शोषित होकर पेशियों के पास पहुँच जाती है। वहाँ उसकी सदा आवश्यकता रहती है। आवश्यकता से अधिक मात्रा यकृत के पास लौट जाती है जो इसको ग्लाइकोजिन में परिवर्तित करके अपने में संग्रह कर लेता है। पेशियों में आक्सीकरण या दहन की क्रिया से ग्लूकोज अन्त में कार्बन डाइ-आक्साइड तथा जल में विश्लिष्ट हो जाती है।

स्नेह, वसा और **तैल** (Fats & Oils) : भोज्य-पदार्थों में उपस्थित स्निग्ध भाग को स्नेह कहते हैं। जब वह शरीर में एकत्र हो जाता है और ठोस दानों के रूप में पाया जाता है तो वह वसा कहा जाता है। तैल शुद्ध वसा या स्नेह है। इन तीनों का रासायनिक संगठन समान है, उनमें कोई अन्तर नहीं।

ये पदार्थ वसाम्ल और ग्लिसरौल या ग्लिसरीन के संयोग से बनते हैं। तैल या घी २० सेन्टीग्रेड पर भी नहीं जमते। शरीर की वसा जम जाती है। ये जल में नहीं घुलते। ये कार्बन, हाइड्रोजन और आक्सिजन के संयोग से बनते हैं।

पाचन : पाचक रसों में उपस्थित लाइपेज प्रकिण्व तथा जीवाणुओं की क्रिया से स्नेह या वसा वसाम्ल और ग्लिसरीन में विभक्त हो जाते हैं। इसी रूप में इनका अवशोषण होता है। किन्तु शोषित होते ही फिर से संश्लिष्ट हो जाते हैं। रसांकुरों की कोशिकाओं में इनके संश्लेषण की शक्ति मालूम होती है।

कार्बोहाइड्रेड की भाँति स्नेह भी शक्ति उत्पादक है। स्नेह कार्बोहाइड्रेट की अपेक्षा ढाई गुणा शक्ति उत्पन्न करता है। यह प्रकृति का शक्ति का रक्षित भंडार

(Reserve Store) है। शरीर कार्बोहाइड्रेट न मिलने पर इस भंडार का उपयोग करता है। स्नेह या वसा भी शरीर में अन्त में जल और कार्बन डाइ-आक्साइड में परिवर्तित हो जाते हैं और इसी रूप में शरीर का त्याग करते हैं।

विटामिन : स्वास्थ्य के लिए विटामिन अत्यन्त आवश्यक अवयव हैं। ये विशिष्ट रासायनिक संगठन की वस्तुएँ हैं जिनको अब प्रयोगशालाओं में तैयार कर लिया गया है।

विटामिन दो प्रकार की होती हैं (१) **जल विलेय** (Water Soluble) और (२) **स्नेह विलेय** (Fat Soluble)। पहली विटामिन जल में घुलती है। अतएव वह हरे फलों, शाकों आदि में विद्यमान होती हैं। दूसरी विटामिन दूध, घी, मक्खन, दही, यकृत तथा कुछ मछलियों के शरीर में रहती है। विटामिनों को उनके रासायनिक संघटन तथा शरीर पर प्रभाव के कारण विटामिन 'ए', 'बी', 'सी', 'डी', 'ई' और 'के' कहा गया है। कुछ अन्य विटामिन भी पाई गई हैं।

विटामिन 'ए' : इसका मुख्य स्रोत काड, हैलीबट, शार्क तथा दांतुर (Saw-fish) मछलियों के यकृत हैं जिनसे यह विटामिन तैयार की जाती है। मक्खन के १०० ग्राम में ६०० से ६,००० अन्तर्देशीय मात्रक (International Units) पाये गये हैं। घी में उपस्थित विटामिन की घी को पकाने से क्षति होती है। भैंस के दूध में इसकी अत्यल्प मात्रा होती है। गौ के दूध में यह अधिक होती है। इसका एक पूर्व रूप **केरोटिन** (Carotin) होता है जिसको शरीर स्वयं विटामिन 'ए' में बदल देता है। यह गाजर में बहुत होती है। यह हरे और पीले पत्ते वाले कुछ शाकों में तथा पके फलों में भी पाई जाती है जैसे सोया, पालक, धनिया, आम, पपीता, टमाटर, सन्तरे आदि।

यह विटामिन शरीर की वृद्धि के लिए अत्यन्त आवश्यक है और शरीर में संक्रामक रोगों का प्रतिरोध करने की शक्ति उत्पन्न करती है। इस कारण शिशु और बालकों के आहार में यह अवश्य मिलनी चाहिए। स्त्रियों को गर्भावस्था तथा शिशु को दूध पिलाने के दिनों में इसकी अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है।

स्वास्थ्य के लिए इसकी ४,००० मात्रक प्रतिदिन उपयुक्त मात्रा मानी गई है। युवा व्यक्ति को दो छटाँक हरे पत्ते वाले शाक से यह मात्रा प्राप्त हो सकती है। किन्तु बालकों को दूध और मक्खन के रूप में भी अवश्य मिलनी चाहिए।

अन्वेषण से हमारे देश की जनता में विटामिन 'ए' की बहुत न्यूनता पाई गई है। इस दशा को विटामिनहीनता (Avitaminosis) कहते हैं। यह दशा अस्वस्थता तथा अन्य कितने ही रोगों के लिये उत्तरदायी होती है।

विटामिन 'बी' : यह जल में घुलने वाली कई विटामिनों का समूह है जिसको **विटाबिन-बी-समग्र** (Vitamin B-complex) कहते हैं। इस समूह मे थियामिन, राइबोफ्लेविन, निकोटिनक एसिड या नियासिन, पैन्टोथीनिक एसिड, पायरिडौकिसन, फौलिक एसिड, बायोटिन और बी$_{१२}$ मुख्य वस्तु हैं।

थियामीन, जिसको विटामीन बी, कहते हैं **बेरी-बेरी** (Beriberi) रोग को रोकने वाली होती है। इसकी न्यूनता से बेरी-बेरी रोग हो जाता है जिसमें कुछ रोगियों का शरीर सूज जाता है और हृदय दुर्बल हो जाता है। अन्य प्रकार के रोगियों में हाथ-पाँव बेकाम हो जाते हैं, उनको अंगघात (Paralysis) हो जाता है। इस प्रकार के रोग में तन्त्रिकाओं पर विशेष प्रभाव होता है। यह विटामिन उन सब अन्न के दानों में रहती है जिनका मिलों में कूट कर छिलका पृथक् नहीं कर दिया गया है। यह चावलों में दानों के बाहरी परत में रहती है जो कुटने के समय छिलके के साथ पृथक् हो जाती है जिससे विटामिन की हानि होती है। इसी कारण मिल का कुटा हुआ चावल इस रोग का विशेष कारण पाया गया है। मिल के कुटे चावल की अपेक्षा **सैला** या **उसना** (Parboiled) चावल उत्तम होता है। धान को उबालने से यह विटामिन बाहरी परत से दाने के भीतर के श्वेतसार के कणों में चली जाती है। इस कारण ऐसे चावल से इतनी हानि नहीं होती। गेहूँ के दानों में यह विटामिन बाहरी छिलके, चोकर (Bran) तथा भीतर गिरी (Kernel) में रहती है। मूँगफली, दाल और यीष्ट में भी यह बहुतायत से होती है।

स्वास्थ्य के लिए ३३० अन्तर्देशीय मात्रक या १ मिलीग्राम प्रतिदिन पर्याप्त माने जाते हैं। रोग में अधिक मात्रा आवश्यक होती है। जिनका आहार मुख्यतया अन्न ही का होता है, उनको थियामीन की अधिक आवश्यकता होती है।

अन्य 'बी' विटामिनों की न्यूनता से कई प्रकार के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। जिह्वा तथा मुख के कोनों का लाल हो जाना, उन पर व्रणों की उत्पत्ति, चर्मशोथ, नेत्र के विकार-कार्निया पर व्रण, फुल्ली, आँख आना, नेत्र से जलस्राव आदि लक्षणों के लिए राइबोफ्लेविन को उत्तरदायी बताया जाता है। निकोटिनिक अम्ल की न्यूनता से पैलाग्रा रोग उत्पन्न होता है।

इस समूह की सब विटामिनें अन्न वर्ग, फल तथा हरे शाकों में पाई जाती हैं। किन्तु अधिक पकाने से उनका ह्रास हो जाता है। दूध तथा अंडे में भी ये विटामिनें पाई जाती हैं। हरे फल विशेषकर सन्तरा, नीबू, मौसमी इन विटामिनों के उत्तम स्रोत हैं।

विटामिन 'सी' : ऐस्कोर्बिक अम्ल (Ascorbic Acid) इसका रासायनिक नाम है। इसकी कमी से मसूड़े सूज जाते हैं और उनसे रक्त निकलने लगता है। शरीर के अन्य स्थानों से तथा भीतरी अंगों से रक्त स्राव (Haemorrhage) होता है जिससे रोगी की मृत्यु हो सकती है। यद्यपि यह प्रत्येक हरे शाक में उपस्थित होती है किन्तु वायु तथा धूप के सम्पर्क से शीघ्र ही नष्ट हो जाती है। दो-तीन दिन रखे हुए शाकों की जो पीले पड़ने लगते हैं, बहुत कुछ विटामिन नष्ट हो चुकती है। अन्न के दानों में यह नहीं होती। किन्तु उनमें जब किल्ले उगने लगते हैं तो यह विटामिन उत्पन्न हो जाती है। अंकुरित चने के दानों का इसीलिए बहुत प्रयोग किया जाता है। दानों को २४ घंटे तक

जल में भिगोने के पश्चात् जल से निकाल कर किसी मोटे किन्तु गीले वस्त्र पर रख देते हैं और एक गीले वस्त्र से ढक देते हैं। दो या तीन दिन में दानों से हरे अंकुर निकलने लगते हैं। जब लगभग १ इंच लम्बे आकार के अंकुर हो जायँ तो दानों को चीनी के साथ या तवे पर थोड़े घी के साथ हलका भून कर और नमक मिला कर खाया जाय। वे स्वादिष्ट और गुणकारी होते हैं।

विटामिन 'सी' सब फलों में होती है। आँवले में विशेषकर अधिक होती है। एक आँवले में तीन या चार सन्तरों के समान होती है। आँवला ही एक ऐसा फल है जिसमें यह विटामिन सुरक्षित रहती है, नष्ट नहीं होती। इसका कारण आँवले के अन्य अवयव हैं जो उसको सुरक्षित रखते हैं। यह सस्ता फल भी है। इस कारण साधारण व्यक्ति के लिए भी इसका उपयोग कठिन नहीं है। आँवले का मुरब्बा या अचार बहुत समय तक रखा जा सकता है।

अमरूद में भी विटामिन 'सी' अधिक होती है। यह सस्ता भी बिकता है। पपीता, आम तथा इमली में भी इस विटामीन की प्रचुर मात्रा पाई जाती है।

स्वास्थ्य के लिए २० मिलीग्राम प्रतिदिन पर्याप्त है। बालकों के आहार में यह वस्तु अवश्य रहनी चाहिए।

विटामिन 'डी' : यह विटामिन 'ए' के साथ मिली रहती है। जिन पदार्थों में विटामिन 'ए' होती है उनमें विटामिन 'डी' भी रहती है। शरीर स्वयं इस विटामिन को बना लेता है। चर्म पर धूप पड़ने से अल्ट्रावायोलेट किरणों के प्रभाव से चर्म के नीचे स्थित वसा में विटामिन बन जाती है। वानस्पतिक तैलों पर अल्ट्रावायोलेट किरणें डालने से उनमें भी विटामिन उत्पन्न हो जाती है।

यह विटामिन रिकेट्स (Rickets) रोग को रोकने वाली है। इस कारण इसको **रिकेट्स रोधी** कहा जाता है। यह रोग शिशुओं तथा बालकों में होता है। इसी प्रकार का रोग स्त्रियों को होता है जो विशेषकर गर्भावस्था में प्रारम्भ होता है जब भ्रूण की अस्थियों के निर्माण के लिए अधिक कैलसियम की आवश्यकता होती हैं। इस विटामिन का कैलसियम के स्वांगीकरण और पैराथाइराइड ग्रन्थियों से विशेष सम्बन्ध पाया गया है। अतएव बालकों और शिशुओं के लिए उनके वृद्धि काल में तथा गर्भावस्था में इस विटामिन की अधिक आवश्यकता है। स्वास्थ्य के लिए इसके कम से कम ४०० मात्रक प्रतिदन आपेक्षित हैं। मछलियों के यकृत तैल में इनकी अत्यधिक मात्रा रहती है। धूप में हरी घास चरने वाले पशुओं के दूध और उनके घी में भी इसकी पर्याप्त मात्रा पाई जाती है।

विटामिन 'ई' : इसका संबंध प्रजनन शक्ति से समझा जाता था। किन्तु नवीन अन्वेषणों ने इसमें सन्देह उत्पन्न कर दिया है।

विटामिन 'के' : इसकी न्यूनता से रक्त में जमने की शक्ति नहीं रहती । जमने के लिए एक विशेष पदार्थ आवश्यक होता है जिसको थ्रौम्बिन कहते हैं । इसके बिना रक्त नहीं जम सकता । विटामिन 'के' न होने से थ्रौम्बिन नहीं बनती । इससे शरीर में जहाँ-तहाँ रक्तस्राव होने लगते हैं । यह विटामिन गेहूँ के दानों की गिरी में होती है और तैलीय वस्तुओं द्वारा घोलकर उसको निकाला जाता है । हरे शाकों में भी यह पाई जाती है । अन्य बहुत से खाद्य-पदार्थों में भी यह उपस्थित होती है । इस कारण इसकी कमी असाधारण है ।

अन्य विटामिनें भी खाद्यों में रहती हैं ।

आहार का पोषक मूल्य (Nutritive Value)

आहार का प्रयोजन ऊपर बताया गया है । आहार से शक्ति की उत्पत्ति तथा शरीर की वृद्धि या पुनर्निर्माण और पोषण (Nutrition) होता है । शरीर का जो आहार जितना पोषण करता है वही उसका पोषक मूल्य कहलाता है । पोषण शक्ति के रूप में पाया जाता है और शक्ति ताप के रूप में । ताप ऊर्जा का प्रतीक है । ताप को केलोरी (Calorie) के रूप में नापा जाता है । १ केलोरी[1] (बड़ी या किलोकेलोरी)—वह ताप है जो १ किलोग्राम जल के ताप को १ डिग्री सेन्टीग्रेड बढ़ाता है । प्रयोगशालाओं में प्रयोगों द्वारा प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट तथा स्नेह से उत्पन्न होने वाले ताप को मालूम किया गया है । प्रयोगों से पता चला है कि १ ग्राम कार्बोहाइड्रेट से ४·१ केलोरी ताप उत्पन्न होता है । १ ग्राम[2] स्नेह या वसा से ९·३ केलोरी ताप उत्पन्न होता है ।

१ ग्राम प्रोटीन से ४·१ केलोरी ताप उत्पन्न होता है ।

अतएव कितने प्रोटीन, वसा तथा कार्बोहाइड्रेट से कितनी ऊर्जा उत्पन्न होती है यह सहज में हिसाब लगाया जा सकता है ।

स्वास्थ्य के लिये कितने आहार की आवश्यकता है

यह हिसाब लगाया गया है कि साधारण हलका सा काम करने वालों के लिए, जिनको शारीरिक परिश्रम नहीं करना पड़ता, उनके लिए २४ घंटे में पुरुष को २,४०० केलोरी मूल्य का आहार आवश्यक है और स्त्री को २,१०० केलोरी का । साधारण परिश्रम करने पर पुरुष को ३,००० और स्त्री को २,५०० केलोरी[3] चाहिये; और कठिन परिश्रम जैसे बोझा ढोना, गाड़ी खींचना आदि काम करने पर पुरुष को ३,६०० और स्त्री को

---

१. पोषण के सम्बन्ध में केलारी से सदा किलोकेलोरी का अर्थ लिया जाता है ।

२. १ ग्राम=साढ़े छः रत्ती ।

३. इंडियन रिसर्च कौंसिल की न्यूट्रीशन एडवाइजरी कमेटी ने यह मात्रा निर्धारित की है । देखो स्वास्थ्य पत्रिका न० २३ (Health Bulletin No, 23) पृष्ठ १५ ।

३,००० केलोरी का आहार मिलना चाहिये। लीग आफ नेशन्स ने इससे भी अधिक मात्रा की सिफारिश की है।

हमारे देश में प्रत्येक व्यक्ति को इतना आहार मिलना असंभव सा-ही है। मध्यम श्रेणी वाले भी इतना आहार नहीं प्राप्त कर सकते। न देश में इतनी खाद्य है न लेने वालों के पास इतना पैसा है कि वे इतनी खाद्य-सामग्री खरीद सकें। उनको बच्चों तक को दूध-सा आवश्यक आहार देना कठिन हो रहा है।

आहार की पहली आवश्यकता है भूख मिटाना, पेट भरना, क्षुधा तृप्ति। तब दूसरा प्रश्न आता है। वह किन गुणों से युक्त होना चाहिए, उसमें कौन-कौन अवयव कितनी मात्रा में हों। मक्खन, अंडा, दूध, फल कितने हों यह केवल उनके सोचने की बात है जिनमें इन पदार्थों को पर्याप्त मात्रा में खरीदने को सामर्थ्य है। जिनको दो समय पेट भरने के लिए रूखा-सूखा अन्न ही मिलना कठिन है उनके लिए ये स्वप्न की बातें हैं।

भोजन कैसा हो : स्वास्थ्य के लिए मिश्रित भोजन उत्तम है जिसमें प्रोटीन, वसा, और कार्बोहाइड्रेट उपयुक्त मात्रा में हों। शरीर की आवश्यकतानुसार दूध तथा विटामिन-युक्त पदार्थ फल आदि भी हों। इन सबों का अनुपात और मात्रा भी उपयुक्त हों, जो स्वास्थ्य के लिए सब प्रकार से हितकर हो। ऐसे आहार को संतुलित आहार (Balanced Diet) कहते हैं। साधारण काम करने वाले मनुष्य के लिए ७५ ग्राम प्रोटीन और २०० ग्राम कार्बोहाइड्रेट, हरे फल, दूध तथा हरे शाक युक्त दैनिक आहार उपयुक्त माना गया है। स्नेह (घी, तेल, मक्खन) भी उचित मात्रा में प्रयोग किया जाय। इसकी अधिक मात्रा से हानि होती है।[१]

देश, काल, आयु, शरीर की लम्बाई, भार, लिंग तथा व्यवसाय के अनुसार आहार में भिन्नता करनी पड़ती है। ठंडे देशों में अधिक भोजन की आवश्यकता होती है। भोजन भी उष्णता उत्पन्न करने वाला होना चाहिए। प्रोटीन अधिक उष्णता उत्पन्न करती है। इसी कारण ठंडे देशों में मांस अधिक खाया जाता है। उत्तरी ध्रुव के निवासी सील जन्तु का मांस खाते हैं जिसमें वसा की बहुत मात्रा होती है।

आयु का आहार के साथ विशेष सम्बन्ध है। वयस्क की अपेक्षा बालक को अधिक भोजन की आवश्यकता होती है। उसको शरीर वृद्धि के लिए भी भोजन चाहिए। उसके भोजन में दूध का बहुत महत्त्व है। उसको मक्खन भी मिलना चाहिए।

शीत काल में स्निग्ध पदार्थ घी, मक्खन, बादाम तथा अन्य शुष्क फल अधिक खाये जाते हैं। गर्मियों में ठंडे पेय (Beverage) पिये जाते हैं। स्नेह की अपेक्षा शर्करा कम उष्णता उत्पन्न करती है।

---

१. स्नेह की निश्चित मात्रा अभी तक नहीं मालूम की जा सकी है।

लम्बे शरीर वाले को छोटे शरीर वाले की अपेक्षा अधिक भोजन चाहिए। पुरुष की अपेक्षा स्त्रियाँ कम खाती हैं। युवा की अपेक्षा वृद्ध कम खाते हैं। समान लम्बाई किन्तु अधिक भार वाला व्यक्ति अधिक भोजन करता है। फिर व्यवसाय का तो भोजन पर विशेष प्रभाव पड़ता है। जो लोग शारीरिक परिश्रम अधिक करते हैं, बोझा ढोते हैं, सड़क कूटते हैं, खोदते हैं उनके भोजन में कार्बोहाइड्रेट अधिक होना चाहिए। मजदूर चावल और अन्न बहुत खाते हैं। मानसिक परिश्रम करने वालों का आहार मात्रा में कम किन्तु अधिक पौष्टिक होना चाहिए। दूध, बादाम, अंडा, फल उनके लिए आवश्यक हैं।

भोज्य-पदार्थों की आवश्यक मात्रा : गत पृष्ठों में जो कुछ बताया गया है उसके पश्चात् केवल यह जानना रह गया है कि कौनसा भोज्य-पदार्थ कितनी केलोरी शक्ति उत्पन्न करता है। यह उस पदार्थ का पोषक मूल्य (Nutrition Value) कहा जाता है।

प्रत्येक दैनिक भोज्य-पदार्थ का विश्लेषण करके उसका पोषक मूल्य मालूम किया जा चुका है। उसके एक या सौ ग्राम से कितनी केलोरी शक्ति उत्पन्न होती है इसका भी पूरा मूल्यांकन किया गया है। प्रत्येक पदार्थ में प्रोटीन, स्नेह, कार्बोहाइड्रेट विटामिन तथा लवण की मात्रा और उनसे उत्पन्न शक्ति की मात्रा की एक दीर्घ सारणी केन्द्रीय सरकार के स्वास्थ्य मन्त्रालय ने स्वास्थ्य पत्रिका नम्बर २३ (Health Bulletin No. 23) में छापी है। उस सारणी को उद्धृत करना अभीष्ट नहीं है। जिज्ञासु उससे वांछित ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। उन आँकड़ों की सहायता से पिछले पृष्ठों में विवेचित सिद्धान्तों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए आवश्यक मूल्य के पदार्थों की मात्रा सहित सूची तैयार कर सकता है। उसका कुल मूल्य एक वयस्क के लिए २,४०० केलोरी से कम न होना चाहिए। पूर्वोक्त विशिष्ट दशाओं के अनुसार उसमें घटा-बढ़ी की जा सकती है।

भोजन को पकाना : मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो भोजन को पका कर खाता है। पकाने से भोजन स्वादिष्ट हो जाता है और सहज में पच जाता है। पकाने के ये ही दो प्रयोजन हैं।

पकाने की विधि का भोजन के पोषक मूल्य पर बहुत प्रभाव होता है। पकाने की विधि ऐसी होनी चाहिए कि पदार्थ का पोषक मूल्य कम न होने पावे, तत्व जल में घुलकर या अति ताप से नष्ट न हों। **भाप में पकाना** (Steaming) सबसे उत्तम विधि है। इससे अवयव गल कर पच्य हो जाते हैं और पदार्थ के भीतर ही रहते हैं। **उबालना** (Boiling) इस प्रकार से होना चाहिए कि भीतर के तत्व पदार्थ में ही रह जायें, नहीं तो जल का रसा (Soup) बना लेना उचित है। मांस को यदि भूनना हो तो उबलते जल में छोड़ा जाय। नहीं तो ठंडे जल में उबाल कर उसको शोरवेदार बनाया

जाय। आलू यदि भूनने हों तो उनको छिलके सहित उबाला जाय। छील कर उबालने पर जल का रसा तैयार किया जाय। चावलों को जिस जल में उबाला जाय उसके माँड़ को फेंक देना अत्यन्त अनुचित है। उसमें चावल की सारी विटामिन और कुछ पोषक अवयव भी निकल जाते हैं। उसमें केवल इतना ही जल मिलाया जाय जो चावलों में सोख जाय। **तलना** (Frying) पदार्थ को बहुत-सी पोषक शक्ति को नष्ट करने वाली विधि है। शाकों को तेल या घी में भूना जाता है। उनका **क्वथनांक** (Boiling Point) काफी ऊँचा होता है जिससे विटामिनों की हानि होती है। फिर यदि अधिक समय तक भूना गया तब तो वे नष्टप्राय हो हो जाती हैं। अधिक भूनने से पदार्थ अपच्य भी हो जाता है। भाप में पकाना अत्युतम विधि है।

आहार के कुछ विशिष्ट पदार्थ

दूध : यह सर्वोत्तम आहार है। जन्म से ९ मास तक शिशु का इसी पर पोषण होता है। उसकी शारीरिक वृद्धि (Growth) के लिए आवश्यक अवयव माता के दूध में उपस्थित हैं। माता के दूध में यह विशेषता है कि ज्यों-ज्यों शिशु की आयु के बढ़ने के साथ उसकी पोषक अवयवों की आवश्यकता बढ़ती है त्यों-त्यों माता के दूध में आवश्यक अवयवों की मात्रा भी बढ़ती जाती है। एक मास के शिशु की माता के दूध की अपेक्षा नौ मास के शिशु की माता के दूध में ये अवयव कहीं अधिक होते हैं जिससे दूध गाढ़ा हो जाता है। माता का दूध न मिलने पर गौ का दूध शिशु को देना पड़ता है। किन्तु उसमें जल और शक्कर तथा क्रीम मिला कर माता के दूध के समान बना दिया जाता है। इसको दूध का **मानवीकरण** (Humanisation of Milk) कहते हैं।

दूध में लैक्टेलव्यूमिन, लैक्टग्लौव्यूलिन और केसीनोजन नामक प्रोटीनें होती हैं जो **केसीन** (Casein) में परिवर्तित हो जाती हैं। दूध का कार्बोहाइड्रेट लैक्टोज नामक शर्करा होती है। दूध में स्नेह की मात्रा भी बहुत होती है जिसके अत्यन्त सूक्ष्म कण जल के कणों के साथ मिले रहते हैं।

दूध को शुद्ध करने के लिए उबाला जाता है। इससे कुछ विटामिनों का नाश हो जाता है। उसमें उपस्थित कुछ प्रकिण्व भी नष्ट हो जाते हैं। ६० सेन्टीग्रेड तापक्रम तक दूध को गरम करके तुरन्त शीघ्रता से ठंडा कर देने से रोग के जीवाणु तो मर जाते हैं किन्तु दूध के पोषक-अवयवों का नाश नहीं होता। इस विधि को **पैस्चुरीकरण** (Pasteurization) कहते हैं और ऐसे दूध को पैस्चुरीकृत दूध कहा जाता है।

स्वास्थ्य के लिए दूध अत्यन्त आवश्यक वस्तु है। इंडियन मेडिकल रिसर्च कौंसिल की पोषण विशेषज्ञ समिति ने कम से कम १० औंस (५ छटाँक) दूध को दैनिक आहार का विशिष्ट भाग माना है। इतनी मात्रा को वे स्वयं अपर्याप्त मानते हैं। २० औंस (१० छटाँक) दूध नित्यप्रति प्रत्येक व्यक्ति के लिए उनका लक्ष्य है। किन्तु जब तक यह

संभव नहीं है तब तक वे १० औंस पर ही संतोष करते हैं। अभी तो आर्थिक स्थिति और उपलब्धि दोनों दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति को इतना दूध मिलना भी स्वप्नमात्र हो रहा है।

संहत दूध (Condensed Milk) : उबाल कर जल को उड़ा देने से बनाया जाता है।

दही : यह अत्यन्त उत्तम पदार्थ है। इसमें दूध की पूर्ण शक्ति है किन्तु उसके कई दोषों से रहित है। दूध के समस्त प्रोटीन और स्नेह उसमें रहते हैं। शर्करा का बहुत-सा भाग लैक्टिक-अम्ल में बदल जाता है। दूध को जमाने की क्रिया का 'लैक्टिक दंडाणु' (Lactic Bacillus) कारण होता है जो शर्करा को लैक्टिक अम्ल में परिवर्तित कर देता है। यह दंडाणु और लैक्टिक-अम्ल आन्त्र में उत्पन्न होने वाले रोगोत्पादक जीवाणुओं के शत्रु हैं और उनका नाश करते हैं। इस कारण दही पाचन के अनेक विकारों में अत्यन्त लाभदायक प्रमाणित होता है। दही में दूध के पाचन की प्रथम अवस्था उसके आमाशय में पहुँचने से पूर्व ही समाप्त हो चुकती है। इस कारण दही दुर्बल पाचन शक्ति वालों को भी अनुकूल होता है। जो शिशु दूध को भलीभाँति नहीं पचा सकते वे दही को सहज में पचा लेते हैं।

सारे योरुप में यूगर्ट (Yougart) नामक पदार्थ लोकप्रिय है। दही के समान इसको भी दूध को जमाकर बनाया जाता है। इसी के समान दूध के किण्वीकरण से बनाये हुए कई अन्य पदार्थ कितने ही देशों में प्रयोग किये जाते हैं। बल्गेरिया देश में यूगर्ट का तथा दूध के किण्वीकरण (लैक्टिक दंडाणु द्वारा) से बने हुए पदार्थों का बहुत व्यवहार किया जाता है। ये उनके मुख्य भोज्य-पदार्थ ही के समान हैं। बल्गेरिया देश के वासी अपने दीर्घ जीवन के लिये विख्यात हैं। वहाँ शतजीवियों की संख्या बहुत अधिक है। ८०-९० तक की आयु साधारण-सी बात है। उनकी काम करने की शक्ति उत्साह, स्फूर्ति आदि यौवन के गुण भी बहुकाल तक बने रहते हैं। वैज्ञानिकों का विचार है कि इसका दही और किण्वीकृत दूध भी विशेष कारण हैं। जलवायु, देश तथा आनुवंशिकता भी दीर्घ जीवन के बहुत बड़े कारण होते हैं। किन्तु आहार का भी दीर्घ जीवन पर विशेष प्रभाव है।

फ्रांस के प्रोफेसर मैचनिकाफ का दही में अत्यन्त विश्वास था। उनका कथन था कि दही के द्वारा अपने जीवन को दुगुना कर लेना असंभव नहीं है। प्रोफेसर कोहैंडी ने भी स्वयं अपने ऊपर दही के प्रयोग किये हैं और उसकी उपयोगिता से वे बहुत प्रभावित हुये हैं। स्वयं लेखक के परिवार में बारहों महीने दिन में दोनों समय के आहार में दही रहता है और दो महीने के शिशु से लेकर बालक, युवा, जरठ, नर, नारी सभी उसको उचित मात्रा में प्रयोग करते हैं और अब तक सब स्वस्थ और रोगमुक्त रहे हैं।

शुष्क किया हुआ मखनियाँ दूध या दुधी : (Powdered Skim-milk) दूध से स्नेह को पृथक् और उसको शुष्क करके दूध का पाउडर (Powder) बनाया

जाता है। यह वस्तु विशेषकर शाकाहारियों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। उनके आहार में प्रोटीन की सदा त्रुटि रहती है। बाजार में जो दूध बिकता है उसमें जल मिला होने से अवयवों की मात्रा कम हो जाती है। पाउडर दुधी में प्रोटीन की मात्रा अधिक होती है, स्नेह नहीं होता और कैलसियम और राइबोफ्लेविन (विटामिन बी$_2$) अधिक होते हैं और ये अवयव इस रूप में होते हैं कि शरीर उनको तुरन्त ग्रहण कर लेता है।

इसको साधारण दूध के साथ मिला देने से गाढ़ा, स्वादिष्ट और अत्यन्त पोषक पेय बन जाता है। फलों के साथ मिलाकर पाउडर के रूप में या क्रीम के रूप में यह बहुत स्वादिष्ट और पुष्टिकारक आहार है।

अंडा (Egg) : अंडे में प्रोटीनों की अधिक मात्रा है, स्नेह भी होता है। किन्तु कार्बोहाइड्रेट बहुत कम होता है। श्वेत भाग में स्नेह भी नाम मात्र को होता है किन्तु पीले भाग में ३३ प्रतिशत के लगभग होता है। इसको पूरा उबाल कर, आधा उबाल कर और बिना उबाला भी खाया जाता है। अंडा ताजा होना चाहिए। सड़ा अंडा नमक मिले हुए जल में डूबता नहीं, तैरता रहता है। ताजा अंडा डूब जाता है। अंडे में विटा-मिन 'ए', 'बी' और 'डी' होती हैं।

अन्न (Cereals) : गेहूँ, जौ, मकई, दालें आदि अन्न वर्ग में गिने जाते हैं। गेहूँ, जौ, मकई, चने आदि में कार्बोहाइड्रेट अधिक होता है। दालों में प्रोटीनों की प्रचुरता होती है। किन्तु इनमें स्नेह की मात्रा कम होती है। गेहूँ के आटे में ग्लूटिन (Glutin) नामक प्रोटीन होती है। आटे को गूँथने पर इसी प्रोटीन के कारण आटे के कण आपस में बँध जाते हैं। जौ या मकई के दानों में यह प्रोटीन नहीं होती। इस कारण उनके आटे को गूँथना कठिन होता है। वह बिखरा-सा रहता है। अन्य अन्नों में भी **लेग्यूमिन** (Legumin) प्रोटीन पाई जाती है।

काले मोलास (Black Molasses) : मिलों में चीनी बनने के पश्चात् मोलास बच जाता है। इसमें लौह बहुत होता है। थियामिन और राइबोल्फेबिन विटामिनें भी होती हैं। सम्पन्न व्यक्तियों के लिए यह पदार्थ रुचिकर नहीं हो सकता। किन्तु निर्धनों के लिए यह एक पौष्टिक आहार की वस्तु है। दूध में लौह नहीं होता। इस वस्तु में लौह बहुतायत से होता है जिसकी विशेषकर शिशु और बालकों को बहुत आवश्यकता होती है। एक गिलास दूध में एक बड़ी चम्मच मोलास घोल देने से उसमें लौह की उपयुक्त मात्रा हो जाती है जो दैनिक आवश्यक मात्रा का $\frac{3}{4}$ भाग होता है अर्थात् ७५ प्रतिशत लौह तो केवल मोलास के दो चाय की चम्मच से मिल जाता है।

गुड़ : गुड़ में भी ये सब गुण हैं। इसमें लौह और विटामिन दोनों होते हैं। खाने में भी इसका स्वाद उत्तम होता है। मेवा डाल कर इसकी बर्फी भी बनाई जाती है। साधारण गुड़ का मूल्य भी ऐसा है कि उसको प्रत्येक व्यक्ति खरीद सकता है। चीनी की अपेक्षा गुड़ अधिक लाभदायक और सस्ता भी है। इसका प्रयोग लाभदायक होता है।

हरी पत्ती वाले शाक

हरी या पीली पत्ती वाले शाकों से शरीर को लौह तथा विटामिन 'ए' मिलते हैं। गाजर केरोटीन का भंडार है जो शरीर के भीतर ही विटामिन 'ए' में परिणत हो जाती है। शाक की पत्तियों में सेल्यूलोज बहुत होता है जिससे आन्त्र गति बढ़ती है और शौच शुद्ध होता है । सलाद की पत्तियाँ टमाटर के साथ थोड़ा नींबू का रस और थोड़ा नमक व काली मिर्च मिलाकर अत्यन्त स्वादिष्ट और स्वास्थ्यकर आहार बनतीं हैं। बिना पकाई हुई पत्तियाँ जैसे सलाद की तथा हरे फल सदा स्वास्थ्यदायक और बलवर्धक होते हैं। जितना भी इनका प्रयोग किया जा सके उत्तम है। सेब के लिए कहावत है कि An apple a day, keeps the doctor away। इसी प्रकार टमाटर के लिए कहा जाता है कि A tomato a day, keeps the sickness away। चाट तथा बाजार की मिठाइयों को स्वास्थ्य के लिए विष समझना चाहिए।

ख़मीर, यीस्ट (Yeast) : यह साधारणतया ख़मीर कहलाता है जिसको डबल रोटी बनाने वाले मैदा में मिलाकर ख़मीर उठाते हैं। ख़मीर उठाकर ही मदिरा बनाई जाती है। गुड़ या शर्करा को जल में घोल कर उसमें थोड़ा यीस्ट मिलाकर रख देने से किण्वीकरण होने लगता है और मदिरा बन जाती है। आटे को गूँध कर उसमें यीस्ट मिला देने से आटा फूल जाता है। यीस्ट की क्रिया से उसके भीतर कार्बन डाइ-आक्साइड उत्पन्न होकर आटे को फुला देती है। इस आटे को साँचों में भरकर भट्ठी में रख देते हैं और डबल रोटी तैयार हो जाती है।

यह पदार्थ विटामिनोंका भंडार है। इसमें १७ विटामिन होती हैं। इसमें सब प्रकार की विटामिन होती हैं, ४ खनिज लवण होते हैं और ३४ प्रतिशत प्रोटीन होती है, स्नेह केवल १ प्रतिशत होता है। इस कारण स्थूल शरीर वालों के लिए यह अत्युत्तम पदार्थ है। स्थूलता न चाहने वालों के लिए भी अमूल्य वस्तु है। इसका विशेष उपयोग शरीर को रक्षक शक्ति से सम्पन्न करने के लिए है, उसके केलोरी मूल्य के लिए नहीं। कम मूल्य का किन्तु रक्षक पदार्थों से युक्त आहार शरीर के लिये आवश्यक है जिससे वह स्वस्थ रह सकता है। यीस्ट ऐसा पदार्थ है जो शरीर को थियामिन, राइबोफ्लेबिन, निकोटिनिक एसिड तथा अन्य अनेक विटामिन तथा लवणों को पहुँचाकर उसको रोगरोधक शक्ति से सम्पन्न करता है।

यीस्ट के छोटे-छोटे कण होते हैं। यह एक मोटे दाने के चूर्ण के समान होता है। एक बड़ा चम्मच या २ चाय के चम्मच भर दही में, शाक पर डाल कर या सलाद में मिला कर लेना बहुत सहज है। एक डिब्बा भर कर इसको भी मेज पर रख लिया जाय और आहार के किसी पदार्थ में या फलों के रस के साथ मिला कर आहार के साथ ले लिया जाय।

इसमें एक प्रकार की गन्ध होती है। जो उसको सहन न कर सकें, वे विशेष प्रकार के बने हुए यीस्ट—जिसको आहार का यीस्ट (Food Yeast) कहते हैं—को प्रयोग कर सकते हैं।

हृदय के रोगों, मधुमेह, पाचनतन्त्र के रोगों, रक्तक्षीणता, मानस विकार तथा अन्य कितने ही रोग में यह बहुत उपयोगी वस्तु पाई गई है।

प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, स्नेह आदि अवयवों के अतिरिक्त आहार में कुछ अन्य वस्तुएँ भी रहती हैं। ये भोज्य पदार्थों में ऊपर से मिलाई जाती हैं या आहार के साथ या पृथक् ही दी जाती हैं।

मसाले (Condiments) : इन्हें मिलाकर आहार तैयार किये जाते हैं। नमक, मिर्च, जीरा, सौंफ, अजवायन, सोंठ आदि मसालों को मिलाने से आहार स्वादिष्ट होता है और उनसे पाचन में भी सहायता मिलती है। आहार का स्वादिष्ट होना उत्तम पाचन के लिए आवश्यक है। मसालों से कुछ लवण भी शरीर को मिलते हैं।

पेय (Beverage) : ये पीने के पदार्थ हैं जिनमें सबसे मुख्य जल है। प्रत्येक समय आहार के साथ हम जल पीते हैं। प्यास लगने पर अन्य समय भी पीते हैं। अन्य जितने पेय हैं—चाय, काफी, कोको, शर्बत, लैमनेड आदि सब जल में बनते हैं। ये सब **अमादक पेय** (Non-intoxicating Beverage) हैं। सुरा, मदिरा, **अलकोहलयुक्त** पेय हैं इस कारण ये मादक पेय (Intoxicating Beverage) हैं।

चाय, काफी, कोको, हलके **उद्दीपक** (Stimulants) पेय हैं। इनसे थोड़ा **उद्दीपन** होता है। इस कारण परिश्रम करने के पश्चात् ये रुचिकर होते हैं। चाय में थोड़ी **टेनिन** (Tanin) होती है जो **स्तभंक** (Astringent) है। इस कारण उसके अधिक प्रयोग से कब्ज रहने लगता है। काफी में केफीन (Caffiene) होती है जो हृदय की उद्दीपक है। कोको भी उद्दीपक है।

अलकोहल : शर्करा के **किण्वन** (Fermentation) से अलकोहल बनता है। शर्करा को जल में मिला कर उसमें थोड़ा **यीस्ट** (Yeast) डालकर कुछ समय तक रखे रहने से उसमें किण्वन क्रिया होती है जिससे अलकोहल बन जाता है। कई प्रकार की मदिरा इससे बनायी जाती है। इसके आसवन (Distillation) से स्पिरिट बनती है।

अलकोहलयुक्त पेयों का संसार भर में प्रयोग किया जाता है। हमारे देश की अपेक्षा योरुप, अमरीका आदि देशों में बहुत अधिक प्रयोग होता है।

ये पेय चिकित्सा के लिए भी प्रयोग किये जाते हैं। किन्तु इनका अति प्रयोग स्वास्थ्य का नाशक है। इनके चिरकालिक प्रयोग का आमाशय और यकृत पर विशेषकर हानि-कारक प्रभाव होता है। मस्तिष्क विकार भी उत्पन्न हो जाते हैं।

मद्य का प्रयोग, औषधि रूप के अतिरिक्त सदा वर्जित है। इससे कोई ऐसा लाभ नहीं होता जो अन्य साधारण भोज्य-पदार्थों से नहीं हो सकता । बल्कि इससे इतनी हानि हो सकती है कि जिससे जीवन नष्ट हो जाय और परिवार चौपट हो जाय।

साधारण मात्रा में दो से चार औंस तक से कोई हानि नहीं पहुँचती। कुछ देर के लिए उससे उत्तेजना मिलती है। मस्तिष्क भी अधिक सक्रिय मालूम होता है। किन्तु उसका सबसे बड़ा दोष यह है कि एक बार प्रारम्भ करने के पश्चात् पीने वाले उसको छोड़ नहीं सकते। उसकी मात्रा दिनोंदिन बढ़ती ही जाती है। स्वास्थ्य चौपट हो जाता है। आमाशय और यकृत विशेषकर थोड़े ही समय में आक्रान्त हो जाते हैं। भूख जाती रहती है। वमन होते हैं। यकृत बढ़ जाता है और रोग उत्पन्न हो जाते हैं। मद्य का जीवन के साथ ही अन्त होता है।

धूम्रपान

दुर्भाग्य से सिगरेट पीने की आदत और भी बढ़ती जा रही है। सिगरेट तम्बाकू की पत्तियों को कूट कर उनको कागज में लपेट कर बनाये जाते हैं। तम्बाकू की पत्तियों में एक तत्व होता है जिसको निकोटिन (Nicotine) कहते हैं। निकोटिन हृदय का सबसे बड़ा शत्रु है। इस विष का सीधा हृदय पर प्रभाव होता है। इससे कितने ही व्यक्तियों की मृत्यु हो चुकी है। इसके प्रयोग से शरीर की धमनियाँ कड़ी पड़ जाती हैं जिससे रुधिर दाब (Blood Pressure) बढ़ जाता है। सिगरेट पीने के समय कार्बन मोनोआक्साइड अल्प मात्रा में उत्पन्न होकर शरीर को विषाक्त करती है।

सिगरेट पीने का फुफ्फुस के कैंसर के साथ विशेष सम्बन्ध प्रमाणित हो चुका है। भिन्न-भिन्न देशों से जो आँकड़े एकत्र किये गये हैं उनसे सिद्ध हो चुका है कि सिगरेट पीना फुफ्फुस के कैंसर का विशेष कारण है। यह इतना दुष्ट रोग है कि एक बार होने पर प्राणान्त करके ही छोड़ता है।

तम्बाकू में पाइरिडीन, अमोनिया, एल्डीहाइड आदि अन्य विष भी होते हैं जिनका स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

तम्बाकू पीने का सबसे उत्तम उपाय हुक्का है जिसमें जल के द्वारा निकोटिन अवक्षिप्त हो जाती है और धुआँ निकोटिन से मुक्त हो जाता है।

थोड़ी आयु वालों के लिए धूम्रपान पूर्णतः वर्जनीय है। उसे उसको विष के समान त्याग देना चाहिए। तम्बाकू खाना तो सिगरेट, चुरट या बीड़ी पीने से भी अधिक हानिकारक है।

खाद्य परिरक्षण (Preservation of Food) : आहार-पदार्थों को बहुत काल तक रखने के लिए विशेष विधियों से परिरक्षित किया जाता है। इन विधियों का मुख्य

उद्देश्य खाद्यों में जीवाणुओं की उत्पत्ति को रोकना है। इसलिए खाद्य में उपस्थित जीवाणुओं को नष्ट कर दिया जाता है जिसको **निस्संक्रमण** (Sterilization of Food) कहते हैं। सुखाना, नमक लगाना (Salting), धुआँरना (Smoking), टीनों में बन्द करना (Canning), हिमीकरण (Freezing) तथा रासायनिक पदार्थों को मिलाना परिरक्षण की सामान्य विधियाँ हैं। अति शीत में पदार्थ बहुत काल तक नहीं बिगड़ते। इस कारण मांस का प्रायः हिमीकरण करके उसको सुदूर देशों में भेजा जाता है। फलों को टीन में बन्द करने का परिरक्षण का उत्तम उपाय है। जिन रसायनों को परिरक्षण के लिए मिलाया जाता है वे **परिरक्षक** (Preservatives) कहलाते हैं।

आहार की त्रुटि (Food Defeciency) **:** आहार की त्रुटि से अनेक प्रकार के हलके से लेकर विषम रोग तक उत्पन्न हो सकते हैं। त्रुटि मात्रा और गुण दोनों की हो सकती है। २,४०० केलोरी के मूल्य का खाद्य होने पर भी उसमें विटामिन कम हों, लवण न हों, रक्षक भाग कम हो। वसा उत्पन्न करने वाला भाग अधिक हो। ये सब खाद्य त्रुटियाँ हैं जिनसे **त्रुटिजन्य रोग** (Defeciency Diseases) होते हैं। विटामिनों की कमी से विटामिन-त्रुटिजन्य रोग उत्पन्न होते हैं।

आहार-त्रुटि से कुपोषणता (Malnutrition) की दशा उत्पन्न होती है। शारीरिक आवश्यकता से कम खाद्य की मात्रा, खाद्य में अवयवों की मात्रा का अनुचित अनुपात, विटामिन की त्रुटि, किसी शारीरिक विकार के कारण आहार का स्वांगीकरण न होना, इन सब कारणों से कुपोषण की दशा उत्पन्न हो सकती है।

हमारे देश में कुपोषण पग-पग पर दिखाई देता है। दुबले-पतले बालक, अस्थिपंजर मात्र, देह पर चर्म के नीचे मांस नाम मात्र को, ऐसे बालक सभी स्थानों पर दीखते हैं। गाँवों में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं होती।

मानसिक दशा का पाचन पर प्रभाव

पाचन पर मन का बहुत प्रभाव होता है। उसकी सुगन्ध से ही लाला रस का स्राव होने लगता है। देखने से आमाशयिक रस का स्राव बढ़ जाता है। प्रयोगों द्वारा प्रमाणित हो चुका है कि रुचिकर भोजन के खाने पर पाचक रसों का अधिक निर्माण होता है। प्रसन्न चित्त से भोजन करने से उसका उत्तम पाचन और स्वांगीकरण होता है। क्रोध या व्यथित चित्त से भोजन करने पर रसों का स्राव कम हो जाता है। पाचनविकार उत्पन्न हो जाते हैं और शरीर क्षीण होने लगता है। भोजन सदा ऐसे स्थान में और ऐसे संगीसाथियों की संगत में करना चाहिए जहाँ चित्त प्रसन्न हो, मन में हर्ष हो। वहाँ स्वादिष्ट एवं उत्तम भोजन स्वास्थ्यकर और आयु बढ़ाने वाला होता है।

आहार का स्वास्थ्य पर प्रभाव : आहार और स्वास्थ्य का अभिन्न सम्बन्ध है। जिस प्रकार कोयले के बिना इंजन नहीं चल सकता, पेट्रोल के बिना मोटर नहीं चल सकती

उसी प्रकार आहार के बिना शरीर नहीं चल सकता। शरीर और आहार का सम्बन्ध अति प्राचीन काल से मालूम है। वास्तव में जब से मानव सृष्टि हुई तभी से आदिम निवासी भी यह जानते थे कि अमुक आहार से हानि होती है, रोग हो जाते हैं। अमुक आहार लाभदायक है। आहार का प्रभाव न केवल शरीर पर किन्तु मन पर भी माना गया है। शास्त्रों ने आहार के पदार्थों को सतोगुणी, रजोगुणी तथा तमोगुणी श्रेणियों में विभक्त किया है। दूध, फल, कन्द, मूल, सतोगुणी आहार हैं जिनसे मन में सतोगुण उत्पन्न होते हैं। रोटी, फल, शाक, घृत, तैल, मसाले आदि रजोगुणी कहे जाते हैं जो राजसी वृत्तियाँ उत्पन्न करते हैं। मांस, मछली, मदिरा तमोगुण उत्पन्न करने वाले अर्थात् हिंसा, क्रोध, क्रूरता आदि में प्रवृत्त करने वाले माने गये हैं।

आहार सम्बन्धी वैज्ञानिक तत्वों का संक्षेप में गत पृष्ठों में वर्णन किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति को विशेष परिश्रम न करने की अवस्था में भी २,५०० केलोरी मूल्य का आहार मिलना चाहिए। किन्तु किन-किन पदार्थों से इस मूल्य का पोषण प्राप्त किया जाय इस पर स्वास्थ्य बहुत कुछ निर्भर करता है। हमारे देश की जैसी आर्थिक दशा है उसको देखते हुए इतने मूल्य का आहार प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए कठिन है। तो भी जो जितना प्राप्त कर सके वह अवश्य करे। जो समर्थ हों वे अवश्य पूरे मूल्य का आहार करें। उसमें सभी शक्तिदायक और रक्षक अवयव तथा विटामिन, लवण आदि सम्मिलित हों। इनका पहले उल्लेख किया जा चुका है।

कोष्ठ-शुद्धि—मलोत्सर्जन

स्वास्थ्य के लिए कोष्ठ-शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। शरीर में पाचन तथा रासायनिक क्रियाओं से उत्पन्न हुए निकृष्ट पदार्थों का शरीर से परित्याग होना शरीर के नीरोग रहने के लिए अनिवार्य है। पाचन और शोषण के पश्चात् आहार के जो अनुपयोगी भाग बच जाते हैं वे तथा आन्त्र के कुछ स्राव मल के रूप में शरीर से बाहर निकलते हैं। अन्य पदार्थ मूत्र द्वारा निकलते हैं। कुछ श्वास द्वारा तथा त्वचा द्वारा निकलते हैं। यह मलोत्सर्जन (Excretion) कहलाता है।

पूर्ण मलत्याग न होने को कोष्ठबद्धता या कब्ज (Constipation) कहते हैं। मलत्याग की हमको आदत हो जाती है। उस समय आन्त्र के निचले भाग—मलाशय में मल भर जाने पर एक उत्तेजना उत्पन्न होती है और हमको मलत्याग की इच्छा होती है। इसको हाजत कहते हैं। मलाशय की आन्त्र गति बढ़ जाती है और हमारे शौच-स्थान पर बैठते ही मलत्याग हो जाता है।

कोष्ठबद्धता (Constipation) : मलत्याग का पूर्ण न होना कब्ज कहा जाता है। स्वास्थ्य और पूर्ण मलत्याग का अभिन्न सम्बन्ध है। कब्ज रोगों का मूल है। उससे नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकते हैं। इस बात को सभी लोग अति प्राचीन

काल से जानते हैं। आयुर्विज्ञान का यह एक प्रमुख सिद्धान्त है कि पूर्ण मलत्याग स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन प्रदान करने वाला होता है। अपूर्ण मलत्याग या कब्ज आयु घटाने वाला होता है और रोग उत्पन्न करता है। बहुत दिन तक कब्ज रहने से स्वाभाविक या जीर्ण कब्ज (Habitual Constipation) रहने लगता है।

समय पर हाजत होते ही शौच को न जाना कब्ज का बहुत बड़ा कारण होता है। फिर आहार में जल या पेयों की कमी, अशोष्य भाग (Roughage) की त्रुटि, अपच्य आहार, आहार करते ही काम पर जुट जाना, व्यायाम की कमी तथा मानसिक उद्वेग भी कब्ज का कारण होते हैं। विद्यार्थियों में यह दशा बहुत पाई जाती है जिसके कारण वे चिन्तित रहते हैं, पढ़ने में मन नहीं लगता और चित्त उत्साहहीन रहता है। वे सदा अखबारों में विज्ञापन देख कर औषधियों को मँगाकर खाया करते हैं। एक बार या दो-चार दिन तक मल शुद्ध होता है फिर वही दशा हो जाती है।

ऐसे कब्ज की औषधि ये बाजारू दवायें नहीं हैं। उनसे उल्टे हानि होती है। उसकी औषधि केवल आहार और व्यायाम हैं। आहार में जल की मात्रा अधिक होनी चाहिए। भोजन के साथ अधिक जल न पिया जाय, उससे पाचक रसों के पतले हो जाने से पाचन क्रिया में गड़बड़ी हो सकती है। आहार के एक या दो घंटे बाद फिर जल पिया जाय। शौच जाने के एक घंटे पूर्व एक गिलास जल लेने से आन्त्र को गति करने में सहायता मिलती है। जल अधिक पीना चाहिए।

आहार में फलों और शाकों की मात्रा बढ़ा देना चाहिए। हरे फलों से आन्त्र को विटामिन और लवण मिलते हैं जो उसके स्वास्थ्य के लिए आवश्यक हैं। शाकों में इनकी मात्रा अधिक होती है। फिर हरे फल और शाक दोनों ही में सैल्यूलोज होता है। उसका पाचन और शोषण नहीं होता। इस कारण उसकी उपस्थिति से आन्त्र की गति बढ़ जाती है। सेब जैसे फलों का छिलका उतारना नहीं चाहिये। उनको छिलके सहित खाया जाय। सलाद अत्युत्तम वस्तु है।

व्यायाम इस रोग को दूर करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। साधारण व्यायाम के अतिरिक्त उदर के व्यायाम (Abdominal Exercises) आवश्यक हैं। प्रत्येक व्यायाम क्रम में इस प्रकार के विशिष्ट व्यायाम होते हैं। उनसे उदर की पेशी दृढ़ होती है और आन्त्रों को क्रिया उत्तम होती है। उनकी पेशियों में भी बल आता है।

अंजीर, मुनक्का, सेब आदि फल मृदु विरेचक (Laxative) की भाँति काम करते हैं।

विटामिन बी को न भूलना चाहिये। उससे आन्त्र में बल आता है। उसकी क्रिया उत्तम होती है। ठीक समय पर आहार करना, सोना, काम करना तथा अन्य सब कर्म नियत समय करना तथा सदा प्रसन्न एवं चिन्तामुक्त रहना आदि भी प्रत्येक शारीरिक क्रियाओं के उत्तम प्रकार से होने में विशेष सहायक होते हैं।

चयापचय (Metabolism)

चयापचय दो शब्दों से बना है। चय और अपचय। चय (Annabolism) का अर्थ है शरीर की कोशिकावस्तु अथवा ऊतक का निर्माण। अपचय (Ketabolism) है कोशिकावस्तु या ऊतक का टूटना-फूटना, उसका क्षय। शरीर में सदा अनेक रासायनिक क्रियायें होती रहती हैं। उनका परिणाम एक ओर ऊतकों की टूट-फूट होती है तो दूसरी ओर नवीन वस्तु के निर्माण से उनकी वृद्धि होती है। रक्त द्वारा प्राप्त आक्सिजन की सहायता से उनमें आक्सीकरण क्रिया होती है जिससे ऊर्जा उत्पन्न होती है। हमको चलने-फिरने, काम करने की शक्ति मिलती है। कोशिकावस्तु के घटक अर्थात् प्रोटीन, स्नेह और कार्बोहाइड्रेट जो कोशिकाओं को आहार से प्राप्त होते हैं वे आक्सिजन से संयोग करते हैं जिससे उनके रासायनिक रूप में परिवर्तन हो जाता है। यही परिवर्तन आक्सीकरण कहलाता है। एक ओर इस परिवर्तन से ऊर्जा उत्पन्न होती है, दूसरी ओर उसका गूढ़ संघठन टूट जाता है और उससे सामान्य गूढ़तारहित संघठन के पदार्थ बन जाते हैं जिनका शरीर से सहज में त्याग हो सके। वृक्क, त्वचा, फुप्फुस, और आन्त्र ऐसे पदार्थों को शरीर से निकाल देते हैं। इस प्रकार कोशिकाओं की टूट-फूट होती रहती है। यही **अपचय** कहलाता है।

इस प्रकार कोशिका वस्तु की जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति भी आवश्यक है। जितनी क्षति हुई है उतनी ही पूर्ति से शरीर अपनी पूर्ववत् दशा को बनाये रख सकता है। यदि क्षति अधिक हुई और पूर्ति कम हुई, नई कोशिकावस्तु अर्थात् ऊतक का निर्माण कम हुआ तो शरीर का क्षय होने लगता है। रोगों में यही होता है। वृद्धावस्था में भी यही होता है। युवावस्था में क्षति और निर्माण समान होते हैं। इस कारण शरीर-भार एक-सा बना रहता है। शिशु और बालक में निर्माण अधिक होता है जिससे उसके शरीर की वृद्धि होती है। जितना निर्माण अधिक होता है उतनी वृद्धि भी अधिक होती है। शैशव काल में वृद्धि की गति अत्यधिक होती है क्योंकि शिशु के शरीर में नई कोशिकाओं का निर्माण तीव्र गति से होता है। ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती जाती है त्यों-त्यों निर्माण गति भी धीमी होती जाती है। यह निर्माण ही **चय** कहलाता है।

निर्माण का काम प्रत्येक कोशिका करती है। कोशिकाओं का निर्माण करने वाले घटकों को रक्त उनके पास पहुँचाता रहता है। आहार का यही प्रयोजन है। पाचन द्वारा आहार के तीनों घटक प्रोटीन, स्नेह, कार्बोहाइड्रेट आन्त्र के रसांकुरों से अवशोषित होकर रक्त में पहुँच जाते हैं। फुप्फुसों द्वारा आक्सिजन भी रक्त में पहुँच जाती है। रक्त इन तीनों पोषक घटकों तथा आक्सिजन को ऊतकों में पहुँचाता है। वहाँ रक्तवाहिनी केशिकाओं (Capillaries) की एक कोशिका मोटी भित्ति में से ये पोषक घटक और आक्सिजन जल के साथ छन-छनकर बाहर निकल जाते हैं और ऊतकों की कोशिकाओं के

बीच में एकत्र हो जाते हैं। यह ऊतक द्रव (Tissue Fluid) कहलाता है और कोशिकान्तर अवकाश (Intercellular Space) में भरा रहता है। इसी से कोशिकाएँ पोषक
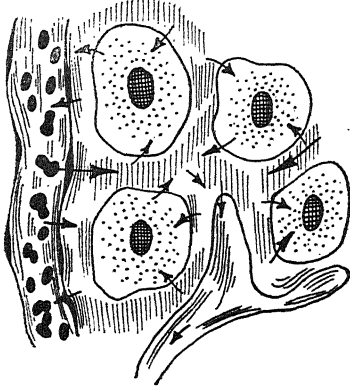
चित्र ६२--पोषक अवयवों तथा आक्सिजन का रक्त कोशिकान्तर द्वारा द्रव में पहुँचना और वहाँ से अन्तर्कोषी (कोशिका के भीतर) द्रव में जाना तथा त्याज्य अवयवों का अन्तर्कोषी स्थान से कोशिकान्तर द्रव में होते हुये रक्त में लौट जाना

घटकों को लेती रहती हैं तथा आक्सिजन को भी सोख लेती हैं। उन घटकों को लेकर ये विश्लेषण और संश्लेषण क्रियाओं द्वारा अपना निर्माण भी करती हैं और ऊर्जा की उत्पत्ति भी करती हैं।

आहार के तीनों अवयव कार्बोहाइड्रेट, स्नेह और प्रोटीन का चयापचय शरीर के लिए अत्यन्त महत्व की घटना है। शरीर का अस्तित्व ही इस घटना पर निर्भर करता है।

कार्बोहाइड्रेट--कार्बोहाइड्रेट के भिन्न-भिन्न रूप मैदा, चीनी, स्टार्च आदि सबों का पाचक रसों द्वारा ग्लूकोज में परिवर्तन हो जाता है। इसी रूप में कार्बोहाइड्रेट का आन्त्र द्वारा शोषण होता है और वे रक्त द्वारा कोशिकाओं के पास पहुँचाये जाते हैं। ग्लूकोज का सबसे अधिक उपयोग मांसपेशियों की कोशिकायें करती हैं। उनके द्वारा सदा कुछ-न-कुछ क्रिया होती रहती है जिनके लिए ऊर्जा की आवश्यकता होती है। आक्सिजन के संयोग से ग्लूकोज का आक्सीकरण होता है। उससे ऊर्जा उत्पन्न होती है और ग्लूकोज लैक्टिक अम्ल में परिवर्तित हो जाती है। जब पेशी संकोच करती है तब यही क्रिया होती है। लैक्टिक अम्ल भी अन्त में जल और कार्बन डाइ-आक्साइड में परिवर्तित हो जाते हैं जो फुप्फुस, त्वचा और मूत्र द्वारा शरीर का त्याग करते हैं। जब पेशी बहुत समय तक निरन्तर संकोच करती रहती है तो लैक्टिक अम्ल पेशी में एकत्र हो जाता है। इसको सारकोलैक्टिक अम्ल कहते हैं। इसका रासायनिक रूप लैक्टिक अम्ल से कुछ भिन्न

होता है। यही श्रम (Fatigue) का कारण होता है। जब पेशी को विश्राम मिलता है, उसकी संकुचन क्रिया बन्द होती है तो रक्त के द्वारा आई हुई नई आक्सिजन इस अम्ल का जल और कार्बोहाइड्रेट में विभंजन करती है और श्रम दूर होता है।

जो ग्लूकोज पेशियों के काम में नहीं आती वह रक्त द्वारा यकृत के पास पहुँचती है और यकृत उसको ग्लाइकोजिन (Glycogen) में बदल कर अपने में संग्रह कर लेता है तथा जब पेशियों को फिर से ग्लूकोज की आवश्यकता होती है तो यकृत ग्लाइकोजिन को ग्लूकोज में परिवर्तित करके पुनः पेशियों के पास भेज देता है।

स्नेह : आहार में खाये हुए स्नेह को पाचक रस वसाम्ल और ग्लिसरीन में तोड़ देते हैं जिनका आन्त्र के रसांकुरों की कोशिका अवशोषण करके फिर से उनका संश्लेषण कर स्नेह बना देती है। अणुदर्शी द्वारा पाचन के समय रसांकुरों में स्नेह के कण दिखाई देते हैं। इन कणों का अवशोषण होकर रसांकुरों में स्थित पायसनियाँ (Lacteals) उनका संवहन करके स्नेह को रक्त में पहुँचा देती हैं जो उन कणों को ग्लूकोज ही की भाँति ऊतकों की कोशिकाओं के पास पहुँचाता है। इनमें से कुछ को कोशिकायें ग्रहण करती हैं, शेष को छोड़ देती हैं। जिनको ग्रहण करती हैं उनका आक्सीकरण होकर जल और कार्बन डाइ-आक्साइड बन जाते हैं। इनका ग्लूकोज की भाँति शरीर से त्याग होता है। स्नेह के जिन कणों का कोशिकाएँ उपयोग नहीं करतीं वे शरीर में विशेषकर त्वचा के नीचे एकत्र हो जाते हैं और वसा ऊतक बनाते हैं जो शरीर की स्थूलता का कारण होते हैं।

वसा शरीर का ऊर्जा का रक्षित भंडार (Reservoir) है जिसको वह कार्बोहाइड्रेट न मिलने पर ऊर्जा की उत्पत्ति के लिये काम में लाता है।

प्रोटीन : उपर्युक्त दोनों पदार्थों की अपेक्षा प्रोटीन अधिक जटिल पदार्थ है। उसका पाचन भी कई रसों द्वारा होता है। पाचन-क्रियाओं द्वारा ये अन्त में अमीनोअम्लों के रूप में आ जाते हैं। ये प्रोटीन के अन्तिम घटक होते हैं। रसांकुरों की रक्तवाहिका केशिकाओं द्वारा इनका अवशोषण होकर ये कोशिकाओं के पास पहुँच जाते हैं। शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में अनेक प्रकार के अमीनोअम्ल पाये जाते हैं। प्रत्येक कोशिका के केन्द्रक का अमीनोअम्ल कोशिकाद्रव्य के अमीनोअम्ल से भिन्न है। उसके आवरण में तीसरे ही प्रकार का अमीनोअम्ल है। यह भिन्न-भिन्न प्रकार के अमीनोअम्ल अथवा अपने लिए उपयुक्त अमीनोअम्ल बनाना कोशिका का काम है। उसके पास रक्त जिस अमीनोअम्ल को पहुँचाता है उसका वह विभंजन करके सामान्य घटकों में बदल देती है और उनकी फिर से अपने लिए उपयुक्त रचना करके आवश्यक अमीनोअम्ल को बना लेती है। इस क्रिया से अमीनोअम्लों के टूटे-फूटे भाग जो कोशिकाओं के लिए उपयोगी नहीं होते उनको रक्त लौटाकर यकृत के पास ले जाता है जो उनको यूरिया,

यूरिक अम्ल, क्रियेटीन, क्रियेटीनीन आदि पदार्थों में बदल देता है। ये पदार्थ फिर रक्त द्वारा वृक्क के पास पहुँचते हैं और वृक्क उनको रक्त से पृथक् कर लेता है तथा मूत्र द्वारा शरीर से निकाल देता है।

जो प्रोटीन या अमीनोअम्ल कोशिकाओं के काम नहीं आते वे फिर यकृत के पास पहुँचते हैं। यकृत उनका नाइट्रोजन भाग निकाल देता है। शेष भाग कार्बोहाइड्रेट का रूप ले लेते हैं और शरीर में ऊर्जा की उत्पत्ति का काम करते हैं।

प्रोटीन शरीर में एकत्र नहीं होती।

छठा परिच्छेद

रुधिर परिसंचारक तन्त्र

(Circulation of Blood)

यह तन्त्र जीवन का मुख्य आधार है। इसका कार्य बन्द होना ही मृत्यु कहा जाता है। जहाँ हृदय की धड़कन बन्द हुई कि मृत्यु हुई। नाड़ी बन्द होने का नाम ही मृत्यु है यद्यपि शरीर की वास्तविक मृत्यु कुछ समय पश्चात् होती है।

हृदय, धमनी (Artery), शिरा (Vein) तथा केशिकाओं (Capillaries) के समूह का नाम परिसंचारक तन्त्र है। इस तन्त्र का केन्द्र हृदय है जहाँ से रुधिर धमनियों
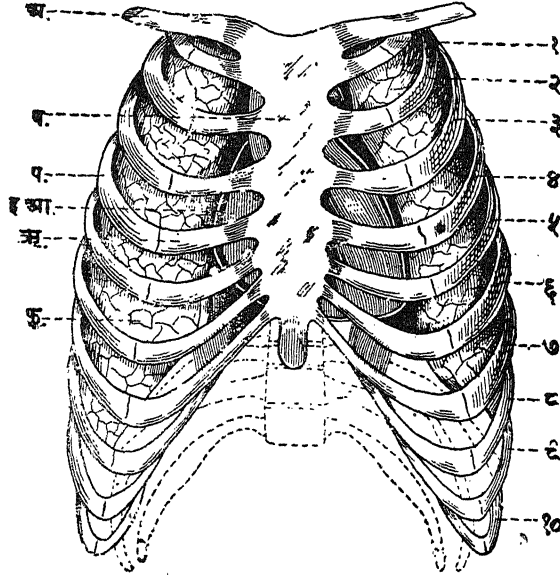
चित्र ९३—वक्ष में हृदय की स्थिति
[अ०—जत्रुक, ब०—उरोस्थि, प०—पर्शुका, ह० आ०—हृदयावरण के भीतर हृदय, ऋ०—पर्शुकीय उपास्थि, फु०—फुप्फुस, १ से १०—पर्शुकायें]

और उनकी शाखाओं में होता हुआ शरीर के प्रत्येक भाग में पहुँचता है। ये शाखायें अन्त

में इतनी सूक्ष्म हो जाती हैं कि उनकी दीवारें केवल एक कोशिका चौड़ी रह जाती हैं। ये केशिका कहलाती हैं। सारे शरीर में केशिकाओं का जाल बिछा हुआ है। सूक्ष्म से सूक्ष्म स्थान में केशिकाओं का जाल स्थित है। इन केशिकाओं की दीवारों में से रुधिर की प्लाविका या प्लाज्मा रिस-रिस कर बाहर के ऊतकों में पहुँचता है और उनमें पोषण और आक्सिजन पहुँचाता है।

इन केशिकाओं के दूसरी ओर से शिरा प्रारम्भ होती हैं जिनमें होकर रुधिर हृदय को लौटता है। अनेक केशिकाओं के मिलने से एक सूक्ष्म शिरा बनती है। ऐसी कई शिराओं
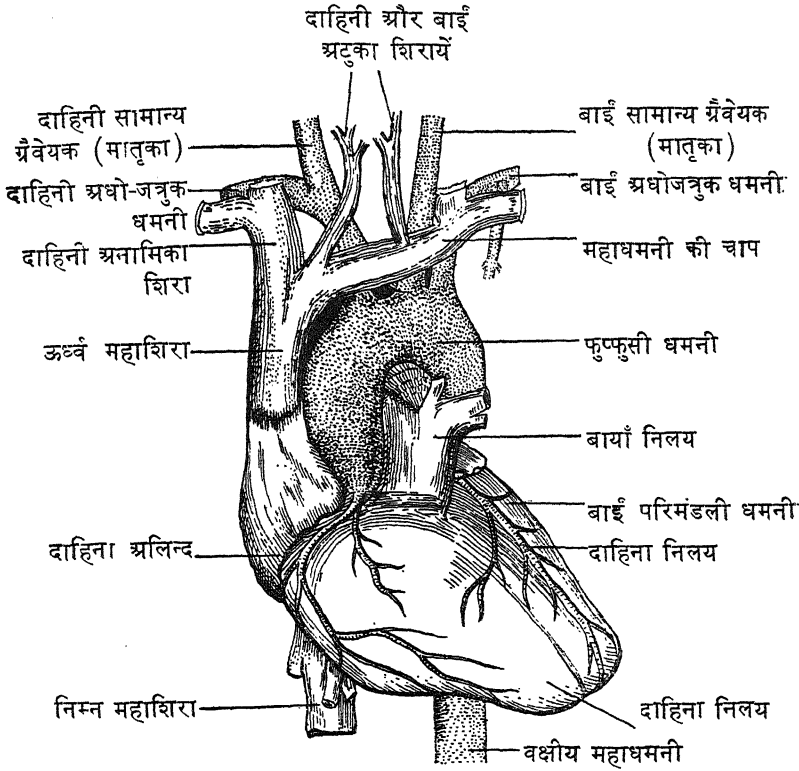
चित्र ६४—हृदय का पूर्व पृष्ठ

के मिलने से बड़े आकार की शिरा बन जाती है। इसी प्रकार और बड़ी शिरा बन जाती है। अन्त में ऊर्ध्व और अधो महाशिराओं द्वारा शरीर का सारा रक्त हृदय में लौट आता है। फिर वही क्रम आरम्भ होता है।

हृदय (Heart) वक्ष में बाईं ओर स्थित है (चित्र ६३)। इसके दोनों ओर दाहिने और बायें फुप्फुस हैं। हृदय पर कला निर्मित एक आवरण थैले की भाँति चढ़ा हुआ

है। इसको **परिहृद** (Pericardium) कहते हैं। इसके दो स्तर हैं। एक स्तर हृदय के सम्पर्क में रहता है। दूसरा इसके बाहर है। दोनों स्तरों के बीच में अन्तर नाम मात्र को होता है। इसके भीतर हृदय सुरक्षित रहता है। हृदय स्वयं मांस पेशियों द्वारा निर्मित एक थैला है जिसके भीतर रुधिर भरा रहता है। इस भाग को **हृत्पेशी** (Myocardium) कहते हैं। इसके भीतर का स्तर जो रक्त के सम्पर्क में रहता है **अन्तर्हृद** (Endocardium) कहा जाता है।

यह हृदय का थैला चार कोष्ठों में विभक्त है। दो कोष्ठ बाईं ओर दो कोष्ठ दाहिनी ओर हैं जिनके बीच में एक मोटा **परदा या फलक** (Septum) है जो दाहिने और बाँयें ओर के रक्त को नहीं मिलने देता। इन कोष्ठों में से ऊपर का कोष्ठ **अलिन्द** (Auricle) और नीचे का **निलय** (Ventricle) कहलाता है। इस प्रकार दोनों ओर दो-दो कोष्ठ हैं—दाहिना अलिन्द और निलय और बायाँ अलिन्द और निलय। अलिन्द और निलय के बीच में बड़े-बड़े छिद्र हैं जिनको **अलिन्दनिलयी छिद्र**
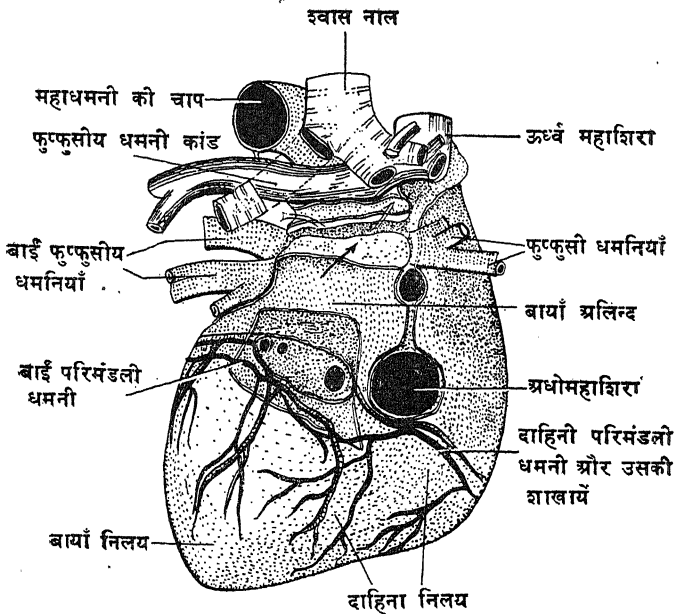
चित्र ९५—हृदय का पश्च पृष्ठ

(Auriculoventricular Orifice) कहते हैं। इन पर **कपाटिका** (Valve) लगी हुई हैं जो केवल निलय ही की ओर खुलती हैं। इससे रक्त अलिन्द से निलय में जा सकता है, निलय से अलिन्द में वापस नहीं जा सकता। ये कपाटिकायें बन्द

होकर उसके जाने का मार्ग रोक देती हैं। बाईं ओर के अलिन्द और निलय के बीच की **माइट्रल कपाटिका** (Mitral Valves) कही जाती है। इस कपाट में दो भाग हैं जिनका आकार कौड़ी के समान है। इस कारण वे **कर्पादिका** (Cusp) कहलाती हैं।
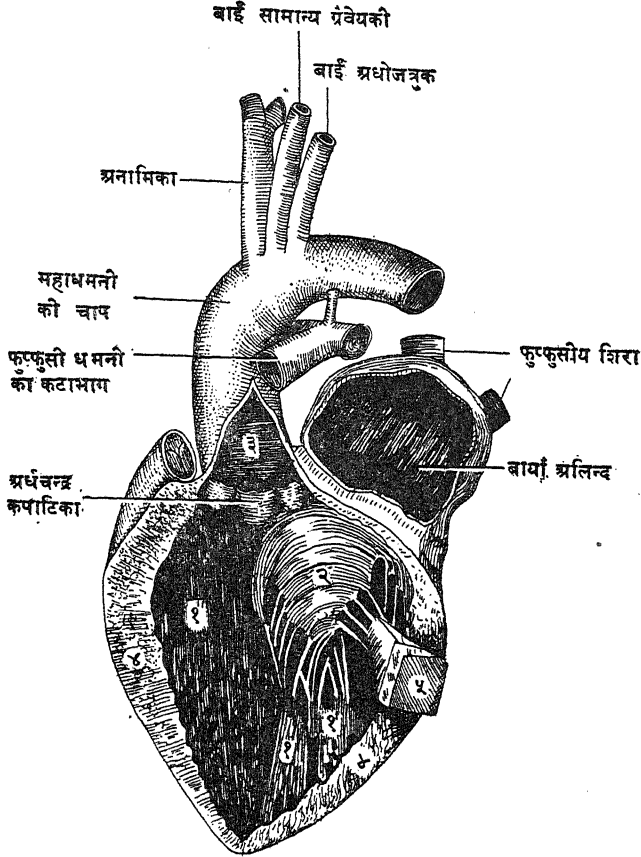
चित्र ६६—हृदय का बायां भाग काटकर भीतर से दिखाया गया है।
[१, १, १—अंकुरक पेशी २—बाईं कपाटिका ३—महाधमनी को काट कर दिखाया गया है ४—बायें निलय को भित्ति काट कर दिखाई गई है]

बाईं ओर की कपाटिका में दो **कर्पादिका** हैं। इसकारण वे **द्विकपर्दी** (Bicuspid) कपाटिका कही जाती हैं। दाहिने ओर की कपाटिका में तीन कर्पादिका होने से उसको **त्रिकपर्दी** (Tricuspid) कहते हैं।

इसी प्रकार की कपाटिका फुप्फुसी धमनी और महाधमनी के मुख पर लगी हुई हैं जहाँ वे दाहिने और बायें निलय से निकलती हैं। फुप्फुसीय धमनी की कपाटिका में

तीन भाग हैं। इस कपाटिका को **अर्धचन्द्राभकपाटिका** (Semilunar Valve) कहते हैं। महाधमनी के मुख पर भी ऐसी ही कपाटिका हैं। ये कपाटिका रक्त को केवल धमनी में जाने देती हैं, धमनी से निलय में नहीं लौटने देतीं।
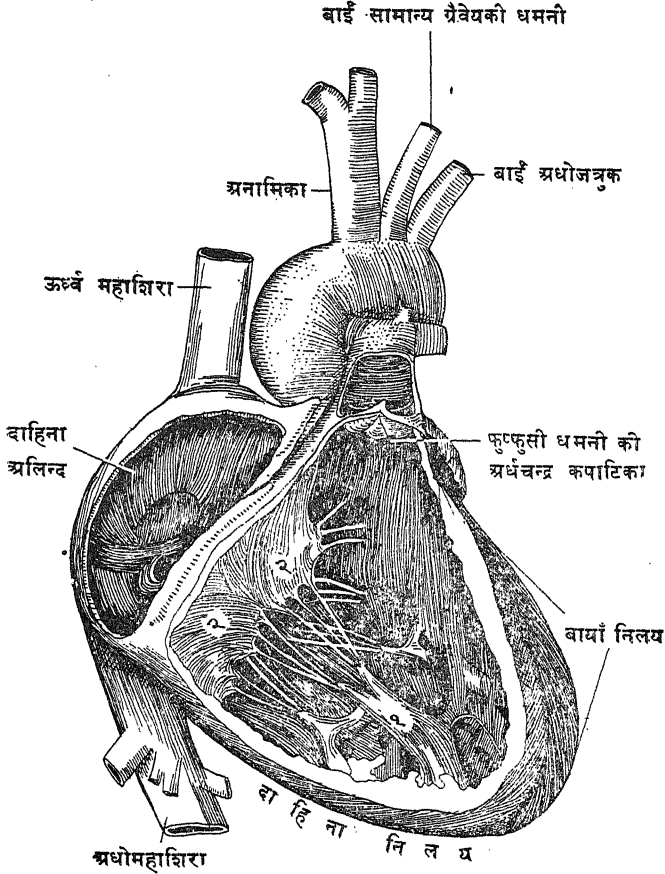
चित्र ९७—हृदय का दाहिना भाग काटकर भीतर से दिखाया गया है
[१—हृदयांकुर २, २—द्विकपर्दी कपाटिका के दोनों कपर्द]

हृदय के कोष्ठों के छिद्र : हृदय के प्रत्येक कोष्ठ में उन धमनी या शिरा के छिद्र हैं जिनके द्वारा हृदय में रक्त आता है या वहाँ से जाता है। धमनियाँ हृदय से रक्त ले जाती हैं, शिरायें लौटा कर लाती हैं।

दाहिने अलिन्द में दो छिद्र हैं। एक के द्वारा ऊर्ध्व महाशिरा (Superior vena cava) शरीर के ऊर्ध्व भाग से रक्त लाती है और दूसरे छिद्र से अधोमहाशिरा शरीर

के निचले भाग से रक्त लौटा कर लाती है। नीचे की ओर दाहिने निलय में एक छिद्र है जहाँ से फुफ्फुसी धमनी निकलती है और महाशिराओं द्वारा लाये हुए रक्त को फुफ्फुसों में ले जाती है।
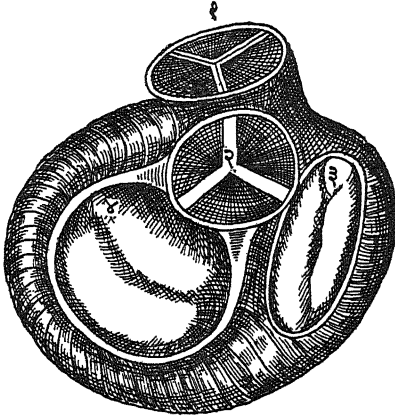
चित्र ६८—हृदय की कपाटिका बन्द अवस्था में दिखाई गई हैं
[१—फुप्फुसी धमनी को कपाटिका, २—वृहद् धमनी की कपाटिका, ३—बायें अलिन्द और निलय के बीच की द्विकपर्दीय कपाटिका, ४—दक्षिण अलिन्द और निलय के बीच की त्रिकपर्दी कपटिका]

बायें अलिन्द में चार फुप्फुसीय शिराओं के चार छिद्र हैं जिनमें होकर फुप्फुस में शुद्ध हुआ रक्त लौट कर यहाँ आता है। बायें निलय में केवल महाधमनी का छिद्र है जिस पर कपाटिका लगी हैं। इस छिद्र का आकार अन्य की अपेक्षा बड़ा है। यहाँ से शरीर की सबसे बड़ी और दृढ़ वाहिका निकलती है जिसको महाधमनी (Aorta) कहते हैं।

रक्तवाहिकायें : ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि हृदय चार कोष्ठों में विभक्त है। दो बायें और दो दाहिने ओर हैं। दोनों ओर के ऊपर के कोष्ठों में वाहिकायें रक्त को शरीर से लौटा कर लाती हैं। और नीचे के दोनों कोष्ठों अर्थात् निलयों से वाहिकायें रक्त को हृदय से शरीर में ले जाती हैं। हृदय से रक्त को ले जाने वाली इन वाहिकाओं को **धमनी** (Artery) कहते हैं और जो वाहिकायें रक्त को लौटा कर लाती हैं वे **शिरा** (Vein) कही जाती हैं। इन दोनों के बीच में **केशिका** (Capillaries) होती हैं जिनमें एक ओर से धमनियों से रक्त आता है और उनमें भ्रमण करने के पश्चात् उनके दूसरी ओर से शिराओं में लौट जाता है। धमनियाँ अत्यन्त सूक्ष्म शाखाओं में समाप्त होती हैं जो धमनिकायें (Arterioles) कहलाती हैं और केशिकाओं से मिल जाती हैं। शिराओं का प्रारम्भ केशिकाओं के दूसरे सिरे से होता है जहाँ शिराओं

की सूक्ष्म शाखायें बन जाती हैं और उनके मिलने से बड़ी शाखायें बनती चली जाती हैं। यहाँ तक कि इसी प्रकार महाशिरा बन जाती है।
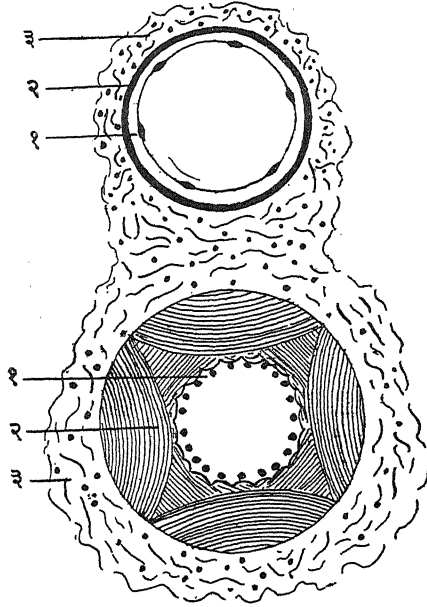
चित्र ६६—शिरा और धमनी की व्यत्यस्त काट
[१—अन्तःस्तर (Tunica Interna), २—मध्यस्तर (Tunica Media), ३—बहिःस्तर (Tunica Externa)। शिरा की अपेक्षा धमनी के मध्यस्तर में मांस-सूत्र कई गुणा अधिक हैं]

धमनी और शिरा : उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि धमनी रक्त को हृदय से ले जाने वाली वाहिका है और शिरा लौटाकर लाने वाली। इसके अतिरिक्त धमनियों में फुफ्फुस में शुद्ध हुआ रुधिर रहता है। इसके विरुद्ध शिराओं में शरीर के ऊतकों को पोषण और आक्सिजन देकर और कार्बन डाइ-आक्साइड लेकर लौटनेवाला अशुद्ध रक्त रहता है।

किन्तु इसका एक अपवाद भी है। दाहिने निलय से फुप्फुस को रक्त ले जाने वाली **फुप्फुसीधमनी** (Pulmonary Artery) कही जाती है। किन्तु उसमें अशुद्ध रक्त रहता है। **फुप्फुसी शिरा** (Pulmonary vein) फुप्फुस से बायें अलिन्द में शुद्ध रक्त को लाती हैं। इस विशेष अपवाद के अतिरिक्त शरीर में अशुद्ध रक्त को हृदय में लाने वाली वाहिकायें शिरायें और हृदय से शुद्ध रक्त को ले जाने वाली धमनियाँ कहलाती हैं।

धमनी और शिरा की रचनाओं में भी भेद है। धमनी मोटी और कड़ी होती है। उसकी भित्ति के मध्यस्तर (Middle Coat, Tunica Media) में स्थित स्थापक पेशी तन्तु बहुत होते हैं। इस कारण उनमें लचीलापन भी होता है। धमनियों में रक्त वेग से बहता है क्योंकि वह सीधा हृदय से आता है। उसका प्रवाह भी तीव्र होता
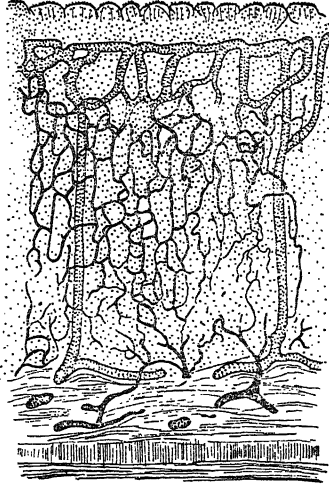
चित्र १००—काले रंग की धमनियों की शाखायें दिखाई गई हैं जिनमें होकर रक्त आता है और केशिकाओं में भ्रमण के पश्चात् शिराओं की केशिकाओं में होता हुआ लौट जाता है केशिकाओं के मिलने से बड़े आकार की शिरायें बनती जाती हैं।

है। रक्त के रेले आते रहते हैं। शिराओं में रक्त एक समान धीमी गति से बहता रहता है। उनकी चौड़ाई अधिक होती है और रक्त की मात्रा कम होती है। इस कारण उनमें प्रवाह की गति धीमी होती है। पेशी तन्तु बहुत कम होने से शिराओं की भित्तियाँ पतली होती हैं।

हृदय का कार्य : हृदय का कार्य शरीर में रुधिर को भेजना है। हृदय एक पम्प की भाँति काम करता है। एक ओर से उसमें शिराओं (महाशिराओं और फुप्फुसी धमनियों) द्वारा रक्त आता है जो हृदय के ऊपरी कोष्ठ अलिन्द में एकत्र हो जाता है। रक्त अलिन्द से निलय में जाता है और दाहिने निलय से फुप्फुसी धमनी द्वारा फुप्फुस में पहुँता है जहाँ उसमें आक्सिजन के मिलने से वह शुद्ध होकर फुप्फुसी शिराओं में होता हुआ बायें अलिन्द में लौट आता है। जब वह अलिन्द से निलय में जाता है तो वह उसको महाधमनी में भेज देता है जो अपनी शाखाओं द्वारा उसका सारे शरीर

में वितरण करती है और दूर से दूर स्थित भाग में शुद्ध रक्त भेज कर उसका पोषण करती है।

हृदय का संकोच और विस्तार : हृदय मांसपेशी तन्तुओं का बना हुआ एक थैला है। पेशी तन्तु का गुण संकोच करना है। शरीर में जहाँ भी पेशी तन्तु हैं वे संकोच करते हैं। अतएव हृदय भी संकोच करता है। उसका प्रत्येक भाग संकोच करता है। किन्तु हृदय का संकोच विशेष प्रकार का होता है, प्रथमतः दोनों ओर के अलिन्द संकोच करते हैं। तत्पश्चात् दोनों निलय संकोच करते हैं। संकोच के पश्चात् अलिन्द और निलय दोनों का विस्तार हो जाता है। कुछ समय तक दोनों विस्तृत दशा में रहते हैं। इन भागों का संकोच **प्रकुंचन** (Systole) कहलाता है और उनका विस्तार **अनुशिथलन** (Diastole) जो प्रकुंचन की प्रतिक्रिया मात्र है। दोनों अलिन्दों का प्रकुंचन साथ ही होता है जिससे अलिन्दों का रक्त निलयों में चला जाता है। तब अलिन्दों का अनुशिथलन प्रारंभ हो जाता है और दूसरी ओर निलयों का प्रकुंचन होने लगता है। इस समय में हृदय की दीवारों की पेशियों के संकुचित होने से निलय में जो रक्त भरा हुआ है वह दबता है, उस पर की दाब बढ़ जाती है और रक्त वहाँ से निकलने का प्रयत्न करता है। उसके निकलने के दो मार्ग हैं। एक अलिन्द की ओर और दूसरा महाधमनी और फुप्फुसी धमनी की ओर। इस समय निलय और अलिन्द के बीच की कपाटिकाएँ बन्द हो जाती हैं। रक्त उनके पीछे पहुँच कर स्वयं उनको ऊपर की ओर को उठा देता है। कपर्दिकाओं के किनारे एक दूसरे से सट जाते हैं और कपाटिका पूर्णतः बन्द होकर उस मार्ग को रोक देती है।

इसके विरुद्ध महाधमनी और फुप्फुसी धमनी के छिद्रों पर जो कपाटिका लगी हुई हैं वे धमनियों की ओर को खुल जाती हैं। वहाँ कोई अवरोध नहीं होता, मार्ग खुला होता है। अतएव रुधिर उसी ओर को अग्रसर हो जाता है। बायें निलय में जितना रक्त था वह उसके संकोच करने पर महाधमनी में और दाहिने निलय का रक्त फुप्फुसी धमनी में चला जाता है।

अब धमनियों की कपाटिकायें बन्द हो जाती हैं और रुधिर का पीछे की ओर निलय में लौटने का मार्ग बन्द कर देती हैं। इस कारण जब धमनी की दीवारें संकोच करके रक्त को दबाती हैं तो वह आगे को बढ़ जाता है। धमनियों की यह **प्रत्यास्थता** (Elasticity) था लचीलेपन का गुण रुधिर को उनके एक सिरे से दूसरे सिरे तक यात्रा करवाता रहता है और रुधिर दाब को निरन्तर बनाये रखता है। निलय के संकोच से जब रुधिर का रेला धमनी में पहुँचता है तो धमनी फैल जाती है और फिर संकुचित होकर उसको आगे को बढ़ा देती है। दूसरे रेले आने पर फिर फैलती है और फिर संकोच करती है। यही **नाड़ी** (Pulse) है। कलाई पर नाड़ी प्रतीत करने के समय जब अँगुली के नीचे स्थित बहिःप्रकोष्ठिक या रेडियल धमनी में रुधिर का रेला आता है तो धमनी फैलती है और

उसका धक्का हमारी अँगुली को प्रतीत होता है। जब रेला निकल जाता है तो धमनी के संकुचित होने पर वह नहीं प्रतीत होता। यही नाड़ी स्पन्दन कहलाता है।

धमनियों और उनकी शाखाओं में गया हुआ रक्त सारे शरीर में भ्रमण करता है; उसके अंगप्रत्यंग में परिसंचरित होता है और तब केशिकाओं और शिराओं में होता हुआ हृदय के दाहिने भाग में लौटता है। अलिन्द में आकर वहाँ से निलय में जाता है, निलय से फुप्फुसी धमनी में होता हुआ फुप्फुस में पहुँचता है। वहाँ वायु से आक्सिजन लेता है और कार्बन डाइ-आक्साइड दे देता है। वहाँ से फुप्फुसी शिरा द्वारा बायें अलिन्द में होता हुआ बायें निलय द्वारा फिर महाधमनी में पहुँच जाता है। इसी को **रुधिर परिसंचरण** (Blood Circulation) कहते हैं। अर्थात् जो रक्त एक स्थान से चलता है वह शरीर में घूम कर फिर उसी स्थान पर लौट आता है।

हृद्चक्र (Cardiac Cycle) : भी यही है जिसका ऊपर वर्णन किया गया है। इसका अर्थ है कि हृदय में प्रकुंचन और अनुशिथिलन तथा उनमें घटने वाली घटनाओं का एक चक्र चलता रहता है। जो घटना एक विशिष्ट समय पर हो रही है कुछ समय पश्चात् वही घटना फिर से होगी और उसके पश्चात् जो घटनायें जिस क्रम से हुई थीं वे उसी क्रम में फिर होंगी। मान लो, हमारे प्रथम देखने के समय दोनों निलयों का प्रकुंचन हो रहा है। उसके पश्चात् अलिन्द और निलय दोनों का—पूरे हृदय का—अनुशिथिलन होगा। दोनों कुछ समय तक विश्राम अवस्था में रहेंगे, तब अलिन्दों का प्रकुंचन प्रारम्भ होगा। उसके पश्चात् अलिन्दों का **अनुशिथिलन** (Diastole) होगा और निलयों का प्रकुंचन प्रारम्भ हो जायगा। फिर पूर्ववत् कार्य चलेगा।

रुधिर परिसंचरण : सन् १६०२ में प्रथम बार हारवे नामक विद्वान् ने इस बात की खोज की थी कि शरीर में रुधिर चक्र रूप में प्रवाह करता है। वह एक ओर से हृदय में एक प्रकार की नलियों द्वारा आता है और हृदय के दूसरी ओर से दूसरी प्रकार की नलिकाओं द्वारा निकल कर शरीर में परिसंचार करता है और फिर पहले मार्ग से हृदय में लौटकर आता है। वह विपरीत मार्ग से न आ सकता है न जा सकता है। हृदय की रचना ही ऐसी है कि वह रुधिर को केवल एक ही मार्ग से आने-जाने देती है। आने और जाने के मार्ग अलग-अलग हैं। अतएव वह एक निर्दिष्ट मार्ग से आता है और दूसरे निर्दिष्ट मार्ग से जाता है। एक पूर्ण हृद्चक्र ०·८ सेकण्ड में होता है। अर्थात् १ मिनट में ७२ बार होता है। अलिन्दों का प्रकुंचन ०·१० सेकण्ड लेता है। ०·७ तक उसका अनुशिथिलन रहता है। निलय का प्रकुंचन ०·३ सेकण्ड तक रहता है और तब ०·५ सेकण्ड तक वह अनुशिथिलन अवस्था में रहता है।

हृत्स्पन्द (Heart Beat) : हृदय की धड़कन को हृत्स्पन्द कहते हैं। एक बार की धड़कन में एक हृद्चक्र पूरा हो जाता है। वक्ष पर मध्य रेखा के साढ़े पाँच इंच बाईं ओर

५वीं और ६ठीं पर्शुका के बीच में हथेली या अँगुली रखने पर ठहर-ठहर कर हथेली पर एक आघात प्रतीत होता है। यह हृदय का शिखर है जो संकोच के समय वक्ष पर आघात करता है। यह **शिखरस्पन्द** (Apex Beat) कहा जाता है। इससे डाक्टर लोग हृदय के आकार का अनुमान करते हैं।

हृदय के शब्द : हृच्चक्र में दो शब्द सुनाई देते हैं। वक्ष पर बाईं ओर कान या स्टैथिस्कोप को रख कर यदि सुनें तो हलका किन्तु दीर्घकालिक प्रथम शब्द प्रकुंचन काल में सुनाई देगा। इसकी समता 'ल...ब' से दी जाती है। दूसरा शब्द तीव्र किन्तु अल्प-कालिक अनुशिथिलन काल में होता है। इसकी समता 'डुप' से दी जाती है। इनको **प्रकुंचनी** (Systolic) और **अनुशिथली** (Diastolic) शब्द भी कहा जाता है।

रुधिर के प्रवाह का मार्ग : बायें निलय के प्रकुंचन से रुधिर उससे निकल कर **महाधमनी** (Aorta) में आता है जो हृदय के ऊर्ध्व भाग, **आधार** (Base) के पीछे से निकल कर ऊपर की ओर मोड़ खाती हुई चाप के समान चली जाती है और फिर वहाँ से नीचे को उतरती है। यह भाग महाधमनी की **चाप** (Arch of Aorta) कहलाती है। इस चाप के शिखर से तीन मोटी-मोटी शाखायें निकलती हैं, दाहिनी ओर **अनामिक** या **इन्नोमिनेट** (Innominate) धमनी, बीच में **मूलमातृका** (Common Carotid) और बाईं ओर **अधोजत्रुक** (Subclavian)। दाहिनी ओर की अनामिका निकलने के पश्चात् ही दो शाखाओं (मूल मातृका और अधोजत्रुक) में विभक्त हो जाती है। दोनों मूल मातृका ग्रीवा में चली जाती हैं और लगभग उसके मध्य में **बाह्यमातृका** और **अभ्यन्तर मातृका** (External and Internal Carotids) में विभाजित हो जाती हैं। दोनों ओर की **अन्त:मातृकायें** सीधी ऊपर कपाल के भीतर पहुँचकर मस्तिष्क के तल पर कई शाखाओं में विभक्त होकर मस्तिष्क की वस्तु में और उसके पृष्ठ पर वितीर्ण हो जाती हैं। बाह्य-मातृका ग्रीवा की पेशियों और अन्य रचनाओं को शाखायें भेजती हुई कान के नीचे पहुँच कर दो शाखाओं में विभक्त हो जाती है, जो कान के पीछे तथा सामने से होती हुई कपाल पर पहुँच कर अनेक शाखाओं में समाप्त होती हैं। ये शाखायें दूसरे ओर की अनेक शाखाओं में मिल जाती हैं और सब भागों को रक्त पहुँचाती हैं। इन अन्तिम शाखाओं के मिलने को **सम्मिलन** (Anastomosis) कहते हैं। अधोजत्रुक बाहु में प्रगंडिका धमनी (Brachial Artery) कहलाती है। इसकी दो शाखायें अग्रबाहु में **अन्त: और वहि:प्रकोष्ठ धमनिय** (Ulnar & Radial Artery) भीतर और बाहर की ओर स्थित हैं और हथेली में पहुँचकर **करतल चाप** (Palmar Arch) बनाती हैं।

वक्ष में चाप से महाधमनी सीधे नीचे को उतरती हुई, सारे वक्ष के प्रान्त को पार करके मध्यच्छदा द्वारा उदर में पहुँच कर उदर में स्थित सभी अंगों को बड़ी-बड़ी शाखाओं द्वारा रक्त भेजकर उनका पोषण करती है। अन्त में पाँचवें कटि कशेरुक पर पहुँच कर **सामान्य श्रोणिफलक** (Common Iliac) शाखाओं में विभक्त हो जाती है। इनमें

से प्रत्येक की फिर दो शाखायें होती हैं। एक शाखा **श्रोणि** में स्थित अंगों में चली जाती है और दूसरी उरु में आकर **श्रौर्वी** (Femoral) कहलाती है जो नीचे जानु के पृष्ठ पर पहुँच कर **पूर्वप्रजंघिका** (Anterior Tibial) और **पश्चप्रजंघिका** (Posterior Tibial) में विभक्त हो जाती है ये गुल्फ में होती हुई पादतल में पहुँच कर पादतल चाप (Plantar arch) बनाती हैं जिसकी शाखायें अँगुलियों के शिरों तक पहुँच कर वहाँ के तन्तुओं का पोषण करती हैं।
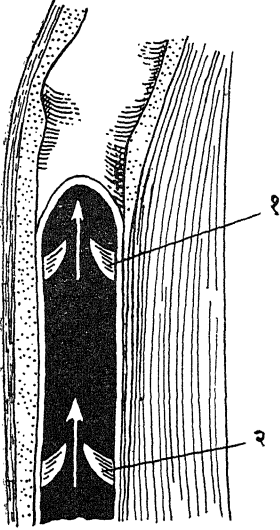
चित्र १०१—शिराओं के भीतर कपाटिकाएँ रक्त प्रवाह को गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध यात्रा करने में सहायता देती हैं
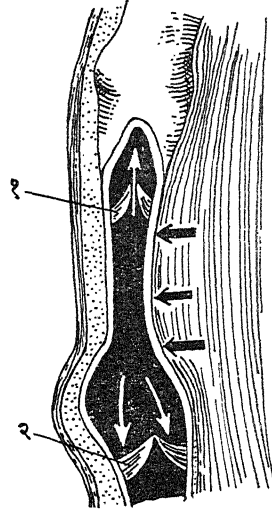
चित्र १०२—पेशी के संकोच से रक्त प्रवाह में सहायता मिलती है

धमनियों की यह विशेषता है कि उनकी अन्तिम शाखायें दूसरी ओर की समान तथा आसपास की धमनियों की अन्तिम शाखाओं के साथ सम्मेलन करती हैं। ये ही **सम्मिलन** (Anastomosis) कहलाता है।

धमनियों के साथ शिरायें भी रहती हैं। उनके नाप धमनियों ही के समान होते हैं। इनमें रक्त हृदय की ओर को प्रवाहित होता है। उसके प्रवाह की दिशा धमनी के प्रवाह से विरुद्ध होती है। हमारे खड़े होने पर टाँगों में रक्त का प्रवाह गुरुत्वाकर्षण नियमों के विरुद्ध पाँवों से हृदय की ओर को होता है। शिराओं के भीतर जो कपाटिका होती हैं वे रक्त को ऊपर की ओर प्रवाह करने में बहुत सहायता देती हैं। पेशियों के संकोच से भी शिरा में रक्त पर दबाव पड़ने से उसका प्रवाह और बढ़ता है।

अधोशाखा तथा उदर के अंगों से रक्त **अधोमहाशिरा** (Inferior Vena Cava) द्वारा लौटता है। वह **प्रतिहारिणी शिरा** (Portal Vein) द्वारा आमाशय, अग्न्याशय, आन्त्र और प्लीहा से यकृत में जाता है और याकृती शिरा द्वारा फिर अधोमहाशिरा में लौट आता है। यह **प्रतिहारिणी परिसंचरण** (Portal Circulation) कहा जाता है। मस्तिष्क तथा सिर से मातृका धमनी की सहगामी जुगुलर या ग्रीवा शिरा (Jugular Vein) और ऊर्ध्व शाखाओं से एकत्र हुआ रक्त अधोजत्रुक शिरा में होकर ऊर्ध्व महाशिरा (Superior Vena Cava) में होता हुआ हृदय के दायें अलिन्द में लौट आता है। इस प्रकार रक्त परिसंचरण का एक पूरा चक्र हो जाता है। यह दैहिक परिसंचरण (Systemic Circulation) कहा जाता है।

इसी की भाँति किन्तु इससे बहुत छोटा चक्र **फुप्फसी परिसंचरण** (Pulmonary Circulation) है। रुधिर हृदय से फुप्फुस में जाता है और फुप्फुस से हृदय में लौट आता है।

नाड़ी (Pulse) : जैसा पहले बताया जा चुका है धमनी में रक्त के आने-जाने से नाड़ी प्रतीत होती है। जब रक्त का रेला किसी विशेष स्थान पर आता है तो वहाँ धमनी चौड़ी हो जाती है और फिर संकुचित होकर रक्त को आगे को धकेल देती है। धमनी का फैलना और संकुचित होना ही नाड़ी का कारण होता है। इसी को हम प्रतीत करते हैं।

चित्र १०३—शिरा में कपाटिका की स्थिति

युवा व्यक्ति में नाड़ी प्रति मिनट ७२ से ८० बार चलती है। वृद्धावस्था में नाड़ी की संख्या ६० से ७० रह जाती है। शैशवावस्था में नाड़ी तीव्र गति से चलती है।

नाड़ी की परीक्षा करते समय उसकी गति संख्या या **आवृत्ति** (Frequency), बल (Force), आयतन (Volume) और क्रमबद्धता (Regularity) देखी जाती हैं। वह एक मिनट में कितने बार चलती है। प्रतीत करने में अँगुलियों को वेग से धक्का लगता है या हलका सा। उसी से उसका बल समझा जाता है। नाड़ी भरी हुई है या खाली लगती है। नाड़ी के स्पन्दन समान अन्तर से होते हैं या बीच-बीच में कोई स्पन्दन तो नहीं होता।

रुधिर दाब (Blood Pressure) : वाहिकाओं में रुधिर प्रवाह के समय उनकी दीवारों पर रुधिर का दबाव पड़ता रहता है। रुधिर उनको दबाता रहता है। यही रुधिर दाब कहलाता है। इसको एक विशेष यन्त्र से नापा जाता है जिसको **रुधिर-दाबमापी** या **स्फिगमोमैनोमीटर** (Sphygmomanometer) कहते हैं। इसमें
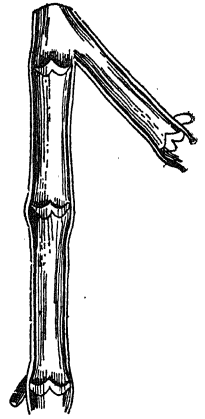
रबड़ का एक बल्ब होता है जिससे वायु भरी जाती है, बल्ब से एक नलिका एक कपड़े के थैले में जाती है और दूसरी काँच की एक सीधी नली में जिसमें पारा भरा रहता है और उस पर नीचे से ऊपर को २० से लेकर २०० या २५० तक अंक लिखे रहते हैं। थैले को बाहु पर लपेट दिया जाता है और रबड़ के बल्ब से वायु भरी जाती है जिससे एक ओर वायु के दाब से थैला फूल कर बाहु के भीतर की धमनी को दबाता है और दूसरी ओर मापक नली का पारा ऊपर को उठता है। प्रयोग के समय एक हाथ से वायु भरते रहते हैं और दूसरे की अँगुलियों से कलाई पर बहि:प्रकोष्ठिका धमनी को प्रतीत करते रहते हैं। जब थैले में इतनी वायु भर जाती है कि उसके दबाव से धमनी में रक्त का प्रवाह रुक जाता है तो नाड़ी नहीं प्रतीत होती। उसी समय मापक नलिका में पारे का ऊपरी तल किस अंक पर है यह देख लिया जाता है। यही **प्रकुंचन रुधिरदाब** (Systolic Pressure) कहलाता है। आजकल कुहनी के सामने की ओर स्टेथिस्कोप के श्रवण भाग को रखकर उससे धमनियों में होने वाले शब्द को सुनकर दाब का अंक मालूम किया जाता है। **अनुशिथलन दाब** (Diastolic Pressure) भी इसी प्रकार मापी जाती है।

प्रकुंचन दाब १२० से १६० मिलीमीटर पारा होती है और अनुशिथलन दाब ८० से ९०। इन दोनों का अन्तर नाड़ी दाब (Pulse Pressure) कहलाता है।

रुधिर (Blood)

धमनी और शिराओं में रुधिर प्रवाह किया करता है। यही हमारा जीवन द्रव्य है जिसके कारण जीवन बना रहता है। इसका प्रवाह बन्द होते ही मृत्यु हो जाती है। रुधिर का कार्य शरीर के प्रत्येक भाग में पोषण और आक्सिजन पहुँचाना है। शरीर में होनेवाली रासायनिक क्रियाओं से उत्पन्न हुए निकृष्ट पदार्थों का संवहन करके उन अंगों में पहुँचाना जहाँ उनका नाश होता है तथा वे शरीर से बाहर निकाल दिये जाते हैं यह भी रक्त का कर्म है। रक्त शरीर की रोगों से रक्षा भी करता है।

रुधिर की रचना पहले बताई जा चुकी है। इसके तरल भाग प्लाविका (Plasma) में श्वेत कणिका और लाल कणिका तथा कुछ विम्बाणु (Platelets) मिले रहते हैं। प्लाविका हलके पीले रंग की होती है। रुधिर के लाल रंग का कारण लाल कणिकाएँ होती हैं जिनमें **हीमोग्लोबिन** (Haemoglobin) नामक पदार्थ भरा रहता है। रुधिर में एक और वस्तु भी होती है जिसको **फाइब्रिनोजन** (Fibrinogen) कहते हैं जिससे रक्त के जमने के समय फाइब्रिन बनती है। यदि रक्त को किसी तीली या शलाका से हिलावें तो उस पर पतले-पतले तार से एकत्र हो जायेंगे। ये फाइब्रिन के तन्तु हैं। फाइब्रिन को रक्त से पृथक् कर देने से प्लाविका का जो भाग बचेगा वह **सीरम**

(Serum) कहलाता है। रक्त में **प्रो-थ्रोम्बिन** (Prothrombin) नामक वस्तु भी होती है जो रक्त के जमने का कारण होती है।

लाल कणिकायें (देखो पृष्ठ १७) शरीर की आक्सिजनवाहक होती हैं। वे फुफ्फुस से आक्सिजन को ले जाकर शरीर के प्रत्येक भाग में पहुँचाती हैं। इनमें जो हीमोग्लोबिन भरा रहता है उसका यही विशेष कर्म है। १०० सी०सी० रक्त में १४ ग्राम हीमोग्लोबिन होती है। और वह १८·५ सी०सी० आक्सिजन को सोख सकती है। आक्सिजन के संयोग से उसका चमकता हुआ गाढ़ा लाल रंग हो जाता है। जब यह आक्सिजन युक्त रुधिर शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में पहुँचता है तो वहाँ के ऊतकों में रक्त से सीरम, आक्सिजन और पोषण को लेकर केशिकाओं की भित्तियों से छन कर बाहर ऊतकों में पहुँच जाता है जहाँ आक्सिजन और पोषण का ऊतक उपयोग कर लेते हैं और उपयोग के पश्चात् बचे हुए निकृष्ट पदार्थों को लेकर सीरम फिर केशिका भित्ति द्वारा भीतर आकर रक्त में मिल जाता
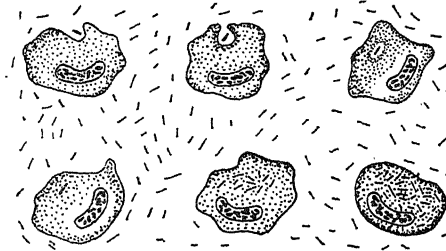
चित्र १०४—जीवाणु भ्रमण

है। आक्सिजन के विच्छेद के पश्चात् हीमोग्लोबिन का रंग नीलिमायुक्त हो जाता है। इसी कारण शिरायें नीले से रंग की दिखाई देती हैं। हीमोग्लोबिन का यह आक्सिजन से संयोग का गुण शरीर के लिये अत्यन्त महत्व का है। इसके बिना शारीरिक क्रियायें नहीं हो सकतीं। जिन रोगों में हीमोग्लोबिन कम होकर रक्तक्षीणता हो जाती है उनमें अत्यन्त दुर्बलता मालूम होती है, काम करने की शक्ति नहीं रहती, तनिक-सा चलने से साँस फूलने लगता है और नेत्रों के नीचे तथा मुख पर सूजन आ जाती है। लाल कणिकायें केवल हीमोग्लोबिन का पैकेट हैं और उसी के द्वारा आक्सिजन को सारे शरीर में पहुँचाती हैं। इनका जीवन लगभग तीन महीने का होता है जिसके पश्चात् ये नष्ट हो जाती हैं। अस्थिमज्जा का काम नवीन लाल कणिकाओं को बनाने का है। वहाँ से नई कणिकायें बन कर रक्त में आती रहती हैं। इनको **लोहिताणु** (Erythrocytes) कहते हैं।

श्वेत कणिकाओं का मुख्य कर्म शरीर की रोगों के जीवाणुओं से रक्षा करना है। वे जीवाणुओं को खा जाते हैं। यह क्रिया **जीवाणु भक्षण** (Phagocytosis) कहलाती है और इन कणिकाओं को **भक्षकाणु** (Phagocytes)) कहते हैं। एक श्वेताणु छः जीवाणु तक खा जाता है। यह बहुरूपी-केन्द्रकी (Polymorphonuclear) श्वेताणुओं का

विशेष कर्म है। श्वेताणुओं में इनकी संख्या लगभग ६० प्रतिशत होती है। शरीर में जहाँ जीवाणु प्रवेश करते हैं ये श्वेताणु वहीं पहुँच कर उनको घेर लेते हैं और उनका भक्षण प्रारम्भ कर देते हैं। यदि जीवाणुओं की संख्या बहुत हुई या वे अति प्रबल हुए
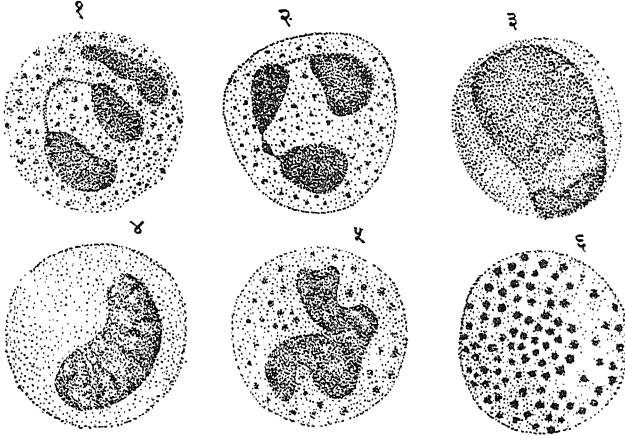
चित्र १०५—श्वेताणु
[१, २, ५—बहुरूपी केन्द्रकी ३—वृहद एककेन्द्रकी ४—लघु एककेन्द्रकी ६—ईओसिनरागी]

तो वे जीत जाते हैं और शरीर रोग ग्रस्त हो जाता है। नहीं तो उनका नाश हो जाता है और हम रोगमुक्त रहते हैं। जीवाणुओं के आक्रमण का हमको पता भी नहीं चलता।

श्वेताणुओं की दूसरी जातियाँ लसीकाणु (Lymphocytes) ३० प्रतिशत, वृहद् एककेन्द्रकी (Large Mononuclear) ६ या ७ प्रतिशत और ईओसिनरागी (Eosinophile) ३ या ४ प्रतिशत हैं। इनको अनुदर्शी द्वारा देखने के लिए रँगना आवश्यक होता है जिससे केन्द्रक और अन्य भाग भिन्न-भिन्न रंग ले लेते हैं। कुछ रंग थोड़ा लेते हैं, उन पर रंग भली प्रकार नहीं चढ़ता। वे **उदासीनरागी** (Neutrophile) कहलाते हैं। कुछ मिथिलीन ब्लू जैसे भास्मिक रंगों को लेते हैं, वे **भस्मरागी** (Basophile) कहे जाते हैं। तीसरे प्रकार के ईओसीन को ग्रहण करते हैं और ईओसीनरागी (Eosinophile) के नाम से पुकारे जाते हैं। इनका ऊपर उल्लेख किया गया है।

रक्त में जीवाणुओं का नाश व उनको **निष्क्रिय** कर देने की और भी शक्तियाँ हैं। रक्त के द्रव भाग में कुछ ऐसी वस्तुएँ होती हैं जो जीवाणुओं को गुच्छों में बाँध देती हैं, उनके समूह बना देती हैं जिससे उनकी गति करने की शक्ति जाती रहती है। ये वस्तुयें **समूहन-कर** (Agglutinins) कहलाती हैं और यह **क्रिया समूहन** (Agglutination) कही

जाती है। जीवाणुओं को गला देने वाली वस्तुएँ भी रक्त में रहती हैं जिनको **जीवाणुलायी** (Bacteriolysins) कहते हैं।

ऐसी ही रक्त में एक दूसरी वस्तु होती है जो **रुधिर संलयिका** (Haemolysins) कहलाती हैं। यदि एक जन्तु का रुधिर दूसरे जन्तु में प्रविष्ट करा दिया जाय तो उस रुधिर की लाल कणिकायें गल जायेंगी। रक्त में उपस्थित संलयिका वस्तुयें शरीर में
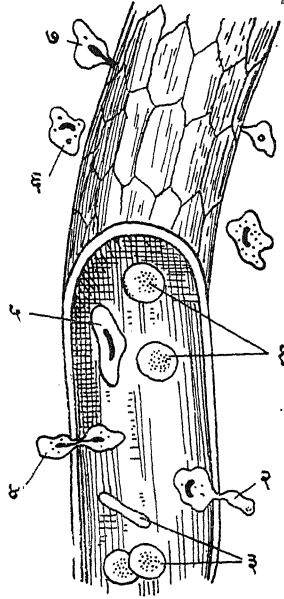
चित्र १०६—श्वेताणुओं का वाहिका की वित्ति की कोशिकाओं के बीच से निकल कर ऊतकों में पहुँचने की विधि
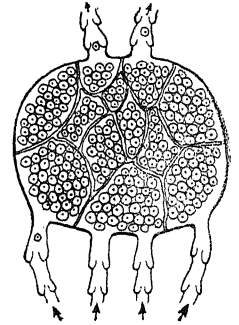
चित्र १०७—लिम्फ़ ग्रन्थिका (Lymph Node)

आये हुए रक्त की लाल कणिकाओं को गला देती हैं। यह क्रिया **रुधिरसंलयन** (Haemolysis) कहलाती है।

रक्त में एक तीसरी वस्तु होती है जो जीवाणुओं को भक्षाणुओं के लिए रुचिकर बना देती है। यह पाया गया है कि यदि जीवाणुओं को नमक के घोल से धोकर श्वेताणुओं के बीच में छोड़ दिया जाय तो श्वेताणु उनको नहीं खाते। किन्तु यदि जीवाणुओं में थोड़ा-सा रक्त या सीरम, विशेषकर उस व्यक्ति का जिसके श्वेताणु हैं, मिला दिया जाय तो श्वेताणु या भक्षाणु उनको तुरन्त खा जाते हैं। इससे यही अनुमान होता है कि रक्त में या सीरम में कुछ ऐसी वस्तु हैं जिनके मिल जाने से जीवाणु भक्षाणुओं के लिए स्वादिष्ट

हो जाते हैं। इन स्वादिष्ट बनाने वाली वस्तुओं को **औप्सोनिन** (Opsonins) कहते हैं।

रोगक्षमता (Immunity) : उपर्युक्त कारणों से शरीर में रोगों से अपनी रक्षा करने की सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है। यह सामर्थ्य रोगक्षमता कहलाती है। सहज या **प्राकृतिक** (Natural) रोगक्षमता जन्म से सब व्यक्तियों में होती है। **उपार्जित रोगक्षमता** (Acquired) रोग के आक्रमण या कृत्रिम साधनों द्वारा उत्पन्न होती है। उपार्जित भी दो प्रकार की होती है, **सक्रिय** (Active) और **निष्क्रिय** (Passive)। जीवाणुओं को शरीर में प्रविष्ट करने से जो **प्रतिपिंडों** (Anti-body) के बनने से रोगक्षमता उत्पन्न होती है वह सक्रिय होती है। प्रतिपिंडों को उत्पन्न करने के लिए जो जीवाणु या पदार्थ शरीर में प्रविष्ट किये जाते हैं वे **वैक्सीन** (Vaccine) या प्रतिपिंडज (Antigen) कहलाते हैं। वे जीवाणुओं की प्रबलता को इस प्रकार घटा देते हैं कि जिन व्यक्तियों को उनके घोल (वैक्सीन) का इन्जेक्शन दिया जाता है उनको कोई हानि नहीं पहुँचती। निष्क्रिय क्षमता उत्पन्न करने के लिए किसी जन्तु के शरीर में प्रतिपिंड सक्रिय क्षमता से उत्पन्न करने पड़ते हैं। जब उसके रक्त में प्रतिपिंडों की बहुत मात्रा हो जाती है तो उसके शरीर से थोड़ा रक्त निकाल कर उससे सीरम पृथक् करते हैं। इस प्रतिपिंडयुक्त सीरम के इन्जेक्शन से निष्क्रिय क्षमता उत्पन्न होती है। यह अल्पस्थाई होती है। इसका प्रयोग विशेषकर चिकित्सा के लिए किया जाता है। टिटेनस, डिप्थीरिया आदि रोगों में जहाँ उनके **जीवविषों** (Toxins) को मारने का विशेष प्रयोजन होता है वहाँ इसी प्रकार की चिकित्सा से लाभ होता है। वहाँ इतना समय नहीं होता कि शरीर स्वयं प्रतिपिंड उत्पन्न कर सके। अतएव उनकी चिकित्सा के लिए पूर्वजात प्रतिपिंडों की आवश्यकता होती है जिनको **प्रतिजीवविष** (Anti-toxins) कहते हैं। जिस जन्तु में ये उत्पन्न किये जा चुके हैं उनके रक्त से सीरम को पृथक् करके उसके इन्जेक्शन दिये जाते हैं। ये वस्तुएँ **एन्टीसीरम** (Anti-serum) कहलाती हैं।

बहुत बार महामारी फैलने के दिनों में ऐसी वस्तुओं के इन्जेक्शन देकर रोग रोकने का प्रयत्न किया जाता है। यह **रोगक्षमीकरण** (Immunization) कहलाता है। इसका प्रयोजन जनता को **रोगक्षम** (Immune) बनाना होता है।

रुधिर-गणना (Blood Count) : संक्रामक रोगों में तथा रक्त के रोगों में बहुत बार रुधिर गणना की जाती है। इसका अर्थ है रक्त के एक घन मिलीमीटर में उयस्थित श्वेताणु और लोहिताणुओं की गणना करना। इसके लिए एक विशेष यन्त्र आता है जिसको **हीमोसाइटोमीटर** (Haemocytometer) कहते हैं। इसी से लोहिताणु और श्वेताणुओं की प्रति घन मिलीमीटर में उपस्थित संख्या मालूम की जाती है। यदि लोहिताणु ५ लाख

से कम होते हैं तो रुधिर क्षीणता (Anaemia) रोग समझा जाता है। जब शरीर में कहीं **पूय या पीप** (Pus) बनने लगती है या **जीवाणु प्रदाह** (Inflammation) उत्पन्न कर देते है तो श्वेताणुओं की संख्या बढ़ जाती है जिसको **श्वेताणु वृद्धि** (Leucocytosis) कहते हैं।

रुधिराधान (Transfusion of Blood)

शरीर के कहीं कट जाने से या **शस्त्रकर्मों** (Operations) में कभी-कभी रुधिर की शरीर से अधिक मात्रा निकल जाती है। उस समय रक्त की कमी को पूरा करने के लिए किसी उपयुक्त वर्ग के व्यक्ति के शरीर से रक्त लेकर रोगी के शरीर में प्रविष्ट कर देते हैं। इस कर्म को रुधिराधान कहा जाता है। जो अपना रुधिर देता है उसको **प्रदाता** (Donor) कहते हैं और जिसके शरीर में प्रविष्ट किया जाता है उसको **आदाता** (Recipient)। तीव्र रक्तस्राव (Haemorrhage) होने पर इस कर्म से व्यक्ति की जान बच जाती है। रक्तस्राव का अर्थ है शरीर से रक्त निकलना। कभी-कभी अति तीव्र रक्तस्राव से तुरन्त मृत्यु हो जाती है। कुछ रोगों में रक्तस्राव हुआ करते है। ऐसी दशा में रुधिराधान ही रोगी की जीवन-रक्षा का एकमात्र उपाय है। यद्यपि रुधिराधान से जीवन की रक्षा होती है किन्तु वह एक गूढ़ प्रकिया है जिससे भयंकर परिणाम भी हो सकते हैं। कई बार उससे मृत्यु तक हो गई है। कारण यह है कि सब व्यक्तियों के रक्त समानुकूल नहीं होते। एक का रक्त दूसरे के रक्त के **प्रतिकूल** (Incompatible) हो सकता है। ऐसे रक्तों को मिला देने ऐसे अवांछित फल होते हैं।

यह कहा जा चुका है कि रक्त में समूहनक और रुधिरलायी वस्तुयें होती हैं। पहिले समूहन होता है, फिर रुधिरसंलयन होता है। समूहन तब होता है जब एक के रुधिर में **समूहनकजन** (Agglutinogen) हों और दूसरे के रक्त में समूहनक (Agglutinins) हों। ऐसे व्यक्तियों के रक्तों को मिला देने से समूहन (Agglutination) हो जायगा और तब संलयन हो जायगा। अतएव रुधिराधान करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि आदाता और प्रदाता के रक्त में समूहन उत्पन्न करने वाली वस्तुयें तो वर्तमान नहीं है। इसके लिए दोनों के रक्त की जो परीक्षा की जाती है वह रुधिर-तुलना (Blood Matching) कहलाती है। इससे दोनों के रक्तों की समानुकूलता (Compatibility) या असमानुकूलता मालूम हो जाती है।

परीक्षाओं से पाया गया है कि संसार के व्यक्तियों को रक्तानुसार ४ वर्गों में बाँटा जा सकता है जो अन्तर्राष्ट्रीय वर्गीकरण के अनुसार O. A. B. और A.B. समूह कहे जाते हैं। A .B. समूह के व्यक्तियों का रक्त सब समूहों के रक्त के समानुकूल होता है। अतएव उनका रक्त सबों को दिया जा सकता है। A. B. समूह के व्यक्ति सबों का रक्त ग्रहण

कर सकते है। ये **सर्वादाता** (Universal Recipients) कहे जाते हैं। A. समूह का रक्त A. B. और A. समूह के अनुकूल होता है। इस कारण इन दोनों समूह के व्यक्ति A. समूह का रक्त ग्रहण कर सकते है, किन्तु B और A का नहीं ग्रहण कर सकते हैं। समूह का रक्त A. B. और A. समूह के व्यक्ति ग्रहण कर सकते हैं। किन्तु A. और O. नहीं ग्रहण कर सकते। रुधिराधान करने से पूर्व यह परीक्षा बहुत आवश्यक होती है। रुधिर में एक R. H. अंश (Rhesus Factor) भी होता है जिसको जानना भी आवश्यक है।

आजकल बड़े-बड़े अस्पतालों में रुधिर के बैंक बना दिये गये हैं जिनमें परीक्षा के पश्चात् प्रदाताओं के शरीर से रक्त लेकर बोतलों में बन्द करके और लेबिल लगाकर रेफ्रीजरेटरों में रख दिया जाता है और आवश्यकता अनुसार रोगी के उपयोग के लिए दूर-दूर भेजा जाता है।

रक्त का जमना (Clotting)

रक्त का जमना एक विशेष महत्व की क्रिया है जिससे रक्तस्राव स्वयं ही बन्द हो जाता है। बहुत बार अँगुली या अन्य किसी स्थान के कटने से थोड़ा रक्त निकल कर वहाँ जम जाता है जिससे रक्त निकलना बन्द हो जाता है। यदि रक्त न जमे तो निरन्तर रक्त निकलता ही रहे और मृत्यु हो जाय। कोई-कोई ऐसे व्यक्ति होते है जिनके रक्त में जमने की शक्ति नहीं होती। ऐसे व्यक्तियों की दाँत निकालने जैसे साधारण कर्म में रक्तस्राव से मृत्यु हो सकती है। किन्तु जब से रुधिराधान की विधि मालूम हो गई है तब से एसी दुर्घटनायें नहीं के समान हो गई हैं।

रक्त जमने की भी अद्भुत क्रिया है। गत पृष्ठों में कहा गया है कि रक्त में **प्रोथ्रौम्बिन** (Prothrombin) और **फाइब्रिनोजन** (Fibrinogen) नामक दो वस्तुएँ होती हैं। प्रोथ्रौम्बिन स्वतः रक्त में नहीं रहता। यह बिम्वाणुओं और कुछ श्वेताणुओं के नष्ट शरीरों से निकलता है। कट जाने के समय जो विम्बाणु या श्वेताणु नष्ट होते हैं उनके शरीरों से प्रोथ्रौम्बिन मुक्त हो जाता है। कटे हुए मांस और त्वचा से एक प्रकिण्व निकलता है जिसको थ्रोम्बोकाइनेज (Thrombokinase) कहते हैं। रक्त के कैलसियम की उपस्थिति में प्रोथ्रौम्बिन और थ्रौम्बोकाइनेज के मिलने से थ्रोम्बिन (Thrombin) बन जाता हैं। थ्रौम्बिन और फाइब्रिनोजन के मिलने से **फाइब्रिन** (Fibrin) बन जाती है। फाइब्रिन श्वेताणु और लोहिताणु मिलकर रुधिर का थक्का (जमा हुआ भाग, Clot) बना देते हैं जो रक्तवाहिका के कटे मुख को बन्द कर देता है और रक्त निकलना बन्द हो जाता है।

सातवाँ परिच्छेद

श्वसन तन्त्र

(Respiratory System)

श्वसन तन्त्र का काम श्वास द्वारा वायु को ग्रहण करके उसको फुफ्फुस में पहुँचाना है। जहाँ वायु से रुधिर आक्सिजन को सोख लेता है और शरीर के प्रत्येक ऊतक में पहुँ-जाता है और ऊतकों में उत्पन्न हुई कार्बन डाइ-आक्साइड प्लाज्मा द्वारा फुफ्फुस में लौटा आता है। श्वास लेने का यही वास्तविक प्रयोजन है। यह **आभ्यन्तर या ऊतकश्वसन**
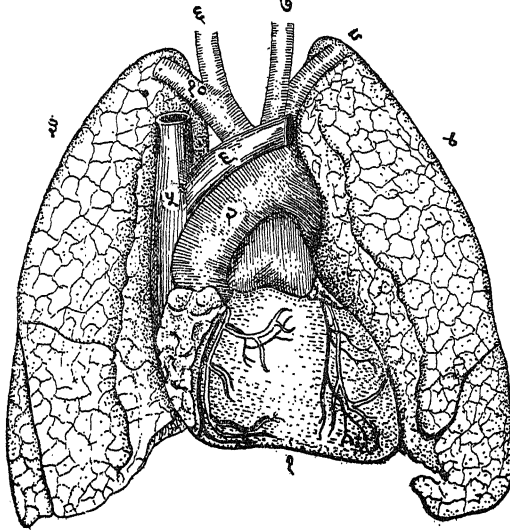
चित्र १०८—दाहिने और बायें फुफ्फुस और उनके बीच में हृदय तथा उसकी वाहिकायें
[१—हृदय २—महाधमनी चाप ३—दाहिना फुफ्फुस ४—बायाँ फुफ्फुस ५—ऊर्ध्व महाशिरा ६, ७—दाहिनी और बाईं मूलमातृका ८, १०—बाईं और दाहिनी अधोजत्रुक धमनी ९—अधोजत्रुक शिरा]

(Internal or Tissue Respiration) कहलाता है। ऊतकों और रुधिर केशिकाओं में आक्सिजन और कार्बन डाइ-आक्साइड गैसों की अदला-बदली होती है। बाह्य श्वसन (External Respiration) में श्वास द्वारा फुफ्फुस में आई हुई वायु और वहाँ की रुधिर केशिकाओं में प्रवाहित रुधिर में उपस्थित गैसों की अदला-बदली होती है। रक्त से कार्बन डाइ-आक्साइड वायु में चली जाती है और वायु की आक्सिजन रक्त में चली जाती है।

हम एक मिनट में १८ बार श्वास लेते हैं। एक बार श्वास द्वारा वायु को भीतर खींचते हैं, दूसरी बार बाहर निकालते हैं। यह एक पूरी श्वसन (Respiration) क्रिया होती है। श्वास को भीतर लेने को **प्रश्वास या प्रश्वसन** (Inspiration) कहते हैं। उसको बाहर निकालने को **उच्छ्वास या उच्छ्वसन** (Expiration) कहा जाता है। इस प्रकार हम प्रति मिनट १८ बार श्वास को भीतर लेते और बाहर निकालते हैं। दोनों मिलकर एक श्वसन क्रिया होती है।

नासिका, ग्रसनी और श्वास नाल में होती हुई वायु फुप्फुस में पहुँचती है। ये ही श्वसन अंग कहलाते हैं। विशेष श्वसन अंग फुप्फुस हैं और शेष केवल वायु के जाने के मार्ग हैं। वक्ष पर लगी हुई पेशियाँ तथा मध्यच्छदा पेशी वक्ष को सिकोड़ और चौड़ाकर
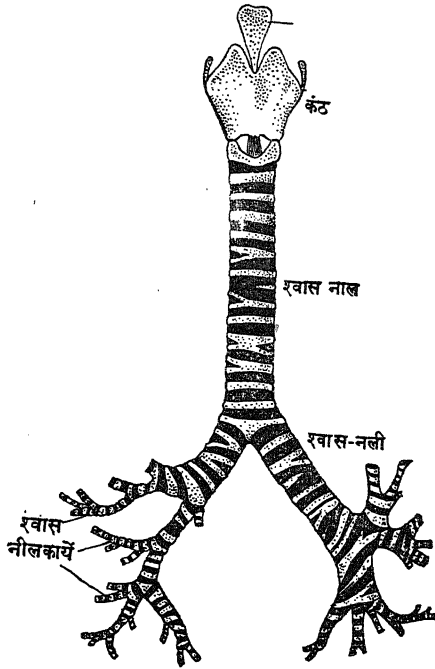
चित्र १०९—श्वास नाल तथा नली और नलिकायें

फुप्फुसों को सिकोड़ती और फैलाती हैं और जिससे वायु भीतर से निकलती है या भीतर जाती है।

नासिका (Nose) की गुहा दो लम्बी सुरंगों में एक मध्यस्थ फलक द्वारा विभक्त है। ये सुरंगें **नासाद्वार** (Nostrils) से प्रारम्भ होकर पहले ऊपर और तब पीछे को

जाकर **कोमल तालु** (Soft Palate) के ऊपर दो बड़े छिद्रों द्वारा खुलती हैं। ये कई स्थानों पर मुड़ी हुई हैं और कला से आच्छादित है जिसमें कुछ बाल उगे हूए हैं। इससे यदि नाक में कुछ चला जाता है तो वह बालों में रुक जाता है और संवेदी श्लैष्मल कला की उत्तेजना से छींक आकर वह वस्तु बाहर निकल जाती है।

ग्रसनिका के निचले भाग से श्वासनाल प्रारम्भ होता है। उसके ऊपर कंठ (Larynx) स्थित है। इसी में स्वरयंत्र रहता है। ग्रीवा की मध्य रेखा में लगभग बीच में एक कड़ा उत्सेध प्रतीत होता है। इसको टेटुआ (Pomum Adamii) कहते हैं। यह स्वरयन्त्र के दो बड़े उपास्थि फलकों से बना हुआ है। इसके नीचे से श्वासनाल (Trachea) प्रारम्भ होता है।

श्वासनाल की लम्बी नली कंठ के नीचे प्रतीत की जा सकती है। यह नाल उपास्थि निर्मित आधे छल्ले या अर्ध मुद्रिकाओं का बना हुआ है जो पीछे अपूर्ण होती हैं। इस कारण श्वास नाल सामने तो गोल होता है किन्तु पीछे की ओर चपटा है जहाँ उसकी भित्ति केवल तान्तव ऊतक (Fibrous Tissue) और कुछ पेशी सूत्रों की बनी हुई है। यह नाल नीचे जाकर पाँचवें-छठें ग्रीवा के कशेरुकों के सामने दो मोटी शाखाओं में विभक्त हो जाती है जो श्वासनली (Bronchus) कहलाती हैं। प्रत्येक शाखा एक फुप्फुस में चली जाती है, दाहिनी शाखा दाहिने फुप्फुस में और बाईं शाखा बायें फुप्फुस में। फुप्फुस में पहुँच कर प्रत्येक शाखा फिर कितनी ही शाखाओं और अनुशाखाओं में विभक्त होती है
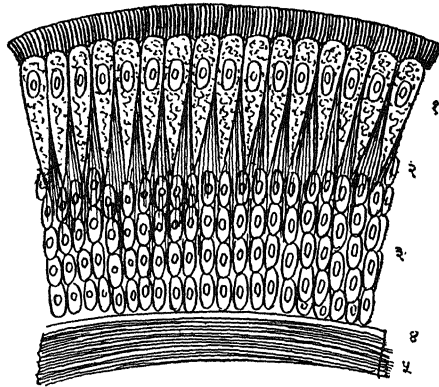
चित्र ११०—श्वासनली की श्लैष्मिक कला की रचना

जैसे वृक्ष से शाखायें निकलती हैं। इनको श्वासनलिकायें (Bronchiole) कहते हैं। इस प्रकार श्वासनाल की शाखायें और अनुशाखायें जो फुप्फुस के अति सूक्ष्म भागों में वितरित हो जाती हैं, एक वृक्ष के समान दिखाई देती हैं। अतएव इनको श्वासनप्रणालिक-वृक्ष (Bronchial Tree) कहा जाता है।

ये शाखायें विभक्त होकर अन्त में इतनी सूक्ष्म हो जाती हैं कि उनम उपास्थि नहीं रहती। वे केवल तान्तव ऊतक निर्मित सूक्ष्म नलिकायें रह जाती हैं जिनको कोष्ठिका (Alveolus) कहते हैं। यह भीतर से कितनी ही सूक्ष्म कोठरियों में विभक्त होती है जिनके बीच में अति सूक्ष्म विभाजक फलक होते हैं जैसे कोठरियों के बीच में दीवार होती है। ये **वायुकोश** (Air Cells) कहलाते हैं। इनकी दीवारों पर रक्त वाहिका केशिकायें स्थित हैं जिनमें हृदय से आया हुआ शुद्ध तथा अशुद्ध रक्त प्रवाह किया करता है। यहीं पर रक्त और वायु की गैसों की अदला-बदली होती है। वायु से आक्सिजन रक्त में जाती है और रक्त को कार्बन डाइ-आक्साइड बाहर आकर वायु में मिलती है। प्रत्येक वायुकोश वास्तव में एक अणु फुप्फुस है। वायुकोश का सामूहिक कर्म ही फुप्फुस का कर्म है।

श्वासनाल, उसकी शाखायें, नलिकायें तथा उनकी वे शाखायें जिनमें उपास्थि के छल्ले रहते हैं भीतर की ओर रोमिक उपकला (Ciliated Epithelium) से आच्छादित हैं। यदि किसी वस्तु का कण श्वासनाल या नली में चला जाता है तो रोमिकाओं की प्रचंड क्रिया से वह बलगम के कण के साथ बाहर निकाल दिया जाता है।
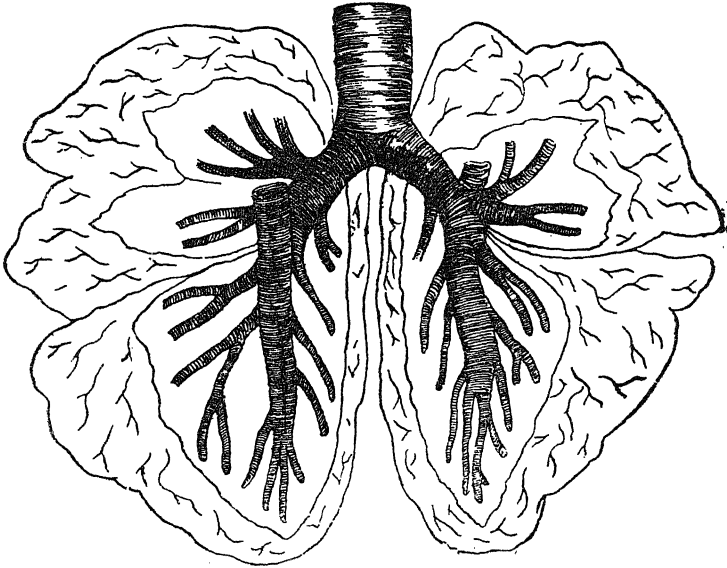
चित्र १११--फुप्फुसों के भीतर श्वास-नाल की शाखाओं तथा प्रशाखाओं का वितरण, जो श्वास प्रणालिका-वृक्ष कहलाता है

फुप्फुस (Lungs) वक्ष में दाहिने और बाँये दो फुप्फुस हैं और दोनों के बीच में किन्तु बाईं ओर हृदय स्थित हैं। इस कारण हृदय के स्थान पर बायाँ फुप्फुस बाहर की

ओर को दबा हुआ है। प्रत्येक फुप्फुस में असंख्य वायुकोश हैं। सारा फुप्फुस वायुकोशों का बना हुआ है। वह केवल वायुकोशों का समूह है। वायुकोशों की दीवारें केवल एक
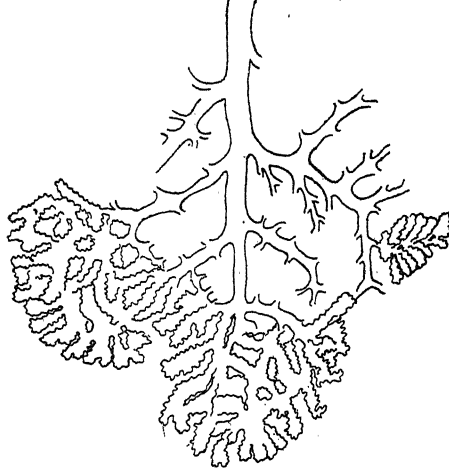
चित्र ११२—वायुकोश समूह या कोष्ठिका (चित्र में दो कोष्ठिका दीख रहा है)
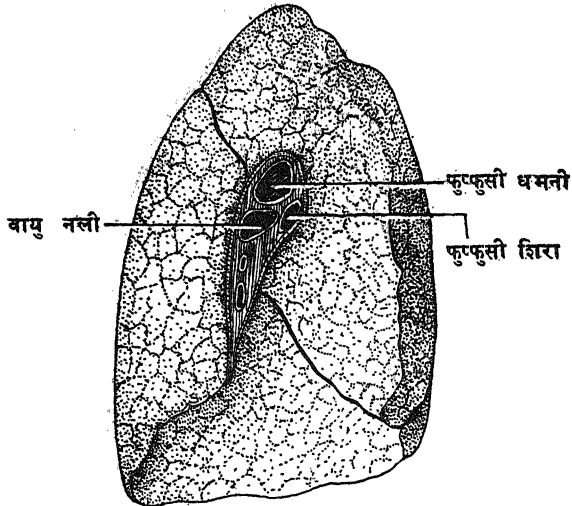
चित्र ११३—भीतरी पृष्ठ जिस पर फुप्फुस द्वार (Hilum) स्थित है

कोशिका मोटी हैं और उन पर एक कोशिका मोटी रुधिर केशिका फैली हुई हैं। वायुकोशों की दीवारों को बनाने वाली कला को यदि निकाल कर फर्श पर बिछाया जाय तो वह

१२×१० गज के क्षेत्र को ढँक लेगी। कला पर फैली हुई केशिकाओं की यदि एक लम्बी रेखा बनाई जाय तो वह ३० मील लम्बी होगी। इससे कला के विस्तार का अनुमान किया जा सकता है। इतनी विस्तृत कला को केवल रक्त में आक्सिजन पहुँचाने के लिए प्रकृति ने फुप्फुस में स्थापित किया है।

प्रत्येक फुप्फुस पर कला निर्मित एक आवरण चढ़ा हुआ है जो प्लूरा या फुप्फुसावरण (Pleura) कहलाता है। इस आवरण के दो स्तर हैं। बाहरी स्तर वक्ष को भीतर की ओर से आच्छादित किये हुए है। यही स्तर ऊपर और नीचे पहुँच कर फुप्फुस पर प्रत्यावर्तित हो जाता है और इसका दूसरा स्तर सारे फुप्फुस को चारों ओर से घेर लेता है। इन दोनों स्तरों के बीच का अवकास प्लूरा गुहा (Pleural Cavity) कहलाती है। प्लूरा के शोथ से इस गुहा में तरल या पूय उत्पन्न हो सकते हैं।

फुप्फुसों का ऊपरी भाग जो उसका शिखर (Apex) कहलाता है वक्ष में ऊपर की ओर प्रथम पर्शुका और जत्रुक के पीछे स्थित है। उनका अधो पृष्ठ वक्ष के तल में मध्यच्छदा के ऊर्ध्वपृष्ठ से तनिक ऊपर रहता है।

फुप्फुसों का अन्तःपृष्ठ जो पृष्ठवंश की ओर रहता है, उसके लगभग बीच में वह स्थान है जहाँ फुप्फुसीय धमनी और श्वासनली फुप्फुस में प्रवेश करती हैं और फुप्फुसीय शिरायें बाहर निकलती हैं। यह स्थान **हाइलम** या द्वार (Hilum) कहलाता है। इसको हाइलस (Hilus) भी कहते हैं।

मध्यच्छदा, डायाफ्राम (Diaphragm) भी एक विचित्र पेशी है। वक्ष और उदर के मध्य में स्थित यह पेशी एक गुम्बद के आकार में दोनों गुहाओं के बीच में फैली हुई है और उनको पूर्णतया पृथक् कर देती है। पीछे की ओर कटि कशेरुकाओं से पार्श्व में पर्शुकाओं से और सामने उरःफलक के निचले भाग से इस पेशी के तन्तु निकल कर बीच में आकर एक विस्तृत कंडरा में लग जाते हैं। जब पेशी संकोच करती है तो मध्यस्थ कंडरा तो अपनी पुरानी स्थिति में रहती है। किन्तु उसके चारों ओर के तन्तु संकुचित होकर नीचे उदर की ओर को झुक जाते हैं जिससे वक्ष गुहा विस्तृत हो जाती है और फुप्फुस फैल जाते हैं। अतएव उनमें वायु खिंच कर भर जाती है। जब संकोच के पश्चात् उनका विस्तार होता है तो पेशी वक्ष की ओर ऊपर को फैल कर अपनी स्वाभाविक स्थिति में आ जाती है। अतएव वक्ष की गुहा भी संकुचित हो जाती है और फुप्फुस से वायु बाहर निकल आती है। पहली क्रिया का परिणाम **प्रश्वास** और दूसरी क्रिया का **उच्छ्वास** होता है।

इस प्रकार इस पेशी का विशेष कर्म श्वसन है। इस कर्म में वक्ष की अन्य पेशियाँ भी सहायता देती हैं, विशेषकर आभ्यन्तर और बाह्य पर्शुकान्तर (Ext. & Int. Intercostals) पेशियाँ।

श्वास कर्म (Respiration) : साँस लेते समय पहले वायु भीतर जाती है तब बाहर निकलती है। दोनों के बीच में थोड़ा अन्तर रहता है। साधारण साँस लेने में हम इस प्रकार की क्रिया प्रति मिनट १८ बार करते हैं। किन्तु भागने-दौड़ने, परिश्रम या व्यायाम के समय तथा निमोनिया के समान फुप्फुसों के रोगों में साँस बहुत जल्दी-जल्दी चलने लगता है।

प्रत्येक बार जब हम साँस भीतर खींचते हैं या एक प्रश्वास लेते हैं तब ५०० सी०सी० वायु भीतर जाती है और साँस निकालने या निश्वास में भी इतनी ही या कुछ कम वायु बाहर निकलती है। यह श्वसनवायु (Tidal Air) कहलाती है। किन्तु वेग से श्वास लेने पर हम और भी वायु भीतर खींच सकते है। प्रयोगों से पाया गया है कि हम १,५०० सी०सी० वायु और भीतर खींच सकते हैं। यह ऊपरी सीमा है। इससे अधिक नहीं खींच सकते। यह **पूरक वायु** (Complemental Air) कही जाती है। इसी प्रकार हम साधारण उच्छ्वास के पश्चात् १५०० सी०सी० वायु और भी निकाल सकते हैं। इसको **परिनिशिष्ठ वायु** (Supplemental Air) कहते है। इसको निकाल देने पर १,५०० सी० सी० वायु फिर भी फुप्फुस और श्वास नली में रह जाती हैं जिसको हम नहीं निकाल सकते। यह अवशिष्ट वायु (Residual Air) कहलाती है। इस प्रकार हमारे फुप्फुसों और श्वास मार्ग में ५००+१५००+१५००=३५०० या ४००० सी० सी० वायु समा सकती है। यह **श्वासधारिता** (Vital Capacity) कही जाती है अर्थात् व्यक्ति अधिक से अधिक इतनी वायु को अपने श्वसन तन्त्र में धारण कर सकता है। व्यक्ति के शरीर की लम्बाई-चौड़ाई तथा शरीर-भार के अनुसार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की श्वासधारिता में भिन्नता पायी जाती है।

निम्नलिखित अंकों से प्रश्वास द्वारा भीतर जाने वाली और निःश्वास द्वारा बाहर निकलने वाली वायु के घटकों की मात्रा में अन्तर मालूम होता है, ये अंक प्रतिशत हैं।

	आक्सिजन	**कार्बन डाइ-आक्साइड**	**नाइट्रोजन**
उच्छ्वास	२०·९६	०·०४	७९·००
निश्वास	१६·५०	४·००	७९·५०

प्रश्वास द्वारा भीतर जाने वाली वायुमंडल की शुद्ध वायु होती है जिसके १०० भागों में २०·९६ भाग आक्सिजन और ७९ भाग नाइट्रोजन के होते हैं। कार्बन डाइ-आक्साइड के ०·४ भाग अशुद्धि के रूप में रहते हैं। किन्तु इतनी कार्बन डाइ-आक्साइड से कोई हानि नहीं होती। इस कारण इसको वास्तविक अशुद्धि नहीं माना जाता।

जैसा ऊपर के अंकों से विदित है उच्छ्वास द्वारा बाहर निकलनेवाली वायु के १०० भागों में आक्सिजन के ४·४६ भाग कम हो जाते हैं, कार्बन डाइ-आक्साइड ३·९६ भाग

बढ़ जाती है और नाइट्रोजन लगभग वैसी ही रहती है। इसका कारण यह है कि आक्सिजन को रक्त सोख लेता है, कार्बन डाइ-आक्साइड को मिला देता है और नाइट्रोजन एक अक्रिय (Inactive) गैस होने के कारण वैसी ही लौट आती है जैसी भीतर गई थी।

उच्छ्वास की वायु में कुछ और भी परिवर्तन होते हैं। एक तो उसका तापमान बढ़ जाता है। शीतकाल की अत्यन्त ठंडी वायु भी जब निश्वास द्वारा बाहर निकलती है तो उसका तापक्रम ९८·४ फा० हो जाता है। दूसरे उसमें जल के वाष्प मिल जाते हैं। मुख, नासिका, ग्रसनिका, श्वास-नली तथा प्रणलिकाओं की आर्द्र भित्तियों से जल वाष्प के रूप में वायु में मिल जाता है। यही वाष्प निश्वास की वायु में उपस्थित रहते हैं। तीसरे कुछ कार्बनिक (Organic) पदार्थ भी इस वायु में मिल जाते हैं। कुछ विद्वानों की सम्मति में ये कार्बनिक अवयव ही हानि पहुँचाने वाले होते हैं। किन्तु सब विद्वान् इससे सहमत नहीं हैं। किन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि श्वास द्वारा निकली हुई वायु में उपस्थित कार्बन डाइ-आक्साइड, जलवाष्प और ऊष्णता विशेष कर स्वास्थ्य को हानि पहुँचाने वाले होते हैं। यदि एक छोटे स्थान में बहुत से व्यक्ति कुछ समय तक एकत्र रहें तो थोड़े समय पश्चात् वहाँ गरमी मालूम होने लगती है और जी घबराने लगता है। इसके कारण ऊष्णता, जल वाष्प और कार्बन डाइ-आक्साइड हैं किन्तु ऊष्णता और आर्द्रता भी हानि पहुँचाते हैं। जिस वायुमंडल में ४ प्रतिशत कार्बन डाइ-आक्साइड होती है उसमें रहना असंभव होता है। १० प्रतिशत कार्बन डाइ-आक्साइड तो कुछ ही समय में घातक सिद्ध होती है।

श्वास कर्म का प्रयोजन : पहले उल्लेख किया जा चुका है कि श्वास कर्म का प्रयोजन रक्त में आक्सिजन को पहुँचाना है। यह आक्सिजन रक्त द्वारा शरीर के प्रत्येक भाग के ऊतकों में पहुँचती है जहाँ की कोशिकायें इस आक्सिजन की सहायता से अनेक रासायनिक क्रियायें करती हैं। इन क्रियाओं के लिए आक्सिजन की आवश्यकता होती है। उनमें आक्सिजन का व्यय होता है और कार्बन डाइ-आक्साइड की उत्पत्ति होती है। यह **ऊतक श्वसन** (Tissue Respiration) या आन्तरिक श्वसन कहलाता है। सारे श्वास कर्म का यही अन्तिम प्रयोजन है और यही वास्तविक श्वास कर्म है।

(१) **श्वसन कर्म के कारण : श्वसन केन्द्र** (Respiratory Centre) मेरुरज्जु के ऊर्ध्व भाग **मेरुशीर्ष** (Medulla Oblongata) में स्थित कुछ तन्त्रिका-कोशिकाओं का एक समूह श्वसन क्रियाओं का नियन्त्रण करता है। इस केन्द्र से कुछ तन्तु निकल कर तन्त्रिकाओं में होते हुए श्वसनक-पेशियों (Respiratory Muscles) में पहुँचते हैं। केन्द्र में उत्पन्न हुई उत्तेजनायें इन तन्तुओं में होकर पेशियों में पहुँच कर पेशियों से संकोच करवाती हैं। इस केन्द्र में शरीर के भिन्न भागों से सूचनायें आती रहती हैं और उन्हीं के अनुसार ये केन्द्र श्वासकर्म की गति को घटाता-बढ़ाता रहता है।

साधारणतया उच्छ्वास में पेशियों की कोई क्रिया नहीं होती। उनके संकोच से प्रश्वास होता है। पेशियों के संकोच समाप्त होने पर स्वयं ही उनका शिथिलन या विस्तार हो जाता है जिसका परिणाम उच्छ्वास होता है।

(२) **रक्त की रासायनिक दशा** : श्वास मार्ग में अवरोध होने से, फुप्फुस में प्रदाह हो जाने से, परिश्रम, भागने-दौड़ने से तथा अन्य ऐसी ही दशाओं से जब रक्त को आक्सिजन की आवश्यक मात्रा नहीं मिल पाती और वह कार्बन डाइ-आक्साइड का त्याग नहीं कर पाता तो रक्त में कार्बन डाइ-आक्साइड की मात्रा बढ़ जाती है। जब ऐसा रक्त श्वास केन्द्र में पहुँचता है तो वह अत्यन्त उत्तेजित हो उठता है और श्वसनक-पेशियों को आज्ञायें भेजने लगता है जिससे श्वास की गति बढ़ जाती है और उससे रक्त को पर्याप्त आक्सिजन मिलती है। यह पाया गया है कि रक्त में अधिक कार्बन डाइ-आक्साइड की उपस्थिति श्वास केन्द्र की सबसे बड़ी उद्दीपक (Stimulant) है।

श्वसन गतियाँ (Respiratory Movements) : दूसरे परिच्छेद में बताया जा चुका है कि उच्छ्वास के समय वक्ष विस्तृत हो जाता है और उसके भीतर की धारिता या
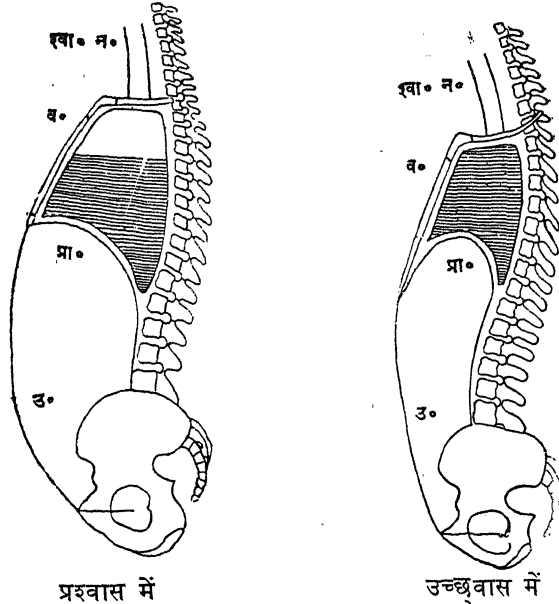
चित्र ११४—प्रश्वास और उच्छ्वास में वक्ष और उदर की दशा दिखाई गई हैं
[श्वा० न०—श्वास नली, व—वक्ष, प्रा०—मध्यच्छदा, उ०—उदर]

समाई (Capacity) बढ़ जाती है। पर्शुकायें ऊपर से नीचे की ओर को आकार

में बड़ी होती जाती हैं। प्रथम पर्शुका सबसे छोटी होती है। दसवीं पर्शुका सबसे बड़ी होती है। इस कारण जब प्रश्वासक पेशी संकोच करती हैं तो पर्शुकायें ऊपर को तथा सामने की ओर को भी उठ जाती हैं। यदि सब पर्शुकायें समान होतीं तो केवल ऊपर को खिंचती, सामने को नहीं। किन्तु नीचे की पर्शुकाओं का आकार बढ़ जाने के कारण सामने को उठकर वे पीछे से सामने का अथवा मेरुदंड से उरु फलक का व्यास बढ़ा देती हैं। साथ में दाहिनी ओर से बाईं ओर का व्यास भी बढ़ जाता है। इससे वक्ष के भीतर की धारिता कई गुणा बढ़ जाती है और वायु भीतर फुप्फुस में खिंच जाती है। प्रश्वास समाप्त होने पर पर्शुकायें फिर अपनी पूर्व स्थिति में आ जाती हैं। इस प्रकार एक बार वक्ष चौड़ा होता है। दूसरी बार सिकुड़ जाता है। यही **श्वसन गति** कहलाती है।

दुःश्वसन (Dyspnoea) : यह उस दशा का नाम है जब पूर्ण श्वास भीतर नहीं जा पाता या रुधिर को आक्सिजन वांछित मात्रा में नहीं मिल पाती। श्वासमार्ग में अर्बुद के उत्पन्न हो जाने से श्वास के भीतर जाने में बाधा पड़ती है। स्वर यन्त्र का कैंसर बहुत होता है। अन्य प्रकार के अर्बुद भी होते हैं। डिप्थीरिया (Diphtheria) रोग में कंठ में एक झिल्ली बन जाती है जो वायु मार्ग को रोक देती है। फुप्फुस के प्रदाह में कोष्ठों में स्राव भर जाता है जिससे उनमें वायु नहीं पहुँचती और रक्त को आक्सिजन नहीं मिल पाती।

ऐसी दशा में श्वास की गति बढ़ जाती है। मिनट में २० से ६० बार तक श्वास आने लगता है। सब प्रश्वासक पेशियाँ काम करने लगती हैं। गहरे श्वास आने लगते हैं। रोगी खींच-खींच कर श्वास लेने का प्रयत्न करता है। रक्त में कार्बन डाइ-आक्साइड की मात्रा बढ़ जाती है। रोगी की गले की पेशियाँ भी तनी हुई दिखाई देती हैं। रोगी देखने से अत्यन्त कष्ट में दिखाई देता है।

श्वासावरोध (Asphyxia) : यह उस दशा का नाम है जब वायु का फुप्फुस में जाना अकस्मात् बन्द हो जाता है। गला घोंटने से यही दशा होती है जिससे मृत्यु तक हो जाती है। एक प्रकार से यह दुःश्वसन की ही बढ़ी हुई दशा है। सब श्वसनक और सहायक श्वसनक पेशी (Accessory Respiratory Muscles) संकोच करने लगती हैं। शरीर की अन्य पेशियों में भी तीव्र संकोच होने लगते हैं जिनको बाँयठे या आक्षेपक (Convulsions) कहते हैं। शरीर की सब पेशियों में आक्षेपक होते हैं। नख, ओठ और शीघ्र ही सारा मुख नीला पड़ जाता है।

यदि श्वासावरोध अब भी दूर नहीं हुआ, रोगी को आक्सिजन नहीं मिली तो शीघ्र ही आक्षेपक बन्द हो जाते हैं, मुख, नख आदि और भी नीले हो जाते हैं। शरीर की पेशियाँ शिथिल पड़ जाती हैं। ठहर-ठहर कर दीर्घ श्वास आ जाता है और अन्त को एक दीर्घ श्वास के साथ मृत्यु हो जाती है। फाँसी पर लटकने से, डूब जाने से तथा गला

घोंटने से इसी प्रकार मृत्यु होती है। ऐसे व्यक्तियों के हृदय के दाहिने ओर के कोष्ठ रक्त से भरे हुए और प्रसरित मिलते हैं। धमनियाँ खाली होती हैं। शिराओं में रक्त भरा मिलता है। फुप्फुसी धमनियाँ भी भरी रहती हैं।

कृत्रिम श्वसन क्रिया (Artificial Respiration) : यह कर्म फुप्फुस में वायु संचार के लिए किया जाता है। अकस्मात् श्वासावरोध होने पर कुछ समय तक कृत्रिम श्वसन विधि द्वारा यदि फुप्फुसों में वायु का संचार किया जा सके तो रोगी को जीवित किया जा सकता है। डूब जाने पर या शस्त्र कर्मों में श्वास के बन्द हो जाने पर इस क्रिया द्वारा रोगी की प्राणरक्षा करने में सफलता होती है।

इस क्रिया की दो विधि हैं। एक शेफर की विधि और दूसरी सिल्वेस्टर की विधि कहलाती है।

शेफर की विधि (Schafer's Method) : रोगी को मेज पर या भूमि पर पीठ के बल लिटा दिया जाता है। श्वसनकर्ता रोगी के सिर के पीछे खड़ा होता है और अपने

चित्र ११५—शेफर की विधि

दोनों हाथों से रोगी की दोनों बाहुओं को घुमा कर सिर के पीछे की ओर ले जाता है जब तक कि बाहु शरीर की समान रेखा में नहीं आ जाते। इससे वक्ष चौड़ा होता है और वायु नासिका द्वारा भीतर प्रवेश करती है। तत्पश्चात् बाहुओं को फिर घुमा कर वक्ष पर लाकर उनको दबाता है। इससे वक्ष दबता है और भीतर की वायु बाहर निकल जाती है। तब फिर बाहुओं को सिर की ओर खींचा जाता है और फिर वक्ष पर लाकर दबाया जाता है। यह क्रिया एक मिनट में १० बार की जाती है।

सिलवेस्टर की विधि (Sylvestor's Method) : रोगी को भूमि पर पेट के बल लिटा देते हैं और श्वसनकर्त्ता उसके वक्ष के दोनों ओर घुटने टेक कर बैठ जाता है। एक ओर बैठ कर भी यह क्रिया हो सकती है। वह अपने दोनों हाथों से वक्ष के दोनों पार्श्व जितना भी दबा सकता है दबाता है जिससे वक्ष सिकुड़ता है और फुप्फुस में की वायु बाहर निकलती है। तब वह अपने शरीरभार को पीछे को हटा लेता है जिससे वक्ष चौड़ा हो जाता है और वायु भीतर प्रवेश करती है। यह क्रिया प्रति मिनट १०-१२ बार होनी चाहिए।

इस क्रिया को करने के लिए श्वसनकर्त्ताओं की एक टीम होनी चाहिए। एक ही व्यक्ति आवश्यक समय तक ये क्रियायें नहीं कर सकता। तीन-चार मिनट से अधिक
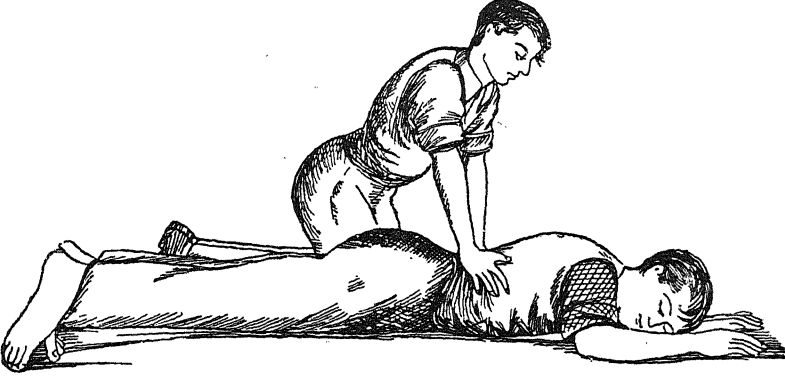
चित्र ११६—सिलवेस्टर की विधि
[प्रथम क्रिया]

नहीं कर सकता। यह क्रिया कम से कम एक घंटे तक अवश्य करनी चाहिये। इसलिय

चित्र ११७—सिलवेस्टर की विधि
[द्वितीय क्रिया]

पाँच-छः व्यक्ति मिलकर एक के पश्चात् दूसरा करता रहे। कितनी बार १ घंटे से ऊपर क्रिया करने से साँस लौटा है और रोगी पुनर्जीवित हुआ है।

श्वसन, स्वास्थ्य और वायु

हम जहाँ रहते हैं श्वसन द्वारा वहाँ के वायुमंडल से वायु को फुप्फुसों में ग्रहण करते हैं और वही वायु हमारे शरीर की प्राणमूलक क्रियाओं के सम्पादन का मूल कारण होती है। वायु के मुख्य अवयव आक्सिजन की क्रिया से जब तक ये क्रियायें पूर्ण और उचित प्रकार से होती रहती हैं तब तक हम स्वस्थ रहते हैं। रोगों से मुक्त रहते हैं और शरीर भी बलवान रहता है तथा चित्त में उत्साह रहता है। यही स्वास्थ्य का लक्षण है। अतएव शुद्ध वायु हमारे स्वास्थ्य का एक प्रधान कारण है।

शुद्ध वायु का संघटन बताया जा चुका है। साधारण वायुमंडल की वायु जहाँ मिलें-फैक्टरियाँ अथवा विषैले वाष्पोत्पादक व्यवसाय न होते हों, सघन बस्ती न हों शुद्ध होती है। वह एक भाग आक्सिजन और चार भाग नाइट्रोजन का मिश्रण होती है। कार्बन डाइ-आक्साइड उसका प्राकृतिक अवयव नहीं है। किन्तु इस गैस को उत्पन्न करने वाली क्रियायें, जन्तुओं का श्वास लेना, लकड़ी कोयले या अन्य वस्तुओं का जलना-सड़ना आदि क्रियाएँ इतनी अधिक होती हैं कि सामान्यतया इसकी कुछ न कुछ मात्रा सब ही स्थानों पर उपस्थित मिलती है। तो भी ·०४ प्रतिशत होने से कोई हानि नहीं होती। इस कारण उसको अशुद्धि नहीं माना जाता।

सघन स्थानों में जहाँ बहुत से व्यक्तियों को थोड़े स्थान में रहना पड़ता है वहाँ इस गैस की अधिक मात्रा से स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है। शारीरिक क्रियायें पूर्ण न होने से बल का क्षय हो जाता है। सिर-दर्द, पाचन-विकार, दुर्बलता यहाँ तक कि रक्त-क्षीणता तक हो जाती है।

कार्बन मोनोआक्साइड : गैस भी कोयलों के जलने से उस समय उत्पन्न होती है जब उनको जलने के लिये पर्याप्त आक्सिजन नहीं मिलती। यह कार्बन डाइ-आक्साइड से अधिक भयंकर है। इससे प्रायः मृत्यु हो जाती है।

रोगों के जीवाणु, कार्बनिक पदार्थ, सड़ी वस्तुओं के सूक्ष्म कण, धातुओं के सूक्ष्म कण आदि अन्य पदार्थ हैं जो वायु को दूषित करते हैं। सड़ने से कितनी ही गैसें उत्पन्न होकर वायु के दोष (Impurities) को बढ़ाते हैं। ऐसी वायु सदा रोगों को उत्पन्न करने वाली होती है।

अतएव ऐसे स्थानों में रहना जहाँ कल-कारखाने अधिक हों जिनकी चिमनियों का धुआँ सदा वायुमंडल को दूषित करता हो, सघन बस्ती हो, बहुत-से पशु रहते हों, स्वास्थ्यकर नहीं है। खुले हुए स्थान, पार्क उद्यान आदि की वायु शुद्ध होती है और शारीरिक क्रियाओं को उन्नत करके बल वृद्धि करती है। ऐसे स्थानों में टहलने, खेलने या व्यायाम करने से शरीर की रोग-निरोधक शक्ति बढ़ती है।

पर्वत और समुद्र पर की वायु को बहुत उत्तम माना जाता है। उसमें वे कोई दोष उपस्थित नहीं होते जो नगरों या सघन बस्तियों की वायु में पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त इन स्थानों की वायु में ओजोन अधिक होती है जो आक्सिजन का एक रूपान्तर है किन्तु आक्सिजन से अधिक प्रबल होती है।

श्वास लेने की आदत : श्वास सदा नाक से लेना चाहिये, मुँह से नहीं। नाक श्वास लेने के लिए बनी है, मुँह खाने के लिए। कुछ बालक मुँह से श्वास लेने लगते हैं। वे मुख खोलकर सोते हैं। उनके गले की परीक्षा करवानी चाहिए। प्राय: उनके गले में **टांसिल** (Tonsil) या नासिका के पिछले भाग में **एडीनाइड** (Adenoids) होते हैं।

टांसिल (Tonsil) गले के पिछले भाग में दोनों ओर लसीकाभ ऊतक (Lymphoid Tissue) के पिंड होते हैं। जिह्वा के पिछले भाग के दोनों ओर गलद्वार (Fauces) के पीछे ये ग्रन्थि के समान दिखाई देते हैं। इनको साधारणतया गलसुवे कहा जाता है। एडीनाइड भी ऐसे ही ऊतक के पिंड होते हैं जो नासागुहा के पिछले भाग में बन जाते हैं। ये वायु मार्ग में बाधक होते हैं। वायु भीतर नहीं जा पाती। इनसे बालक की वृद्धि रुक जाती है। इनको निकलवा देना ही उत्तम है।

कुछ बालकों को मुँह खोलकर श्वास लेने की आदत हो जाती है यद्यपि उनके गले में कोई विकार नहीं होता। ऐसे बालकों की आदत छुड़ाना बहुत आवश्यक है।

बालक के खड़े होने, बैठने, लिखने, पढ़ने के समय की शरीर की स्थिति, सोने की आदत, सभी का श्वास पर प्रभाव पड़ता है। सामने की ओर झुक कर चलने या बैठने से वक्ष दबा रहता है। श्वास लेने के समय वह पूर्णतया चौड़ नहीं हो पाता जिससे वायु का पूर्ण प्रवेश नहीं होता। इस स्थिति में बैठकर पढ़ने-लिखने से, जिसमें वह नित्य-प्रति कितने ही घंटे व्यय करता है, न केवल रक्त और उसके द्वारा शरीर के ऊतक ही आक्सिजन से वंचित रहते हैं, वरन् उससे रीढ़ की अस्थियाँ भी विकृत हो जाती हैं, पर्शुकायें भी टेढ़ी हो जाती हैं और सारे वक्ष का आकार विकृत हो जाता है। उसकी वायु की धारिता शक्ति या समाई कम हो जाती है।

बालक के चलते समय शरीर सीधा तना हो, सिर ऊँचा और कुछ पीछे को झुका हो, वक्ष आगे की ओर को उभरा हो और नेत्र सामने या कुछ आकाश की ओर देखते हों। जब वह पढ़ने या लिखने को बैठे तो भी उसका शरीर ऐसी ही स्थिति में रहे। पुस्तक या कापी और उसके नेत्रों के बीच कम से कम १२ इंच का अन्तर होना चाहिए। १८ इंच का अन्तर अत्युत्तम है। उसका सिर तनिक भी न झुकने पावे, केवल नेत्र पुस्तक

या कापी पर रहें। किन्तु सिर सीधा हो और वक्ष सामने को निकला हो। बालक मुँह बन्द रखे और नाक से श्वास लेता रहे।

जिन बालकों में वक्ष में विकार पाये जायें उनको श्वास सम्बन्धी व्यायाम (Respiratory Exercises) करवाये जायें। इनका प्रयोजन वक्ष को चौड़ा बनाना और उनके भीतर की समाई को बढ़ाना होता है। प्रत्येक बालक की जाँच करके उसकी आवश्यकतानुसार उसके लिए उपयुक्त व्यायाम विशेषज्ञ द्वारा निर्दिष्ट करवाना चाहिए।

———

आठवाँ परिच्छेद

उत्सर्गी तन्त्र

(Excretory System)

शरीर में होने वाली प्रक्रियाओं से जो ऐसे पदार्थ बनते हैं जिनका शरीर में कोई उपयोग नहीं होता और जो शरीर में रह जाने पर हानि पहुँचा सकते हैं उनको शरीर से बाहर निकालने का काम कई अंग करते हैं। कार्बन डाइ-आक्साइड को फुप्फुस निकालते हैं। आहार का अपच्य भाग तथा पाचन क्रिया से उत्पन्न हुए कितने ही निकृष्ट अवयव मल द्वारा शरीर का त्याग करते हैं। आहार के पचे हुए किन्तु अनुपयोगी अवयवों का यकृत द्वारा विभंजन होता है जो उनको अकार्बनिक (Inorganic Constituents) वस्तुओं में परिणत करके रक्त द्वारा वृक्क (Kidney) के पास भेज देता है। वृक्क उनको रक्त से पृथक् कर लेता है और मूत्र द्वारा शरीर से बाहर निकाल देता है। वृक्क का काम उनको रक्त से पृथक् करना है और गवीनी, मूत्राशय और मूत्रमार्ग का काम उनको शरीर से बाहर निकालना है। त्वचा भी उत्सर्जन के कर्म में भाग लेती है। उसके द्वारा कार्बन डाइ-आक्साइड भी निकलता है। किन्तु विशेषकर स्वेद द्वारा ऐसे अवयवों का त्याग होता है जो अन्य मार्गों से नहीं निकल पाते। **त्वग्वसा** (Sebum) भी इसी प्रकार का पदार्थ है जो त्वचा की कुछ ग्रन्थियों में बनता है और नलिकाओं द्वारा निकलता रहता है।

मूत्र को बनाने वाले अंग दोनों वृक्क और उसको प्रवाहित करने वाले गवीनी, मूत्राशय और मूत्रमार्ग मिलकर उत्सर्गी तन्त्र कहलाते हैं। त्वचा भी इसी तन्त्र का एक भाग है।

वृक्क (Kidney) : शरीर में उदर गुहा के ऊपरी भाग में मेरुदंड के दोनों ओर एक-एक वृक्क स्थित है। इनके पीछे की ओर ग्यारहवीं और बारहवीं पर्शुकायें हैं। दाहिना वृक्क बायें से कुछ ऊँचा है और बड़ा भी है। इनका रंग गहरा बैंगनी होता है। ऊपर से नीचे तक इनकी लम्बाई लगभग चार इंच, चौड़ाई ढाई इंच और मोटाई डेढ़ इंच होती है। इनके दो किनारे होते ह, एक बाहर का पार्श्व या **बहिःधारा** (Lateral or Ext. Border) और दूसरा **अन्तःधारा** (Medial or Internal Border) जो भीतर की ओर रहता है। वृक्क के ऊपरी और नीचे के सिरे जो गोल होते हैं **ध्रुव** (Poles) कहे जाते हैं। बहिःधारा गोल अथवा उत्तल (Convex) है, अर्थात् बाहर को निकला हुआ है। अन्तःधारा अवतल (Concave) है, बीच में भीतर को

दबा हुआ है। वृक्क के आकार की समता सेम या बीन के बीज से दी जाती है जिसका बाहरी किनारा उभरा हुआ और भीतरी किनारा दबा हुआ होता है।

जहाँ भीतरी किनारा दबा हुआ है वहाँ से एक नलिका निकलती है जो वृक्क में बने हुए मूत्र को ले जाती है। यह गवीनी (Ureter) कहलाती है। इसका ऊपर का भाग चौड़ी कीप या फनेल के समान है। यह भाग **गोणिका** (Pelvis) कहलाता है। गोणिका
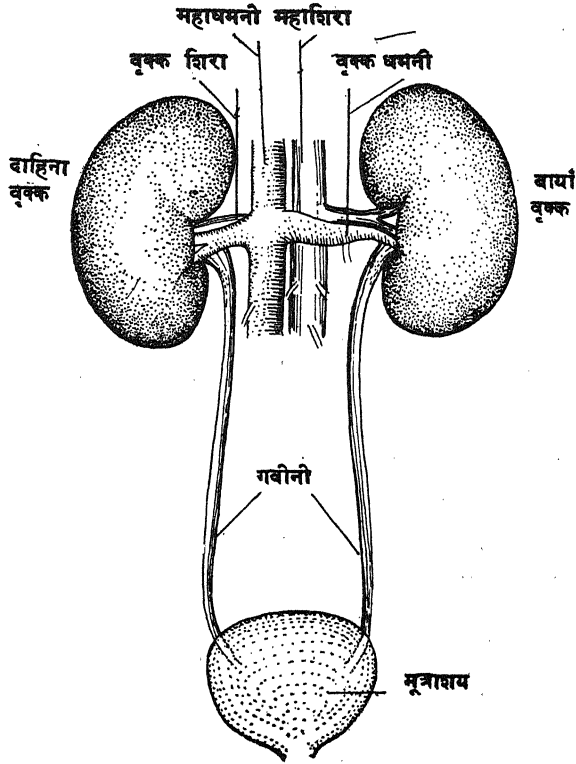
चित्र ११८—गवीनी (Ureter) कहलाती है

वृक्क में पहुँचकर गवीनी और भी चौड़ी हो जाती है और वहाँ उससे ८ या १० शाखायें निकलती हैं जो आलवाल या **केलिस** (Calyx) कही जाती हैं। इसी स्थान पर धमनी भी वृक्क में प्रवेश करती है और शिरा बाहर निकलती है। यह स्थान वृक्क का द्वार या हाइलम (Hilus or Hilum) कहलाता है।

प्रत्येक वृक्क पर तन्तु ऊतक का एक आवरण चढ़ा रहता है। इसको सम्पुट या **समावरण** (Capsule) कहते हैं। यह वृक्क के साथ घनिष्ठतया जुड़ा रहता है यद्यपि उसको पृथक् किया जा सकता है। यदि वृक्क् को लम्बाई की दिशा में एक ध्रुव से

दूसरी ध्रुव तक दो समान भागों में काटा जाय तो कटे हुए पृष्ठ पर वृक्क की विचित्र रचना दिखाई देगी। उसका बाहरी भाग जो सम्पुट के सम्पर्क में है बीच के भाग से पृथक् दिखाई देगा। दोनों की रचना में बहुत अन्तर दीखेगा। बाहर का भाग **बहिस्था** (Cortex) और भीतर का भाग **अन्तस्था** (Medulla) कहा जाता है। **बहिस्था** लगभग आधा इंच मोटा है। किन्तु इसके कुछ भाग प्रलम्बित होकर भीतर की ओर अन्तस्था में चले जाते हैं। इसके पृष्ठ पर सूक्ष्म कण दिखाई देते हैं। सारा पृष्ठ कण युक्त है। ये कण उन केशिकाओं के गुच्छों के हैं जिनको **केशिका-**
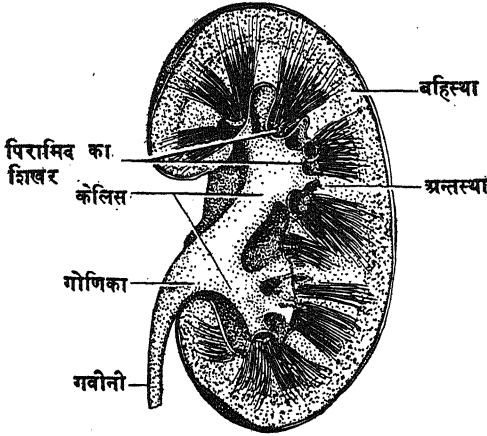
चित्र ११६—वृक्क को काटकर भीतरी की रचना दिखाई गई है

स्तवक (Glomerulus) कहते हैं। इनके चारों ओर मूत्र अणुनालिका का विस्तृत भाग स्थित है जहाँ से ये अणुनलिकायें प्रारम्भ होती हैं। इसको बोमैन का सम्पुट (Bowman's Capsule) कहते हैं जो स्तवक को चारों ओर घेरे रहता है।

बहिस्था से भीतर का भाग अन्तस्था है। इसमें मूत्र अणुनलिकाओं के वे सीधे भाग हैं जो त्रिकोणाकार गुच्छों के रूप में स्थित हैं। प्रत्येक गुच्छा अणुनलिकाओं का एक पिंड है और उसके नोकीले शिखर पर एक छिद्र है जो केलिस में खुलता है। इसके द्वारा अणुनलिकाओं में बना हुआ मूत्र केलिस में पहुँचता है और वहाँ से गोणिका में होता हुआ गवीनी में चला जाता है। इन अणुनलिकाओं के त्रिकोणाकार गुच्छे **पिरामिद** (Pyramid) कहे जाते हैं। प्रत्येक वृक्क के अन्तस्था में १० या १२ पिरामिद होती हैं। जिन मूत्र अणुनलिकाओं के ये गुच्छे हैं वे बहिस्था भाग में बोमैन सम्पुट से प्रारंभ होती हैं और अन्तस्था में आकर पिरामिदों के शिखर पर जो गोणिका की ओर स्थित हैं, एक छिद्र द्वारा खुल जाती है।

मूत्र अणुनलिकायें (Uriniferous Tubules) : ये नलिकायें भी विचित्र हैं। वे एक ओर सम्पुट के नीचे बहिस्था भाग में रक्तवाहनियों की केशिकाओं के गुच्छे के चारों ओर से आरम्भ होती हैं और वहाँ से प्रान्तस्था और अन्तस्था भागों में होती हुई गोणिका में अन्त होती हैं। इनका प्रारम्भिक भाग, बोमैन का सम्पुट, इनका प्रसरित प्रारंभिक सिरा है। यह भाग विस्तृत होकर एक कीप के समान हो गया है जिसके भीतर धमनी से आई हुई रक्तवाहनियों की सूक्ष्म केशिकायें एक गुच्छा बनाये हुए हैं जिसमें रक्त प्रवाह किया करता है। इस गुच्छे को चारों ओर से घेरे हुए मूत्र अणुनलिका का
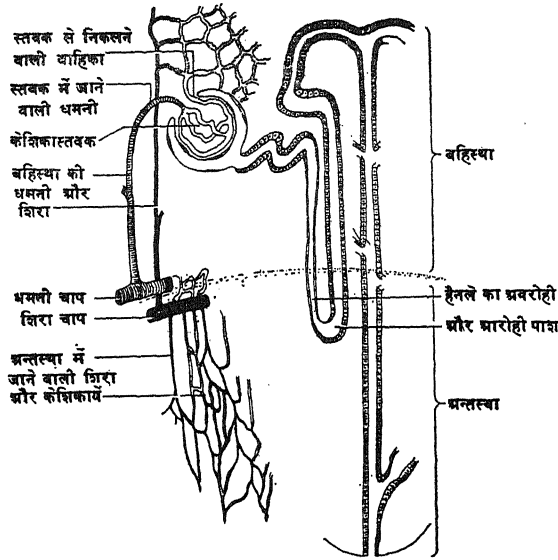
चित्र १२०—मूत्र अणुनलिकाओं की स्थिति

विस्तृत भाग है जो बोमैन सम्पुट कहा जाता है। केशिकाओं के गुच्छे में एक वाहिका से रक्त आता है और दूसरी से जाता है। दूसरी ओर इसी रक्त से मूत्र या मूत्र का कोई अवयव पृथक् होकर अणुनलिका के विस्तृत वोमैन सम्पुट में जाता रहता है जिसको **मैल्पिझी का समावरण** (Malpighian Capsule) भी कहते हैं। यहाँ से अणुनलिकायें प्रारम्भ होती हैं।

इन अणुनलिकाओं का मार्ग बड़ा विचित्र है। जैसा चित्र में दिखाया गया है। प्रान्तस्था भाग में इनमें कितने ही मोड़ हैं। मैल्पिझी सम्पुट के पास ही के भाग में कई मोड़ हैं। आगे के भागों में बहुत से मोड़ हैं। केवल जब वे बहिस्था से अन्तस्था में जाने लगती हैं तब उनका मार्ग सरल हो जाता है।

अन्तस्था भाग में नलिकाओं के केवल सरल भाग स्थित हैं। प्रत्यक नलिका बहिस्था में मैल्पिझी सम्पुट से प्रारम्भ होती है और कई बार मोड़ खाती हुई वहाँ से अन्तस्था भाग में चली जाती है जहाँ उसका मार्ग सीधा हो जाता है। वहाँ से वह फिर बाहर बहिस्था भाग को लौटती है। यह लौटनेवाला भाग भी सीधा है। किन्तु बहिस्था में पहुँच कर उसमें फिर मोड़ आ जाते हैं और कई बल खाने के पश्चात् वह एक सीधी नलिका में मिल जाती है जो बहिस्था से सीधी उतर कर अन्तस्था में जाकर पिरामिद के छिद्र में समाप्त होती है। यह **संग्राहक** (Collecting Tubule) अणुनलिका कहलाती है।

वृक्क का रुधिर संभरण (Blood Supply) : वृक्क में रक्त औदरीय महाधमनी की एक बड़ी शाखा से आता है जिसको **वृक्क धमनी** (Renal Artery) कहते हैं। इसके साथ ही **वृक्क शिरा** (Renal Vein) भी रहती है जो वृक्क से रक्त को लौटा कर महाशिरा में ले जाती है।

वृक्क धमनी का आकार वृक्क की आवश्यकता को देखते हुए बहुत बड़ा है। वृक्क के पोषण के लिए तो थोड़ा-सा रक्त पर्याप्त है जो एक छोटे आकार की धमनी से वृक्क में पहुँच सकता था। इसका अर्थ ही यह है कि प्रकृति सारे शरीर के रक्त को वृक्क में शुद्धि के लिए भेजना चाहती है, न कि वृक्क के पोषण के लिए।

वृक्क धमनी वृक्क के भीतर पहुँच कर आठ-दस शाखाओं में विभक्त हो जाती है। ये शाखायें पिरामिदों के बीच होती हुई अन्तस्था की ओर चली जाती हैं और बहिस्था और अन्तस्था के संगम के प्रान्त में चापों (Arches) का रूप ले लेती हैं। शिराओं की भी इसी प्रकार की चापें बन जाती हैं। इस प्रकार चापों की एक रेखा वृक्क के ऊर्ध्व ध्रुव से अधोध्रुव तक पिरामिदों के तनिक बाहर की ओर बनती हैं। इन चापों से कुछ शाखायें सीधी ऊपर की ओर चली जाती हैं और मैल्पिझी सम्पुटों में रक्त पहुँचाती हैं। प्रत्येक सम्पुट में एक **अभिवाही वाहिका** (Afferent Vessel) रक्त को लाती है और एक **अपवाही** (Efferent) वाहिका वहाँ से रक्त को ले जाती है और वहाँ की अणुनलिकाओं के बीच में केशिकाओं का जाल-सा बिछा देती है। चापों की दूसरी शाखायें भीतर की ओर पिरामिदों के बीच चली जाती हैं और उनमें उपस्थित अणु-नलिकाओं के सीधे भागों को रक्त पहुँचाती हैं। शिराओं का प्रबन्ध भी ऐसा ही है।

इससे इस अंग के रक्त परिसंचार में दो विशेषतायें मालूम हुईं। (१) मैल्पिझी कोष में धमनी की एक अभिवाही शाखा से रक्त पहुँचता है। यही रक्त अपवाही वाहिका से कोष से लौटकर अणुनलिकाओं में केशिकाओं द्वारा वितरित होता है। सम्पुट में रक्त लाने वाली वाहिका से लौटा कर ले जाने वाली वाहिका का आकार छोटा है। (२) मैल्पिझी का सम्पुट और पिरामिदों की अणुनलिकाओं में रक्त संभरण पृथक्-पृथक् है। पिरामिदों को दूसरी ही शाखायें रक्त ले जाती हैं और सम्पुटों को दूसरी।

गवीनी (Ureter) : ये दो लम्बी नलिकायें हैं जो वृक्कों से मूत्र को मूत्राशय में पहुँचाती हैं। इनका ऊपरी चौड़ा भाग जो वृक्क में प्रवेश करता है गोणिका (Pelvis)
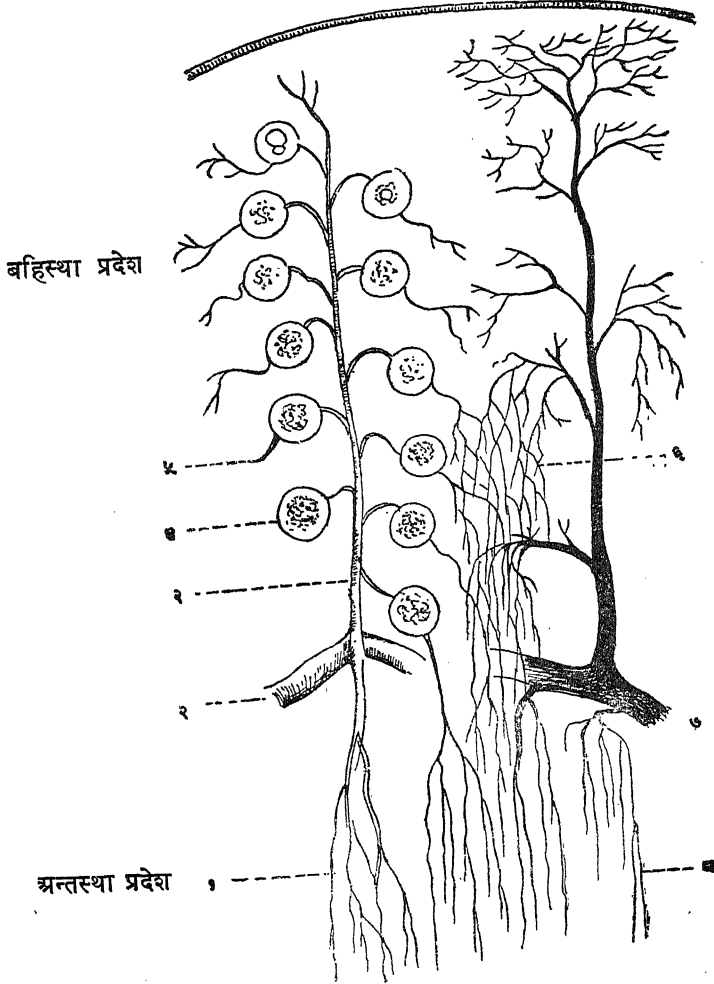
चित्र १२१—वृक्क के भीतर धमनी और शिरा का वितरण
[१—मीनार को जाने वाली सूक्ष्म धमनी २—धमनी चाप ३—बहिस्था भाग को जाने वाली धमनी ४, ५—केशिकास्तवक, ६—केशिकाओं का जाल ७—शिरा चाप ८—मीनारों के बीच की सूक्ष्म शिरायें]

बताया जा चुका है। इनकी लम्बाई लगभग १०" होती है। पृष्ठ वंश के दोनों ओर एक-एक गवीनी वृक्क से निकल कर सीधी नीचे और कुछ भीतर की ओर जाकर श्रोणि में स्थित मूत्राशय में दाहिने और बायें ओर से प्रविष्ट होती है। ये मूत्राशय की भित्ति में कुछ दूर तक पहले अनुप्रस्थ या टेढ़ी दिशा में जाकर तब छिद्रों द्वारा मूत्राशय के भीतर खुलती हैं। इससे मूत्राशय के भर जाने पर मूत्र इन नलिकाओं में लौट नहीं सकता।

मूत्राशय (Urinary Bladder) केवल एक थैला है जिसमें मूत्र की बूंदें एकत्र होती रहती हैं। यह अभ्यन्तरांग (Viscus) श्रोणि गुहा में स्थित है। इसकी भित्ति में अनैच्छिक पेशी तन्तुओं का एक मोटा स्तर रहता है। भीतर की ओर इस पर श्लैष्मिक कला चढ़ी रहती है। बाहर की ओर इसके कुछ भाग को पर्युदर्या कला (Peritoneum) ढके हुए है।

मूत्राशय जब खाली रहता है तो इसकी भित्तियाँ आपस में सम्पर्क में रहती हैं। इसमें साधारणतया ४ औंस मूत्र एकत्र हो सकता है। किन्तु जब किसी कारण से मूत्र बाहर नहीं निकल पाता तो वह इतना प्रसरित हो जाता है कि उसका ऊपरी किनारा नाभि तक पहुँच सकता है।

मूत्राशय में तीन छिद्र हैं, दो दोनों गवीनियों के, जो मूत्राशय के ऊपरी दोनों कोनों पर स्थित हैं और तीसरा मूत्रमार्ग का छिद्र नीचे और सामने की ओर स्थित है। जहाँ से मूत्रमार्ग की नलिका मूत्राशय से निकलती है वहाँ उसके चारों ओर एक वलयाकार पेशी स्थित है जिसके संकोच से मूत्र बाहर नहीं आ सकता। यह **मूत्रमार्ग संवरणी** (Sphincter Urethrae) कही जाती है।

मूत्रमार्ग (Urethra) : यह एक साढ़े सात इंच लम्बी नली है जिसके द्वारा मूत्र शरीर का त्याग करता है। इसके द्वारा मूत्र के बाहर निकलने को **मूत्रण** या **मूत्रत्याग** (Micturition) कहते हैं। यह एक प्रतिवर्त्त क्रिया है जिसको मूत्राशय की अनैच्छिक पेशियाँ पूर्ण करती हैं। किन्तु हम अपनी इच्छा से कुछ समय तक उसको रोक सकते हैं। किन्तु ज्यों-ज्यों अधिक मूत्र एकत्र होता जाता है त्यों-त्यों मूत्राशय की भित्तियों पर दाब बढ़ता जाता है और उसी के अनुसार वहाँ से मेरुदंड के कटि प्रान्त में स्थित केन्द्र (Centre) को संवेग जाने लगते हैं। अन्त को इस केन्द्र से श्रोणि और आशयिक (Pelvic and Splanchnic Nerves) तन्त्रिकाओं द्वारा भित्ति की पेशियों को आज्ञा जाने से उनका संकोच होता है। मूत्रमार्ग संकोचनी प्रसरित हो जाती है और मूत्र का प्रवाह होता है।

मूत्र (Urine) : मनुष्य चौबीस घंटे में १,२०० सी० सी० या २२ छटाँक मूत्र शरीर से निकालता है। ऋतु के अनुसार इसमें कमी-बेशी होती रहती है। गरमी के मौसम में मूत्र की मात्रा कम हो जाती है। जाड़ों में अधिक होती है। मूत्र में ९६

प्रतिशत जल होता है और ४ प्रतिशत ठोस पदार्थ, जिसमें से आधे से अधिक यूरिया (Urea) होती है। प्रोटीन या अमीनो अम्ल का यह अन्तिम पदार्थ है जो शरीर से मूत्र द्वारा बाहर निकलता है। इसके अतिरिक्त यूरिक अम्ल (Uric Acid), क्रियेटिन (Creatine), यूरेट लवण (Urates) अन्य कार्बनिक अवयव हैं। अकार्बनिक अवयवों में विशेषकर सोडियम क्लोराइड अधिक होता है। सल्फेट और फास्फेट भी होते हैं।

मूत्र का रंग पीला होता है। रंग की गहराई उसके अवयवों की सान्द्रता पर निर्भर करती है। अवयव जितने अधिक होंगे और जल कम होगा उतना ही रंग गहरा होगा। उसका विशिष्ट गुरुत्व १०१२ से १०५५ (जल १०००) होता है और प्रतिक्रिया आम्लिक होती है। किन्तु कुछ समय तक रखने से क्षारीय हो जाती है।

मूत्रोत्पत्ति : मूत्र किस प्रकार बनता है? हम देख आये हैं कि शरीर के अनेक अंग विशेष स्रावों को उत्पन्न करते हैं। आमाशय, अग्न्याशय, आन्त्र तथा कितनी ही ग्रन्थियों में रस बनते हैं जो उनके **स्राव** (Secretion) कहलाते हैं। ये सब अंग अपने-अपने विशेष स्राव बनाते हैं जो एक दूसरे से भिन्न हैं। रक्त सब अंगों को समान रूप से पोषण पहुँचाता है। किन्तु उनके स्रावों का रूप भिन्न है। आमाशय के स्राव में अम्ल होता है। मौखिक ग्रन्थियों के स्राव में क्षार होता है। इस रस में जहाँ टाइलिन होता है वहाँ अग्न्याशय कोशिका ट्रिप्सिन, ऐमाइलेज और लाइयेज बनाती है। कुछ ग्रन्थि हारमोन बनाती हैं। यह क्रिया किस प्रकार होती है?

शरीर के अध्ययन से यह प्रमाणित हो चुका है कि यह अंगों की कोशिकाओं का काम है। प्रत्येक कोशिका में चुनने की शक्ति (Selective Power) है। वह जो अपने लिए उपयोगी वस्तुएँ है उनको चुन लेती है और अनुपयोगी को छोड़ देती है। "सन्त हंस गुण गहहिं पय परिहरि वारि विकार।" वे भली भाँति जानती हैं कि उनको क्या कर्म करना है और उसी की पूर्ति में वे अपने चुनाव की शक्ति का उपयोग करती हैं। इसी शक्ति से भिन्न-भिन्न कोशिकायें भिन्न-भिन्न वस्तुओं का निर्माण करती हैं।

मूत्र के निर्माण में भी मूत्रतन्त्र की कोशिकायें अपनी इस शक्ति को काम में लाती हैं। वे रक्त से कितने ही अवयवों को चुन कर मूत्र द्वारा निकाल देती हैं और उनके हानिकारक प्रभावों से शरीर की रक्षा करती हैं। रक्त में यूरिया केवल ०·०३ प्रतिशत होता है, किन्तु मूत्र में २ प्रतिशत से १० प्रतिशत हो सकता है। कई अन्य मूत्र के लवणों का भी यही हाल है अतएव यह माना जाता है कि ये वस्तुएँ मूत्र अणुनलिकाओं की कोशिकाओं द्वारा रक्त से चुन ली जाती हैं और मूत्र में मिला दी जाती हैं। अणुनलिकाओं द्वारा मूत्र के कुछ जलीय भाग का शोषण भी संभव है।

मूत्र में जो जल का ९६ प्रतिशत भाग होता है वह ग्लोमेर्यूलस में छनने या **निस्यन्दन क्रिया** (Filtration Action) से बनता है। यह अंग छन्ने या निस्यन्दक की भाँति

काम करता है। इसमें निस्यन्दन की भौतिक क्रिया के लिए उपयुक्त दशायें उपस्थित हैं। ग्लोमेर्यूलस में रक्त दाब अधिक है, ४० मिलीमीटर पारा है। उसके बाहर सम्पुट में दाब अति न्यून है। अतएव छनने की क्रिया से रक्त का जलीय भाग छन कर बाहर के सम्पुट में आ सकता है। यहीं से अणुनलिका प्रारम्भ होती है।

अतएव वृक्क में दोनों क्रियायें होती हैं। छनने की भौतिक क्रिया और कोशिकाओं की चुनाव क्रिया। छनने की क्रिया ग्लोमेर्यूलस में होती है जिससे मूत्र का जलीय भाग बनता है। अणुनलिकाओं में उनकी कोशिकायें रक्त से ठोस भागों को अपनी शक्ति से चुन कर उनका शोषण कर लेती हैं और वे बौमैन सम्पुट से आये हुए जल में मिल जाते हैं। इस प्रकार मूत्र तैयार हो जाता है और उन सब अवयवों को, जिनसे शरीर को हानि पहुँच सकती है बाहर निकाल देता है।

त्वचा (Skin)

शरीर का सारा पृष्ठ त्वचा से ढका हुआ है। अस्थियों को मांसपेशी ढके हुए हैं और उन पर वसा का स्तर है। जहाँ कहीं गड्ढे रह जाते हैं उनको वसा भर कर एक समान
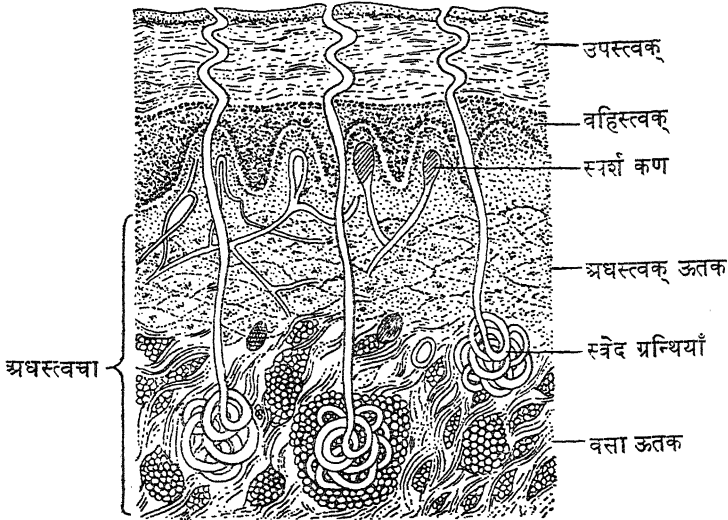
चित्र १२२—त्वचा का परिच्छेद जिसमें सूक्ष्म रचना दिखाई गई है

कर देती है। इन पर त्वचा चढ़ी हुई है। इनके त्वचा से ढक जाने से मनुष्य का रूप बन जाता है। यदि त्वचा और वसा को शरीर पर से हटा दिया जाय तो सब शरीर एक ही से दीखेंगे।

शरीर को ढकने के अतिरिक्त त्वचा के कई अन्य महत्त्वपूर्ण कर्म हैं।

त्वचा की रचना : त्वचा की रचना गूढ़ है। उसको अपने कर्म के लिए उपयुक्त बनाया गया है। त्वचा के सबसे बाहरी भाग में कोई रचना नहीं दिखाई देती। उसमें कुछ तन्तु या रेखायें-सी दीखती हैं। उसमें कोशिकायें नहीं हैं न केन्द्रक ही दीखते हैं। केवल रचनारहित परत उपस्थित हैं जो सदा गिरते रहते हैं और नीचे के भागों से नये परत बना करते हैं। चित्र में सबसे ऊपर यह स्तर स्थित है जिसमें केवल रेखायें दीख रही हैं और एक नलिका उसमें होकर त्वचा के बाह्य पृष्ठ पर खुल रही है। इस स्तर को **उपत्वचा** (Cuticle) कहते हैं।

इसके नीचे कोशिकाओं का स्तर है। इस स्तर के ऊपरी भाग में कोशिकाओं की कई पंक्तियाँ स्थित हैं जो एक दूसरे के साथ संहत हो गई हैं और अत्यन्त सन्निकट स्थित हैं। इस स्तर में **रंग** या **वर्णक** (Pigment) के कण उपस्थित हैं। ये ही रंग या वर्ण का कारण होते हैं। जितनी वर्णक की अधिक मात्रा होती है उतना ही रंग गहरा होता है। गौर वर्ण वालों में वर्णक कम होते हैं। **अवर्णी** (Albino) व्यक्तियों के शरीर के किसी भी भाग में वर्णक नहीं होते।

इन वर्णक युक्त चपटी कोशिकाओं के नीचे के स्तर की कोशिकाओं का आकार कुछ बड़ा हो जाता है किन्तु वे भी चपटी ही हैं। इनके नीचे चौखुंटी या षष्टकोणी कोशिकाओं की पंक्तियाँ हैं जो नीचे की ओर को अंकुरों तथा ग्रन्थियों में भी चली गई हैं। अंकुरों और ग्रन्थियों को स्तंभाकार (Columnar) कोशिकाओं का स्तर आच्छादित किये हुए है।

उपत्वचा से नीचे स्थित इस सारे भाग का नाम **बाह्य त्वचा** (Epidermis) है। इस भाग की कोशिकायें एक दूसरे से संहत होकर स्थित हैं जैसे युद्ध क्षेत्र में सिपाहियों की पंक्तियाँ स्थित होती हैं। आगे के सिपाही के हटते ही पीछे का सिपाही उसके स्थान पर पहुँच जाता है। इसी प्रकार अगली पंक्ति की कोशिकाओं के नष्ट होते ही पीछे की पंक्ति की कोशिकायें उसका स्थान ले लेती हैं। इस स्तर में एक और विशेषता है। इसमें रक्त केशिकायें नहीं होतीं। यहाँ रक्त का संचार नहीं होता। उसका पोषण इससे नीचे के भाग में जो रक्तसंचार होता है उसी से होता है।

बाह्य त्वचा के नीचे **अन्तस्त्वचा** (Dermis) है। इस भाग में जहाँ-तहाँ अंकुर दीखते हैं जो स्तंभाकार कोशिकाओं से आच्छादित हैं। यहाँ रक्त केशिकाओं का जाल-सा फैला हुआ है। प्रत्येक अंकुर में भली भाँति रक्त संचार होता है। सुई चुभने से जो रक्त निकलता है वह इसी स्तर से आता है। जब तक सुई केवल उपत्वचा में रहती है तब तक रक्त नहीं निकलता। इस स्तर में तन्त्रिकाओं की शाखायें भी फैली हुई हैं जो अंकुरों में चली जाती हैं। चित्र में दाहिनी ओर के अंकुर में एक लम्बे

आकार की रचना दीख रही है जिसमें नीचे से तन्त्रिका की एक शाखा आ रही है। ये **स्पर्शग्राही कणिका** (Tactile Corpuscles) कहलाते हैं। ये तन्त्रिका के बाहर जो
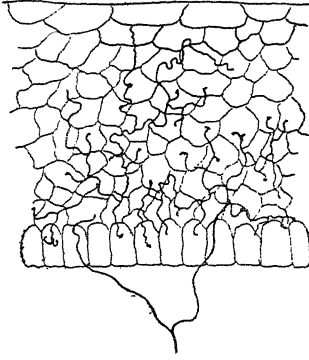
चित्र १२३—सांवेदनिक तन्तु का त्वचा में वितरण
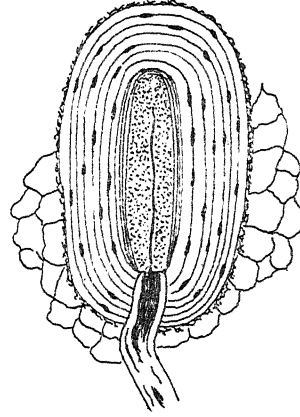
चित्र १२४—स्पर्शग्राही कणिका

तन्तुऊतक का आवरण होता है उसके विस्तृत हो जाने से बनते हैं। तन्त्रिका का अक्ष स्पर्शग्राही कणिका में अन्त होता है।

इन कणिकाओं का विशेष काम स्पर्श को प्रतीत करने का है। ये हथेली और अंगुलियों के सिरों पर विशेषकर अधिक होती हैं। इसी से इन स्थानों में स्पर्श को प्रतीत करने की तीव्र शक्ति होती है।

चित्र में इस स्तर के नीचे के भाग में कुछ ग्रन्थि सदृश रचनायें दिखाई दे रही हैं। वसा के गोल-गोल कण भी कहीं-कहीं एकत्रित हैं। ये ग्रथियाँ दो प्रकार की हैं, एक **स्वेद ग्रन्थियाँ** (Sweat Glands) जिनमें स्वेद बनता है और एक नलिका द्वारा बाहर आता रहता है। चित्र में एक ऐसी नलिका दीख रही है। दूसरी **त्वग्वसा ग्रन्थि** (Sebaceous Gland) है। इनमें एक विशेष प्रकार का वसामय पदार्थ (Sebum) बनता है जो नलिकाओं द्वारा त्वचा पर आकर एकत्र हो जाता है। साधारणतया इसको मैल कहा जाता है। शरीर को रगड़ने से इसी मैल के तथा उपत्वचा के परत उतरते हैं। यही त्वग्वसा है।

त्वचा को वर्धक लैन्स से देखने से उसमें अनेक छोटे-छोटे गड्ढे दिखाई देते हैं। ये सब उन नलिकाओं के छिद्र हैं जिनके द्वारा स्वेद और त्वग्वसा त्वचा पर निकल आते हैं। ये ग्रन्थियाँ **रोम कूपों** (Hair Follicles) के चारों ओर स्थित होती

हैं और उनमें बनी हुई त्वग्वसा बालों की जड़ों को चिकना रखती हैं। किसी-किसी व्यक्ति में त्वग्वसा अधिक बनती है। इस रोग को **सेबोरिया** (Seborrhoea) कहते हैं।

स्वेद : सदा ही स्वेद ग्रन्थियों में बन कर वाहनियों द्वारा त्वचा पर निकल कर आता रहता है जहाँ उसका वाष्पीभवन होता है। कुछ स्वेद तुरन्त ही वाष्प हो जाता है। वह चर्म पर प्रतीत नहीं होता। यह **अज्ञात स्वेदन** (Insensible Perspiration) कहलाता है। स्वेद के वाष्पीभवन से शरीर का ताप कम होता है। जो स्वेद शरीर की बाह्यत्वचा पर प्रतीत होता है और बहने लगता है वह **ज्ञात स्वेदन** (Sensible Perspiration) कहा जाता है। गरमी या वर्षाकाल में इस प्रकार का बहुत स्वेदन होता है। यह क्रिया शरीर के ताप का नियन्त्रण करने वाली है।

स्वेद जल ही के समान होता है। उसमें केवल सोडियम क्लोराइड की कुछ मात्रा मिली रहती है। यह अनुमान किया जाता है कि कम से कम ६०० सी० सी० स्वेद प्रतिदिन शरीर से निकलता है। ऋतु के अनुसार जाड़ों में कम और गरमियों में अधिक निकलता है। किन्तु उसका वाष्पीभवन हो जाता है। वर्षा ऋतु में आर्द्रता के कारण वाष्पीभवन नहीं होता। इस कारण वह शरीर पर मालूम होता है। मानसिक अवस्थाओं का भी स्वेदन क्रिया पर प्रभाव होता है। भय या क्रोध में मुख या माथे पर पसीना आ जाता है। परिश्रम करने से अधिक स्वेदन होता है।

त्वचा के कर्म : (१) त्वचा का प्रथम और विशेष कर्म **रक्षा** (Protection) करना है। अविद्ध निरन्तर चर्म द्वारा रोग के जीवाणु शरीर में प्रवेश नहीं कर सकते। शरीर रक्षा की यह प्रथम पंक्ति है। केवल जब त्वचा विद्ध या क्षत हो जाती हैं तभी आगन्तुक शरीर में प्रवेश कर सकते हैं।

धूप, वायु, ताप, ठंड तथा आघात से भी त्वचा भीतरी अंगों की रक्षा करती है।

(२) **संवेदन** (Sensation) : त्वचा से प्रत्येक समय मस्तिष्क को सूचनायें जाती रहती हैं। त्वचा में सांवेदनिक तन्त्रिकाओं के तन्तुओं का रक्त केशिकाओं की भाँति जाल-सा बिछा हुआ है। इन्हीं के द्वारा चर्म पर होने वाली प्रत्येक घटना की तुरन्त सूचना मस्तिष्क को पहुँच जाती है। यही संवेदन कहा जाता है। धूप, ताप, चोट, त्वचा पर काँटे की चुभन या कीड़े का काटना मस्तिष्क को इन नाड़ियों द्वारा ही मालूम होता है।

त्वचा की यह शक्ति जिसका एकमात्र कारण वहाँ की सांवेदनिक तन्त्रिकाओं का जाल है, हमारे बहुत लाभ की है। यदि यह शक्ति न होती तो हमारा अंग जला या कटा करता और हमको मालूम भी न होता। इसी संवेदन की शक्ति से मच्छर के काटते ही हमारा हाथ तुरन्त वहाँ पहुँच कर मच्छर को हटा देता है।

(३) त्वचा का तीसरा कर्म शरीर के **ताप का नियमन** (Regulation of Temperature) करना है। गरमियों में जब शरीर को ताप कम करने अथवा उसके

ह्रास की आवश्यकता होती है तो त्वचा में स्थित रक्त-केशिकायें प्रसरित हो जाती हैं। उनमें रक्त का परिसंचार बढ़ जाता है जिससे अधिक स्वेद बन कर निकलता है और उसके वाष्पीभवन से शरीर ठंडा होता है। जाड़े में त्वचा की रक्तवाहनियाँ संकुचित रहती हैं। ताप का शरीर से विसर्जन नहीं होता। इस प्रकार त्वचा आवश्यकता-नुसार ताप का क्षय करती है या ताप का ह्रास नहीं होने देती है।

(४) **श्वसन** (Respiration) : पहले बताया जा चुका है कि त्वचा श्वसन क्रिया में फुप्फुसों की सहायता करती है। उसके द्वारा भी गैसों की अदला-बदली होती है। त्वचा के सम्पर्क में जो वायु आती है उससे त्वचा की रक्तवाहनियों का रक्त आक्सिजन ले लेता है और कार्बन डाइ-आक्साइड लौटा देता है।

इसके अतिरिक्त त्वचा सदा फुप्फुस को उत्तेजनायें भेजा करती है जिसके अनुसार फुप्फुस का कर्म घट या बढ़ जाता है। चर्म पर ठंडा जल डालने से क्षण भर के लिये श्वास बन्द-सा हो जाता है।

(५) **उत्सर्जन** (Excretion) : त्वचा द्वारा उन विषैले अवयवों का, जो मूत्र द्वारा शरीर से निकलते हैं, त्याग संभव है। जब वृक्क रोगग्रस्त होकर इन विषों के त्याग में असमर्थ हो जाते हैं तो त्वचा से यह कर्म करवाया जाता है। चिकित्सा में इसका प्रयोग किया जाता है। यद्यपि त्वचा उन अवयवों का पूर्ण त्याग करने में असमर्थ है फिर भी उसके द्वारा बहुत कुछ विष शरीर से बाहर निकल जाते हैं।

त्वचा की स्वच्छता : त्वचा के महत्त्वपूर्ण कर्मों को देखते हुए स्वास्थ्य के लिए त्वचा को स्वच्छ रखना अत्यन्त आवश्यक है। त्वचा पर के जितने छिद्र (Pores) हैं उनको खुला रखना स्वास्थ्य का विशेष साधन है। उन्हीं के द्वारा स्वेद के साथ विष शरीर से निकलता है। मैल एकत्र होने से ये छिद्र बन्द हो जाते हैं जिससे विष-त्याग की क्रिया रुक जाती है और शरीर को हानि पहुँचती है।

इन छिद्रों को खुला रखने और त्वचा को दृढ़ और सबल बनाने तथा उसकी क्रिया-कुशलता की वृद्धि के दो उपाय हैं, जिनको **मालिश** या **अभ्यंग** (Massage) और **स्नान** (Bath) कहते हैं।

मालिश अत्यन्त उपयोगी है। प्रायः मालिश किसी तैल के साथ की जाती है। इसका अर्थ तैल को चुपड़ना नहीं है। मालिश करने वाला हाथों या अंग पर तैल लगा कर अंग को रगड़ता है तथा दबाता है। अंग को ऊपर से नीचे को अथवा धमनी-रक्त प्रवाह की दिशा में मला जाता है। इससे त्वचा का व्यायाम होता है। त्वचा में रक्त का प्रवाह बढ़ जाता है। त्वचा की तब तक मालिश की जाय जब तक वह लाल न हो जाय। और मालिश कराने वाले को ताप न मालूम होने लगे। प्रत्येक अंग में बारी-बारी से मालिश करनी चाहिये।

स्नान : मालिश में जो तेल शरीर पर लगाया गया था उसको स्नान द्वारा हटा देना भी आवश्यक है। इस हेतु मालिश के पश्चात् साबुन से मल कर स्नान करना उचित है। साबुन तैल को घोल लेता है और तब जल उसको बहा देता है। यदि मालिश नित्य न हो सके तो सप्ताह में दो बार अवश्य कराई जाय।

स्नान नित्यप्रति किया जाता है। स्नान का प्रयोजन त्वचा पर जमे हुए मैल को दूर करना है। इसलिए स्नान इस प्रकार करना चाहिये जिससे यह प्रयोजन पूर्ण हो। साबुन से मैल सहज में दूर हो जाता है। गरम जल से साबुन की मैल को घोल लेने की शक्ति और भी बढ़ जाती है। किन्तु यदि त्वचा साधारणतया स्वच्छ है और उस पर अधिक पसीना नहीं सूखा है तो नित्यप्रति गरम जल से स्नान करने की या साबुन लगाने की आवश्यकता नहीं है। साधारण ठंडे जल से स्नान करने से भी बहुत लाभ होता है। नहाने के समय अंगों को हाथों से मलना चाहिये जिससे त्वचा के छिद्र खुलें और रक्त संचार बढ़े।

शिशु, बालकों तथा वृद्धों को जाड़े में ठंडे जल से स्नान न करना चाहिये। उनके रुधिर परिसंचरण तन्त्र में इतनी शक्ति नहीं होती कि वह उचित प्रतिक्रिया कर सके। इससे उनको हानि पहुँचने की संभावना रहती है। युवा व्यक्ति को सदा ठंडे जल से ही स्नान करना चाहिये। इससे शरीर में स्फूर्ति आती है और चित्त प्रसन्न होता है। सप्ताह में एक या दो बार तैल की मालिश करने के पश्चात् गरम जल का स्नान उपयोगी है। गरमी के मौसम में तो बाल-बच्चे, बूढ़े-जवान सभी ठंडे जल से ही स्नान करते हैं।

नवाँ परिच्छेद

तन्त्रिका तन्त्र

(Nervous System)

यह शरीर का अत्यन्त महत्त्वशाली तन्त्र है जो शेष सब तन्त्रों का नायक है। अन्य सब तन्त्र इसके आधीन हैं। उन सब पर यह शासन करता है। जब जैसी आवश्यकता होती है उस समय उपयुक्त अंग से उचित क्रिया करवाता है। इसकी आज्ञा के बिना कोई अंग काम नहीं करता, शरीर की कोई क्रिया नहीं होती, यद्यपि स्वयं इसकी क्रिया भी, यहाँ तक कि उसका जीवन भी कई अन्य अंगों पर निर्भर करता है। यदि हृदय से इसमें रक्त ५ मिनट तक न पहुँचे तो यह अपना काम छोड़ बैठता है। यद्यपि यह शरीर का शासक है किन्तु वह प्रत्येक अंग से ऐसे ही कर्म करवाता है जो सभी के लाभ के हों, जिनसे सबों की रक्षा हो, सारे शरीर का हित हो। यदि कोई हम पर आक्रमण करने को आता है तो तुरन्त मस्तिष्क, टाँगों और धड़ तथा बाहु की पेशियों को अतिशीघ्र संकोच करके वहाँ से शरीर को दूर ले जाने की आज्ञा देता है जिसे वे तत्काल पूरा करती हैं। न केवल बाहरी अंग बल्कि भीतरी अंगों का संचालन भी उसी के आधीन है। वह समस्त पाचक तन्त्र से आहार का पाचन करवाता है, फुफ्फुसों से श्वास लिवाता है, हृदय से प्रत्येक अंग में रक्त भिजवाता है और वृक्कों से शरीर के विषों का त्याग करवाता है। मनुष्य में मनुष्यता का संचार करने वाला, मूर्ख और पंडित बनाने वाला तथा दुष्ट और सज्जन उत्पन्न करने वाला यही अंग या तन्त्र है।

तन्त्र की रचना : प्रमस्तिष्क, अनुमस्तिष्क, पौन्स, **मेरुशीर्ष** या मेडुला आबलांगाटा, मेरुरज्जु तथा मेरुरज्जु से निकलनेवाली तन्त्रिकायें इस तन्त्र की रचना करती हैं। प्रथम पाँच अवयव **केन्द्रीय तन्त्रिका तन्त्र** (Central Nervous System) बनाते हैं। ये पाँचों अंग शरीर की मध्य रेखा में स्थित हैं इस कारण मध्यस्थ भाग कहलाते हैं। इनके जोड़े नहीं हैं। मेरुरज्जु से निकलने वाली तन्त्रिकायें दोनों ओर की ऊर्ध्व और निम्न शाखाओं में तथा धड़ के दोनों ओर समान रूप से फैल जाती हैं। ये **परिधिस्थ तन्त्रिका तन्त्र** (Peripheral Nervous System) कही जाती हैं। मस्तिष्क से भी कुछ तन्त्रिकायें निकलकर मुख ग्रीवा आदि में वितीर्ण हो जाती हैं।

मस्तिष्क (Brain) : मस्तिष्क एक अत्यन्त कोमल अंग है जो सारे शारीरिक साम्राज्य का अधीश्वर है। इस कारण वह शरीर में सबसे ऊँचे स्थान में कपाल के दृढ़ सन्दूक के भीतर बन्द है और दृढ़ अस्थियों के बीच में पूर्णतया सुरक्षित है। मस्तिष्क को

देखने के लिए यदि कपाल को चारों ओर से काट दिया जाय और कपाल के ऊर्ध्व भाग को एक टोपी की भाँति ऊपर से हटा दिया जाय तो कपाल की गुहा में स्थित मस्तिष्क को ढके हुए एक मोटी दृढ़ कला दिखाई देगी जिसके भीतर मस्तिष्क स्थित है। इस कला को **दृढ़ तानिका या डूरामेटर** (Duramater) कहते हैं। इस पर कितनी ही धमनी और शिराओं की शाखायें फैली हुई हैं। इसका बाहरी पृष्ठ कपाल की अस्थियों के सम्पर्क में रहता है और भीतर से वह मस्तिष्क को ढके हुए है। इस आवरण के भीतर एक दूसरा
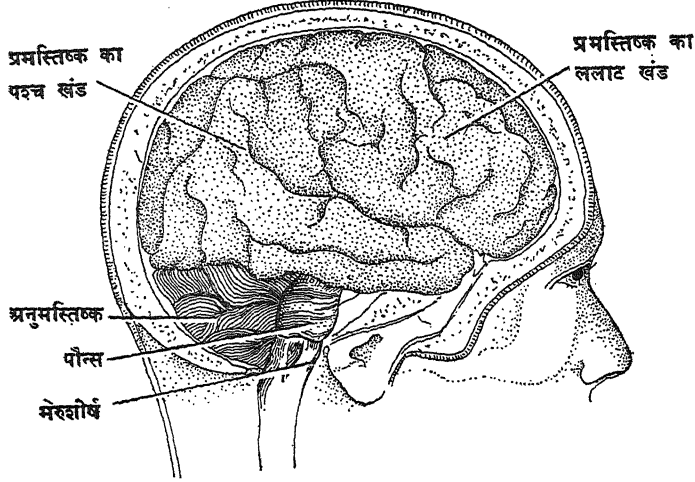
चित्र १२५—कपाल में मस्तिष्क की स्थिति तथा मेरुशीर्ष

आवरण है जो **अरकनाइड या जाल तानिका** (Arachnoid) कहलाता है। यह तान्तव और प्रत्यास्थ (Elastic) ऊतक का बना हुआ है। इस आवरण के भीतर एक तीसरा सबसे भीतर का आवरण है जो **मृदुतानिका या पायामेटर** (Piamater) कहा जाता है। यह धमनी और शिराओं की अत्यन्त सूक्ष्म केशिकाओं का बना हुआ है और मस्तिष्क के पृष्ठ पर चिपटा हुआ है तथा मस्तिष्क की **लहरिकाओं** (Convolutions) के बीच में मस्तिष्क वस्तु के भीतर तक चला जाता है। यही आवरण मस्तिष्क का पोषण करता है।

डूरामेटर और अरकनाइड तथा अरकनाइड और पायामेटर के बीच में कुछ अवकाश रहता है जिसको **अधो दृढ़ तानिका** तथा **अधो जाल तानिका अवकाश** (Subdural & Subarachnoid Space) कहते हैं जिसमें **प्रमस्तिष्क-मेरुतरल** (Cerebrospinal Fluid) रहता है।

डूरामेटर से तीन फलक निकल कर विभाजक पटलों की भाँति कपालास्थियों में लग जाते हैं और कपाल गुहा को तीन भागों में विभक्त कर देते हैं। एक पटल प्रमस्तिष्क

के दाहिने और बायें गोलार्द्धों के बीच में चला जाता है और उनको एक दूसरे से भिन्न करता है। दूसरा पटल अनुमस्तिष्क के गोलार्द्धों के बीच में है। ये प्रमस्तिष्क दात्र (Falx Cerebri) और अनुमस्तिष्क छदि (Tentorium Cerebelli) कही जाती हैं। तीसरा फलक प्रमस्तिष्क और अनुमस्तिष्क के बीच में होता है।

इन आवरणों को काट कर यदि सारे मस्तिष्क को कपाल में से निकाल कर देखें तो उसमें ऊपर की ओर एक बड़ा-सा भाग दिखाई देगा और उसके नीचे की ओर उससे जुड़ा हुआ एक छोटा भाग दीखेगा। ये दोनों भाग दो-दो गोलार्द्धों के बने हुए हैं। ऊपर का बड़ा भाग प्रमस्तिष्क (Cerebrum) है जिसके दाहिने और बाँये दो गोलार्द्ध (Cerebral Hemispheres) हैं। इसी प्रकार छोटे अनुमस्तिष्क के भी दो गोलार्द्ध हैं जो छोटे हैं।

इन गोलार्द्धों के नीचे से एक लम्बी रज्जु के समान एक रचना निकलती है जिसको **मेरुरज्जु** (Spinal Cord) कहते हैं। इसका ऊपरी भाग जो मस्तिष्क से जुड़ा हुआ है अधिक चौड़ा होता है। यह **मेरुशीर्ष या मेडुला आबलांगाटा** (Medulla Oblongata) कहलाता है। यह बड़े महत्व का अंग है। इसमें उन कोशिकाओं के समूह स्थित हैं जो हृदय, फुफ्फुस आदि का नियन्त्रण करते हैं।
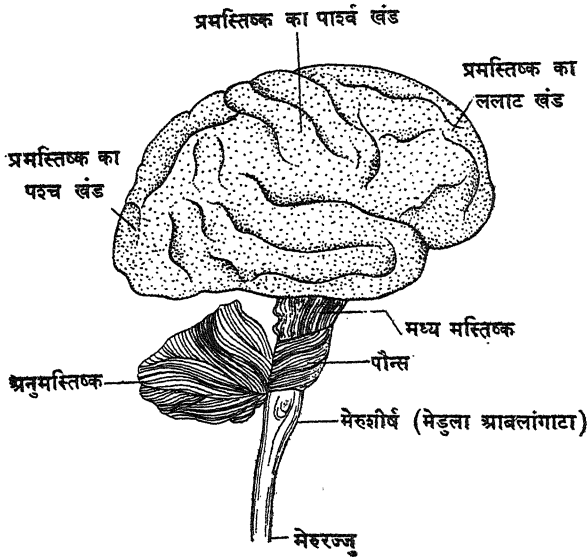
चित्र १२६—मस्तिष्क के भाग

१ प्रमस्तिष्क (Cerebrum)

इसके दाहिने और बाँयें गोलार्द्धों के बीच में एक गहरी खाई है। खाई के तल में एक लम्बी सेतु के समान रचना दोनों गोलार्द्धों को जोड़े हुए है। यह **महासंयोजक**

(Corpus Callosum) कहलाती है। ऊपर से देखने में यह एक चौड़े फीते के समान गोलार्द्धों के अगले सिरे से पिछले सिरे तक फैली हुई है और गोलार्द्धों को पूर्णतया पृथक् नहीं होने देती।

प्रमस्तिष्क का रंग धूसर है। उसके बाहरी पृष्ठ पर धूसर रंग की तन्त्रिका कोशिकाओं (Nerve Cells) का एक मोटा स्तर है। यह **धूसर द्रव्य** (Gray Matter) या **ग्रेमैटर** कहा जाता है। यदि मस्तिष्क को काट कर भीतर से देखा जाय तो वह श्वेत रंग का दिखाई देगा। यहाँ वे तन्तु स्थित हैं जो कोशिकाओं से निकल कर मेरुरज्जु में अथवा
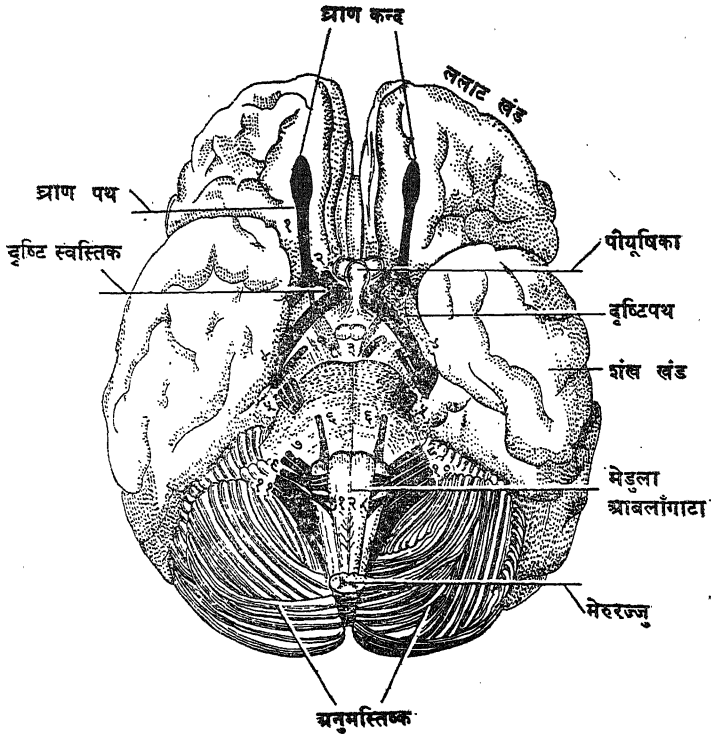
चित्र १२७—मस्तिष्क के तल जिससे निकलने वाली तंत्रिकायें दिखाई गयी हैं

मस्तिष्क के एक भाग से दूसरे भाग में जा रहे हैं। यह **श्वेत द्रव्य** (White Matter) कहा जाता है। इस प्रकार का मस्तिष्क का बहिस्था भाग धूसर रंग की कोशिकाओं से बना हुआ है और भीतर के भाग में श्वेत रंग के तन्तु हैं। धूसर द्रव्य मस्तिष्क के सारे पृष्ठ पर **लहरिकाओं** (Convolution) के रूप में आच्छादित है। स्थान-स्थान पर यह पदार्थ भीतर को घुस जाता है जिससे वहाँ गहरी **परिखा** (Sulcii) बन जाती है। दो परिखाओं के बीच के उभरे हुए भाग को **कर्णक** (Gyrus) कहते हैं। सारा पृष्ठ परिखाओं

और कर्णकों में विभक्त है। यह भी थोड़े स्थान में अधिक वस्तु को रखने का प्रकृति का कौशल है जिसका परिचय हमको सारे शरीर में पद-पद पर मिलता आ रहा है। इस प्रबन्ध से तन्त्रिका कोशिकाओं की संख्या बहुत बढ़ गयी है। दोनों गोलार्द्धों के पृष्ठों पर ग्रेमैटर को इस प्रकार स्थित करके प्रकृति ने मनुष्य को तन्त्रिका कोशिकाओं की बहुत बड़ी संख्या प्रदान की है और उसको बुद्धि से युक्त किया है। अन्य किसी जन्तु के मस्तिष्क में इतने कर्णक और परिखायें नहीं पाई जातीं। उनके मस्तिष्क पृष्ठ सपाट से होते हैं। परिखाओं की संख्या बहुत कम होती है। यह मनुष्य ही की विशेषता है कि उसमें इन कोशिकाओं की इतनी अधिक संख्या है।

एक और बात ध्यान देने योग्य है। इन कोशिकाओं की संख्या जीवन में बढ़ती नहीं। वह उतनी ही रहती है जितनी जन्म के समय होती है। मनुष्य मस्तिष्क की जितनी कोशिकाओं को लेकर संसार में आता है उतनी ही को लिए हुए संसार को छोड़ता है। जीवन में नई कोशिकायें नहीं उत्पन्न होतीं। केवल आयु के बढ़ने के साथ उनका विकास होता है। शरीर के अन्य अंगों में कोशिकायें टूटती-फूटती रहती हैं और नई कोशिकायें उत्पन्न होती रहती हैं किन्तु मस्तिष्क में नई कोशिकायें नहीं उत्पन्न होतीं। वे जीवन-पर्यन्त उतनी ही बनी रहती हैं।

धूसर भाग की ये कोशिकायें कई आकार की हैं। मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न भागों में उनके कर्म के अनुसार कोशिकाओं के आकार भी बदल गये हैं। उनमें बहुत भिन्नता पाई जाती है। ये कोशिकायें ही हमारी **चेतना** (Consciousness) का स्थान हैं। यही हमको भूख, प्यास, पीड़ा, ताप, गन्ध, सुख, दुख का अनुभव कराती हैं। सारे शरीर से संवेदनायें (Sensations) इन्हीं कोशिकाओं में आती हैं और इन्हीं कोशिकाओं से जिनको संचालक या प्रेरक (Motor) कहते हैं, क्रिया करने के लिए आज्ञायें जाती ह।

प्रमस्तिष्क के पृष्ठ पर कुछ गहरी परिखायें हैं और कुछ उथली या हलकी। एक विशिष्ट गहरी परिखा पार्श्व पृष्ठ के मध्य से तनिक पीछे ऊपर से नीचे और पीछे की ओर को जाती दिखाई देती है। इस परिखा की विशेषता यह है कि इसके सामने **सांवेदनिक क्षेत्र** (Sensory Area) और उसके पीछे ऊपर से नीचे तक **संचालक क्षेत्र** (Motor Area) हैं। चित्र में ये क्षेत्र दिखाये गये हैं। जहाँ की कोशिकायें जिस अंग का संचालन करती हैं या जो उनके कर्म हैं वहाँ पर वे लिखे हैं। इन क्षेत्रों में यदि किसी कारण से कहीं की कोशिकायें नष्ट हो जाती हैं तो उनसे संबंधित अंगों के कर्म का भी नाश हो जाता है। सांवेदनिक क्षेत्र की कोशिकाओं के नाश से उनके द्वारा जो ज्ञान होता था वह नहीं होता। शरीर के प्रत्येक भाग से इन कोशिकाओं में सूचनायें आया करती हैं। उन सूचनाओं के इन कोशिकाओं द्वारा ग्रहण करने का वह परिणाम होता है जिसको हम **ज्ञान** या **चेतना** (Knowing, Willing, Consciousness) कहते हैं। अतएव हमारा जो भी

अपवाही तन्तु (Efferent Fibres) कहलाते हैं। तीसरे प्रकार के तन्तु एक कोशिका को दूसरी कोशिका से जोड़ते हैं। ये **संयोजी** (Communicating Fibres) तन्तु कहे जाते हैं।

प्रमस्तिष्क के भीतर श्वेत भाग में धूसर द्रव्य के कई द्वीप दिखाई देते हैं। ये कोशिकाओं के समूह हैं। इनको केन्द्रक (Nucleus) कहा जाता है। प्रमस्तिष्क में ऐसे कितने ही केन्द्रक हैं। इनमें से कुछ केन्द्रक बड़े आकार के हैं और कुछ छोटे हैं। प्रत्येक केन्द्रक किसी कर्म का नियन्त्रण करता है।

प्रमस्तिष्क के प्रत्येक गोलार्द्ध में कई खंड हैं। सामने ललाट की ओर जो भाग रहता है वह **ललाट खंड** (Frontal Lobe) कहलाता है। इसके पीछे दाहिने और वायें पार्श्व में **पराइटल या पार्श्व खंड** (Parietal Lobe) हैं। सबसे पीछे की ओर **पश्चकपाल खंड** (Occipital Lobe) है। पार्श्व के निचले भाग में **शंख खंड** (Temporal Lobe) का नाम दिया गया है क्योंकि वह शंखास्थि पर आश्रित है। प्रत्येक गोलार्द्ध के भीतर कुछ खाली स्थान है जिसको **पार्श्व निलय** (Lateral Ventricles) कहते हैं। दोनों गोलार्द्धों में एक-एक निलय होता है जो आगे से पीछे तक फैला हुआ है। पीछे जाकर दोनों ओर के निलय मिल जाते हैं और एक पतली नलिका द्वारा नीचे की ओर स्थित **तृतीय निलय** (Third Ventricle) से और वहाँ से मेडुला में स्थित **चतुर्थ निलय** (Fourth Ventricle) से सम्बन्धित हो जाते हैं। पार्श्व निलयों में एक प्रकार का तरल द्रव्य भरा होता है जिसको **प्रमस्तिष्क मेरुद्रव** (Cerebrospinal Fliud) कहते हैं। यह द्रव सूक्ष्म नलिकाओं और छिद्रों में होकर तृतीय और चतुर्थ निलयों में पहुँचता है और वहाँ से मेरुरज्जु के द्रव (Spinal Fliud) में पहुँचकर मिल जाता है। इस प्रकार यह तरल मेरुरज्जु की नलिका के अन्तिम भाग से लेकर प्रमस्तिष्क के पार्श्व निलयों तक प्रवाह करता रहता है।

प्रमस्तिष्क का तल अथवा **अधोपृष्ठ** : चित्र १२७ में प्रमस्तिष्क उलट कर उसका अधोपृष्ठ या तल दिखाया गया है। आगे की ओर ललाट खंडों के अधोपृष्ठ हैं जिन पर एक लम्बूतरे आकार का घ्राणकन्द (Olfactory Bulb) स्थित है जो पीछे की ओर दंड के समान लम्बी रचनाओं द्वारा मस्तिष्क से जुड़े हुए हैं। ये घ्राणपथ (Olfactory Tract) कहलाते हैं। इनमें होकर घ्राण तन्त्रिका (Olfactory Nerve) के तन्तु मस्तिष्क में जाते हैं। ललाट खंडों के पीछे दोनों ओर **शंख खंड** स्थित हैं। इन खंडों के बीच में एक × आकार की रचना है। इसको **अक्षि स्वस्तिक** (Optic Chiasma) कहते हैं। यहाँ पर दोनों नेत्रों से आने वाली तन्त्रिकाओं के बहुत से तन्तु एक ओर से दूसरे ओर को चले जाते हैं। अर्थात् दाहिने नेत्र के बाईं ओर को और बायें नेत्र के दाहिने ओर

को। कुछ तन्तु सीधे ही पीछे को जाते ह। इसी से इस प्रकार की रचना बन जाती है। इस रचना के पीछे एक छोटा कटा हुआ पृष्ठ दीखता है। यहाँ से पीयूषिका या **पिट्यूटरी ग्रन्थि** (Pituitary Gland) लटक रही थी जो काट दी गई है। इसके पीछे दोनों ओर से निकलने वाली तन्त्रिकाओं के कटे भाग दिखाये गये हैं। ये कपाली तन्त्रिका (Cranial Nerves) कहलाती हैं। प्रत्येक ओर से १२ तन्त्रिकायें निकलती हैं। पहली घ्राण तन्त्रिका है और दूसरी नेत्रों में जाने वाली दृष्टि तन्त्रिका (Optic Nerve) कहलाती है। शेष दस तन्त्रिकायें अंकों द्वारा चित्र में दिखाई गई हैं।

चित्र में पीछे की ओर अनुमस्तिष्क के दोनों गोलार्धों के अधोपृष्ठ हैं। दोनों गोलार्धों के बीच में लम्बे डंडे के समान मेरुरज्जु का भाग दीख रहा है। इसके दोनों ओर से भी तन्त्रिका निकल रही हैं।

प्रमस्तिष्क का कर्म : प्रमस्तिष्क के कर्म का ऊपर बहुत कुछ उल्लेख किया जा चुका है। संक्षेप से संवेदन या ज्ञान, बुद्धि, प्रतिभा, स्मृति, सक्रियता (संचालन) तथा भाव इसी अंग के कर्म हैं। व्यक्ति की प्रतिभा, तेजस्विता, दया, प्रेम, क्षमा आदि उच्च भाव इसी अंग की क्रिया के फल हैं। स्मृति (Memory) भी इसी का कर्म है। अंगों से काम करवाना इसी भाग के आधीन है जिसका पहिले उल्लेख किया जा चुका है। प्रान्तस्था की कोशिकायें इस कर्म की संचालक हैं।

प्रमस्तिष्क के कुछ भागों के कर्मों का अन्वेषण हो चुका है। किन्तु बहुतसे भागों के कर्मों का अभी तक पता नहीं चला है। सम्भव है मनुष्य के उच्च भावों के वहीं केन्द्र हों।

२. अनुमस्तिष्क (Cerebellum)

चित्र १२७ के पिछले भाग में अनुमस्तिष्क का अधोपृष्ठ दिखाया गया है। उसका पार्श्व पृष्ठ चित्र १२८ से स्पष्ट है। इन चित्रों से इस भाग का यथार्थ अनुमान किया जा सकता है।

इस अंग में भी दो गोलार्द्ध हैं और उनके बीच में एक उठी हुई शिखा की भाँति एक लम्बासा भाग है जिसको रेंगने वाले कीड़ों (Worms) के समान आकार के कारण वर्मिस (Vermis) का नाम दिया गया है। दोनों गोलार्धों का प्रान्तस्था भाग धूसर द्रव्य का बना हुआ है। इसके भीतर श्वेत द्रव्य तन्तुओं से निर्मित है। इस श्वेत भाग के बीच में प्रमस्तिष्क की भाँति धूसर पदार्थ के पिंड स्थित हैं जिनमें से दन्तुर केन्द्रक (Dentate Nucleus) सबसे बड़ा पिंड है।

अनुमस्तिष्क प्रमस्तिष्क के साथ तन्तुओं के समूहों द्वारा जुड़ा हुआ है जो तीन गुच्छों में स्थित हैं। इनको, ऊर्ध्व, मध्य और अधोवृन्त (Superior, Middle &

Inferior Peduncles) कहते हैं। ऊर्ध्व वृन्तों द्वारा तन्तु मध्य मस्तिष्क में जाते हैं। मध्य वृन्त द्वारा पौन्स (Pons) से और अधो वृन्त द्वारा मेरुशीर्ष से तन्तु इस अंग का सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

अनुमस्तिष्क का कर्म : इस अंग का विशेष कर्म शरीर की क्रियाओं का समन्वय (Coordination) करना है। वह पेशियों से क्रिया नहीं करवाता, उनके संकोच का कारण नहीं होता। किन्तु जब हम चलने लगते हैं या दौड़ते हैं तो भिन्न-भिन्न पेशी समूहों की क्रियाओं को वह इस प्रकार करवाता है कि हमारी चलने की क्रिया भली प्रकार सम्पादित हो, हमारे शरीर की स्थिति न बिगड़ने पावे। हमारा शरीर इसी भाग की क्रिया से साम्यावस्था (Equilibrium) में रहता है और शरीर का संतुलन उत्तम प्रकार से होता है। शरीर की पेशियों की क्रिया उन संवेगों या सूचनाओं का परिणाम है जो शरीर के भिन्न-भिन्न भागों नेत्र, कर्ण, त्वचा, संधि आदि से मस्तिष्क में पहुँचती हैं। इनके पहुँचने पर जब मस्तिष्क पेशियों को आज्ञायें भेजता है तो वे संकोच करती हैं। इन सूचनाओं तथा आज्ञाओं का इस प्रकार समन्वय करना कि प्रत्येक पेशी समूह उपयुक्त समय पर काम करे जिससे चलने या दौड़ने की क्रिया सुचारु रूप से पूरी हो यही अनुमस्तिष्क का विशिष्ट कर्म है। इस कर्म के विकृत हो जाने से हम ठीक प्रकार से चल नहीं सकते। खड़े नहीं हो सकते। पेशियों की क्रिया का वेग भी हमारे आधीन नहीं रहता। इस दशा को **असहक्रियता** (Asynergia) कहते हैं।

३. मध्यमस्तिष्क (Middle Brain)

चित्र १२६ में अनुमस्तिष्क के सामने की ओर पौन्स भाग दीख रहा है। इससे ऊपर की ओर से एक स्तंभ निकल कर ऊपर प्रमस्तिष्क में जा रहा है। यही **मध्य मस्तिष्क** है। इसमें एक सूक्ष्म नलिका है जिसको **प्रमस्तिष्क कुल्या** (Acqueductus Cerebrii) कहते हैं। यह १५ या १६ मिलीमीटर लम्बी नलिका ऊपर के तृतीय निलय से नीचे को चतुर्थ निलय में चली जाती है। तृतीय निलय पार्श्व निलयों के पिछले सिरे के कुछ नीचे की ओर स्थित है और चतुर्थ निलय अनुमस्तिष्क और पौन्स तथा मेरुशीर्ष के बीच में स्थित है। यह नलिका इन दोनों निलयों को मिलाती है।

इस नलिका के सामने दो स्तंभाकर **ऊर्ध्व** और **अधोवृन्त** (Superior & Inferior Peduncles) हैं जिनका उल्लेख किया जा चुका है। इन वृन्तों के पिछले भाग में एक बड़ा केन्द्रक है जिसको लाल केन्द्रक (Red Nucleus) कहते हैं।

वृन्तों के पश्चिम पृष्ठ पर **चतुष्टय काय** (Corpora Quadrigemina) हैं जिनके चार उत्सेध, दो ऊपर और दो नीचे दाहिनी और बाईं ओर स्थित हैं। इस प्रकार प्रत्येक ओर एक ऊर्ध्व और एक अधःचतुष्टय काय है। ऊर्ध्व उत्सेध में नेत्र के अन्तःपटल या **रेटिना** (Retina) से संवेदनायें पहुँचती हैं। उनके कारण सिर और

नेत्र को घुमाने की जो क्रियायें होती हैं उनका केन्द्र यहीं पर है। अधो उत्सेधिका में कर्ण से संवेदनायें आती हैं जिनके कारण सिर घुमाने की गति होती है। इनका केन्द्र यहाँ पर स्थित है। ये केन्द्र ऊपर की ओर प्रमस्तिष्क और नीचे की ओर मेरुशीर्ष से तथा अन्य भागों से भी तन्तुओं द्वारा सम्बन्धित हैं।

४. पौन्स (Pons)

अनुमस्तिष्क के सामने पौन्स स्थित है। इसके ऊर्ध्व पृष्ठ से वृन्त (Peduncles) निकल कर प्रमस्तिष्क में जा रहे हैं। इनमें होकर अनुमस्तिष्क के एक गोलार्ध के सूत्र दूसरे गोलार्ध में जाते हैं। इस कारण इन सूत्रों की अनुप्रस्थ दिशा है। इस भाग में पाँचवीं, छठी और सातवीं मस्तिष्क से निकलने वाली तन्त्रिकाओं के केन्द्र स्थित हैं जिनसे नाड़ियों के सारे या कुछ तन्तु निकलते हैं।

५. मेरुशीर्ष या मेडुला आबलांगाटा (Medulla Oblongata)

यह पौन्स और मेरुरज्जु के बीच का भाग है जिसकी लम्बाई एक इंच से कुछ अधिक है। इसी के द्वारा पौन्स तथा प्रमस्तिष्क और अनुमस्तिष्क का मेरुरज्जु से सम्बन्ध स्थापित होता है। इसी के द्वारा तन्तु ऊपर से नीचे को तथा नीचे से ऊपर को जाते हैं।
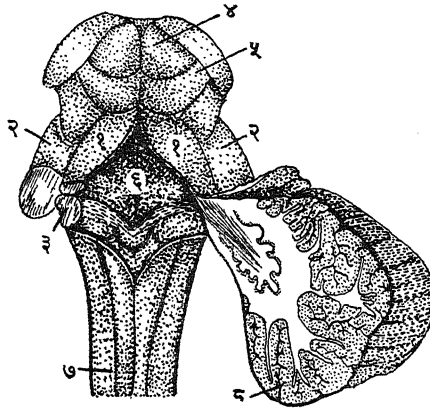
चित्र १२९—वृन्तों के तीन जोड़े (उत्सेधिकाये, चतुर्थ निलय का तल आदि)
[१, २, ३—ऊर्ध्व मध्य तथा अधोवृन्त ४, ५—ऊर्ध्व तथा अधो उत्सेधिका
६—चतुर्थ निलय ऊपर से खोल दिया गया है ७—मेरु-शीर्षक
८—अणुमस्तिष्क जो एक ओर को हटा दिया गया है]

मेरुरज्जु की नलिका यहाँ पर आकर चौड़ी होकर चतुष्कोणी आकार की हो जाती है जिसके दो कोने इधर-उधर तथा एक ऊपर और दूसरा नीचे को रहता है। यह **चतुर्थ**

निलय (Fourth Ventricle) कहलाता है। पीछे की ओर अनुमस्तिष्क ऊपर की ओर पौन्स और पीछे की ओर मेरु शीर्ष के बीच में यह निलय स्थित है। तीसरे निलय से इसमें प्रमस्तिष्क मेरुद्रव आता है और यहाँ से मेरुरज्जु की नलिका में जाता है।

यह अंग बड़े महत्व का है। प्रयोगों से देखा गया है कि जिन जन्तुओं में प्रमस्तिष्क और अनुमस्तिष्क दोनों निकाल दिये गये हैं उनकी मृत्यु नहीं हुई। सोचना, विचारना या चलना आदि सब क्रियायें बन्द हो गईं। किन्तु हृदय चलता रहा, श्वास आता रहा, रक्त परिसंचार भी होता रहा। इस प्रकार जीवन बना रहा।

किन्तु मेरु शीर्ष को नष्ट कर देने से तुरन्त मृत्यु हो जाती है। रक्त संचार आदि क्रियायें तत्काल बन्द हो जाती हैं। यहीं चतुर्थ निलय की पश्च भित्ति में हृदय तथा श्वास के केन्द्र स्थित हैं। श्वास की क्रिया तथा हृदय स्पन्दन की क्रियाओं का नियन्त्रण इन्हीं केन्द्रों से होता है। ये ही रक्त संचार को घटाते तथा बढ़ाते हैं। वाहिका प्रेरक (Vasomotor Centre) केन्द्र भी यहीं स्थित हैं जिससे धमनी शिराओं या केशिकाओं का आकार संकुचित या विस्तृत होता है। वमन (Vomitting) तथा निगलने (Deglutition) के केन्द्र भी यहीं स्थित हैं। आठवीं, नवीं, दसवीं, ग्यारहवीं और बारहवीं कपाली तन्त्रिकाओं के केन्द्र भी यही हैं जिनसे इनके तन्तु निकलते हैं।

अनेक सांवेदनिक तथा संचालक तन्तु मेडुला से होकर ऊपर को जाते हैं या नीचे मेरुरज्जु को आते हैं। उनमें से बहुत से यहाँ एक ओर से दूसरी ओर चले जाते हैं। इस कारण मस्तिष्क की अनेक दुर्घटनाओं में दाहिनी ओर की क्षति से शरीर के वाईं ओर के अंग बेकाम हो जाते हैं और इसी प्रकार कपाल के वाईं ओर के अभिघात से दाहिनी ओर के अंग क्रियाहीन हो जाते हैं। इसको **पक्षाघात** (Paralysis) कहते हैं। कुछ दशाओं में मुख के एक ओर की पेशिओं और दूसरे ओर के अंगों की पेशियों का पक्षाघात होता है।

६. मेरुरज्जु (Spinal Cord

यह लम्बा दंड के समान भाग मेडुला आबलांगाटा के निचले सिरे से प्रारम्भ होती है और कशेरुकाओं के मिलने से कशेरुक दंड में जो नलिका बन गई है उसमें उतरता हुआ ग्रीवा और वक्ष प्रान्तों से निकल कर कटि प्रान्त के प्रथम कशेरुक पर पहुँच कर कई शाखाओं में विभक्त हो जाता है जिससे **मेरु-अन्त्यसूत्र** (Filum Terininal) नामक भाग बन जाता है। यह मेरुरज्जु लगभग १८ इंच लम्बी है। इसकी मोटाई कनिष्ठा अंगुली के समान होती है। इसके दोनों ओर से तन्त्रिकायें निकल कर कशेरुकों के मिलने के स्थान पर उनके पार्श्व में जो अवकाश रह जाता है जिसको **कशेरुकान्तरिक छिद्र** (Intervertebral foramen)

कहते हैं उनके द्वारा निकल कर शरीर के अंगों में चली जाती हैं। मेरुरज्जु के दोनों ओर से ३१ नाड़ियों के जोड़े निकलते हैं। मेरुरज्जु पर तीन आवरण चढ़े हुए हैं जो मस्तिष्क को आच्छादित करते हैं। सबसे भीतर पाया मेटर की जालिका रज्जु पर चिपटी हुई है। इससे रज्जु को रक्त की सम्प्राप्ति होती है। इसके बाहर अरकनाइड कला है। दोनों के बीच में कुछ अन्तर है जिसमें मेरु तरल भरा है। इसके बाहर की ओर डूरामेटर कला का आवरण है। कपाल की भाँति यह कला कशेरुक की अस्थि से चिपटी नहीं रहती। दोनों के बीच में अवकाशी ऊतक का एक हलकासा स्तर रहता है।

मेरुरज्जु की रचना : मस्तिष्क की भाँति मेरुरज्जु भी धूसर और श्वेत द्रव्यों की बनी है। किन्तु यहाँ श्वेत द्रव्य बाहर है और धूसर पदार्थ उसके भीतर H अक्षर के आकार में स्थित है। यह भाग तन्त्रिका कोशिकाओं का बना हुआ है और बाहर के श्वेत द्रव्य में वे तन्तु हैं जो मस्तिष्क से आते हैं या उसको जाते हैं। सामने और पीछे की ओर श्वेत द्रव्य मध्य रेखा में तनिक भीतर की ओर दब गया है जिससे रज्जु दाहिने और बायें दो भागों में विभक्त दीखती है। सामने की ओर दोनों भागों के बीच का अन्तर गहरा है। यह **पूर्वसंयोजिका** (Anterior Commissure) कहलाता है।

धूसर द्रव्य के सामने तथा पीछे की ओर को दो प्रवर्धित भाग हैं। सामने के पूर्व शृंग (Anterior Horn) कहलाते हैं और पीछे के पश्चिम शृंग (Posterior Horn)।
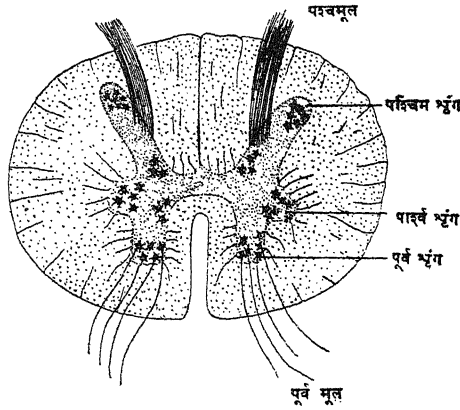
चित्र १३०—मेरुरज्जु का व्यत्यस्त काट

इन दोनों बड़े-बड़े शृंगों के बीच में वक्ष प्रान्त में एक छोटा शृंग और होता है जो पार्श्व शृंग (Lateral Horn) कहलाता है। इन शृंगों में स्थित कोशिकाओं से तन्तु निकल कर तन्त्रिका में जाते हैं और तन्त्रिकाओं से इनमें आते हैं। पश्चिम शृंगों की कोशिकाओं में सांवेदनिक तन्त्रिकाओं के तन्तु आते हैं। पूर्व की कोशिकाओं से प्रेरक

(Motor) तन्तु निकलते हैं जो तन्त्रिका में होते हुए पेशियों में मस्तिष्क या मेरुरज्जु में उत्पन्न हुए संवेगों को पहुँचाते हैं और इस प्रकार शरीर का संचालन करते हैं।

मेरुरज्जु की तन्त्रिकाओं के मूल : प्रत्येक तन्त्रिका दो मूलों से निकलती है जो **पूर्व मूल** (Anterior Root) और **पश्च मूल** (Posterior Root) कहलाती
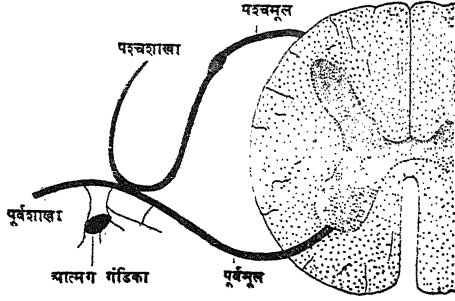
चित्र १३१—मेरुतंत्रिकाओं की रचना और उनका वितरण

है। पूर्व मूल में धूसर द्रव्य के पूर्व शृंग में स्थित कोशिकाओं से तन्तु आते हैं। ये प्रेरक या अपवाही तन्तु होते हैं। पूर्व मूलों को प्रेरक मूल भी कहा जाता है । पश्च मूल में पश्चिम शृंग से सांवेदनिक या अभिवाही (Sensory or Efferent) तन्तु आते हैं। शरीर के भिन्न-भिन्न भागों से आने वाले संवेग या सूचनायें इन्हीं तन्तुओं द्वारा पश्चिम शृंगों की कोशिकाओं में आती हैं। पश्चिम मूल में एक और विशेषता है जिससे उनको सहज में पहिचाना जा सकता है। मेरुरज्जु से निकलने के पश्चात् ही उस पर एक छोटी गाँठ सी बन जाती है जो **गंडिका** (Ganglion) कहलाती है। गंडिका से तन्तु निकल कर पूर्व मूल के तन्तुओं के साथ मिल जाते हैं और दोनों मूलों के तन्तुओं के मिलने से तन्त्रिका बन जाती है। इस प्रकार तन्त्रिका में संचालक और सांवेदनिक दोनों प्रकार के तन्तु होते ह । प्रत्येक मेरुरज्जु तन्त्रिका में दोनों प्रकार के तन्तु रहते हैं। पूर्व मूल प्रेरक होती है, पश्चिम मूल सांवेदनिक ।

मेरुरज्जु के भीतर कुछ ऐसे भी तन्तु होते हैं जो पश्चिम शृंग से पूर्व शृङ्ग में जाते हैं, और शृंगों का आपस में सम्बन्ध स्थापित करते हैं। ये **संयोजी तन्तु** (Communicating Fibres) कहलाते हैं। इनके द्वारा उत्तेजना पश्चिम शृंग कोशिकाओं से पूर्व शृंग कोशिकाओं में जा सकती हैं। इन कोशिकाओं से तन्तु सीधे ऊपर मस्तिष्क को भी चले जाते हैं।

मेरुरज्जु का कर्म : (१) मेरुरज्जु विशेषतया तन्तुओं का मोटा बंडल है जिसके द्वारा संवेग अथवा उत्तेजनायें या उद्दीपनायें (Impulse, Stimuli) मस्तिष्क से शरीर के अंगों को आती हैं तथा त्वचा, सन्धि, नेत्र आदि अनेक अंगों से मस्तिष्क में पहुँचती हैं। मेरुरज्जु

में होकर ही वे तार आते-जाते हैं जिनके द्वारा सूचनाओं का आना-जाना होता है। यदि ये रज्जु कहीं पर काट दी जायँ तो सूचनाओं का आना-जाना बन्द हो जायगा। अतएव मेरुरज्जु का प्रथम कर्म **संवहन व चालन** (Conduction) है।

(२) मेरुरज्जु में कोशिकायें भी स्थित हैं। इनका काम स्वयं संवेग को उत्पन्न करना या संवेग को ग्रहण करना है। शरीर में अनेक क्रियायें इस प्रकार की होती हैं कि संवेग किसी अंग से पश्च शृंग कोशिकाओं में आता है। वहाँ से मस्तिष्क को न जाकर संयोजी तन्तु द्वारा पूर्व शृंग की कोशिका में चला जाता है और पूर्व शृंग कोशिका से प्रेरक आज्ञा चली जाती है। ये **प्रतिवर्त्त क्रिया** (Reflex Action) कहलाती है। इसमें समय कम लगता है, मस्तिष्क को जाने का लम्बा मार्ग बच जाता है। ऐसी क्रियाओं का मेरुरज्जु केन्द्र है। इस प्रकार की सहस्रों क्रियाएँ होती रहती हैं। इन क्रियाओं में त्वचा या अंग में संवेग उत्पन्न होता है। वास्तव में वह संवेग को ग्रहण करता है। त्वचा पर एक कीड़ा काट लेता है। वहाँ पर त्वचा में जो तन्त्रिका के तन्तु फैले हुए हैं वे कीड़े के काटने से उत्पन्न हुए संवेग को ग्रहण करते हैं। ये अन्तिम तन्तु **संग्राहक अंग** (Receptor Organs) कहलाते हैं। कुछ स्थानों में इनका विशेष आकार होता है। यहाँ से संवेग सांवेदनिक तन्तु द्वारा मेरुरज्जु की पश्च शृंग की कोशिकाओं या केन्द्र में पहुँचता है और वहाँ से पूर्व शृंग में पहुँच कर संचालक तन्तुओं या तन्त्रिकाओं में होता हुआ अंग में पहुँच जाता है जो क्रिया करने लगता है। यह **प्रेरणाचालक अंग** (Effector Organ) कहलाता है। इस प्रकार प्रतिवर्त्त क्रिया में पाँच भाग काम करते हैं, संग्राहक अंग, उसका तन्तु, केन्द्र तथा प्रेरणाचालक अंग और उसमें आने वाला तन्तु। इसी को परावर्त्त चाप कहते हैं। साधारण क्रियायें भी संग्राहक अंग, केन्द्र और प्रेरणा चालक अंग के द्वारा होती हैं।

मेरुरज्जु में ऐसी कितनी ही क्रियाओं के केन्द्र हैं जो स्वयं (प्रतिवर्त्त) होती रहती हैं। मूत्र त्याग, मल त्याग, प्रसव, रक्त संचालन, स्वेदोत्पादन आदि सब ऐसी ही क्रियाएँ हैं। श्वसन स्वयं एक परावर्त्त क्रिया है।

६. तंत्रिकाएँ (Nerves)

शरीर में तन्त्रिकाओं और उनकी शाखाओं का जाल फैला हुआ है। प्रत्येक अंग के कर्मों का नाड़ियों द्वारा नियन्त्रण होता है। कर्म को घटाना-बढ़ाना, शरीर को चलाना, हाथों-पाँवों को ऊपर-नीचे, सामने को ले जाना इन सब कर्मों को करने की उत्तेजनायें मस्तिष्क या केन्द्रों में उत्पन्न होकर तन्त्रिकाओं के द्वारा अंगों में पहुँचती हैं और उन्हीं के द्वारा चर्म, नेत्र, कान, नासिका, संधियों तथा अन्य अंगों की उत्तेजनायें मस्तिष्क तथा केन्द्रों में जाती हैं। ये तन्त्रिकायें तारों के समान हैं। कोशिका समूह या केन्द्र तारघरों के तुल्य हैं। तारघरों से भेजी हुई सूचनायें तारों में होती

हुई दूसरे तारघरों में पहुँचती हैं। इसी प्रकार केन्द्रों की उत्तेजनायें इन तन्त्रिकाओं द्वारा शरीर के एक भाग से दूसरे भाग में पहुँचती हैं।

शरीर के व्यवच्छेदन (Dissection) करने पर तन्त्रिकायें श्वेत रंग की चमकती हुई अत्यन्त दृढ़ किन्तु चिकनी और कोमल रज्जु के समान दीखती हैं। प्रत्येक तन्त्रिका में अनेक तन्तु होते हैं। जितनी बड़ी तन्त्रिका होती है उसमें उतने ही तन्तु अधिक होते हैं। तन्त्रिका को लम्बाई की ओर से चीरने से ये तन्तु वैसे ही पृथक् हो जाते हैं जैसे तागों के बंडल में से तागे अलग हो जाते हैं।

तन्त्रिकायें दो प्रकार की होती हैं। एक **संवेदी** (Sensory) और दूसरी **प्रेरक** । (Motor)। संवेदी तन्त्रिका संवेदन की वाहक है। ये स्पर्श, ताप, आघात, पीड़ा आदि की संवेदना मस्तिष्क या केन्द्र में पहुँचाती हैं। चर्म में इनकी अत्यन्त सूक्ष्म शाखायें फैली हुई हैं। कोई स्थान नहीं जहाँ वे न हों। इसी कारण शरीर पर कहीं भी मक्खी या मच्छर के बैठते ही तुरन्त मालूम हो जाता है।

प्रेरक तन्त्रिका द्वारा मस्तिष्क या केन्द्र से उत्तेजना पेशी में पहुँच कर उससे संकोच करवाती है जिससे कर्म का सम्पादन होता है। ये तन्त्रिकायें मस्तिष्क या मेरुरज्जु से बाहर को जाती हैं। सांवेदनिक बाहर से मस्तिष्क को जाती हैं। सांवेदनिक तन्त्रिका या **तन्तु संग्राहक** (Receptor Cell) कोशिका से प्रारम्भ होते हैं। प्रेरक तन्तु **प्रेरणाचालक कोशिका** (Effector Cell) में अन्त होते हैं।
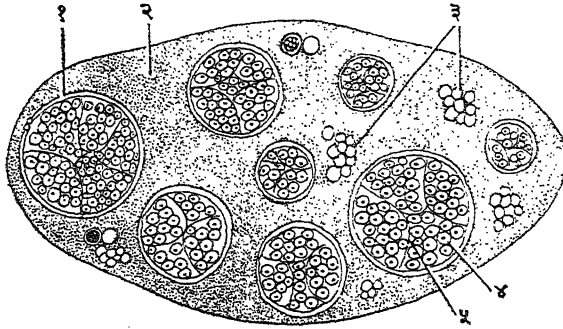
चित्र १३२—तंत्रिका का अनुप्रस्थ काट
[१—तन्तु के गुच्छे पर काट आवरण २—तंत्रिका आवरण ३—वसा के कण ४, ५—प्रत्येक तन्तु पर का आवरण]

तन्त्रिका की सूक्ष्म रचना जानने के लिए किसी तन्त्रिका को लम्बाई और चौड़ाई की ओर से अत्यन्त सूक्ष्म काट या अणुभाग काट अणुदर्शी यन्त्र द्वारा देखना चाहिये। तीव्र उस्तरे से इस प्रकार के जन्तुओं या वनस्पतियों के काट बनाये जाते हैं जिनको रंगने के पश्चात् उनकी अणुदर्शी द्वारा परीक्षा की जाती है। इन काटों को

अनुदैर्घ्य (Longitudinal) और अनुप्रस्थ काट (Transverse Section) कहते हैं।

अनुप्रस्थ काट : चौड़ाई की ओर की काट का चित्र यहाँ दिखाया गया है। कितने ही तन्तु मिलकर गुच्छे बन गये हैं। प्रत्येक तन्तु पर एक आवरण चढ़ा हुआ है। फिर तन्तुओं का प्रत्येक गुच्छा एक आवरण से ढका हुआ है। कितने ही गुच्छे मिल कर एक तन्त्रिका बनाये हुए हैं। तन्त्रिका पर फिर एक आवरण चढ़ा हुआ है। इस रचना से स्पष्ट है कि तन्त्रिका बहुत-से तन्तुओं का बंडल मात्र है।

अनुदैर्घ्य काट : लम्बाई की ओर से काटने से बीच में एक अक्ष सिलिंडर (Axis Cylinder) दीख रहा है जो तन्त्रिका के एक सिरे से दूसरे तक निरन्तर चला जाता है। इसके बाहर एक मोटा पिधान है जिसको **माइलिन पिधान** (Medullary Sheath) कहते हैं। यह पिधान निरन्तर नहीं है। थोड़े थोड़े अन्तर पर यह पिधान समाप्त हो जाता है। तब फिर दूसरा पिधान प्रारम्भ होता है। यह पिधानयुक्त भाग **पर्व** (Node) कहलाता है। दो पिधानों का अन्तर-स्थान जहाँ पिधान नहीं है **अन्तर्पर्व** (Internode) कहा जाता है। यह पिधान एक वसामय ऊतक का बना होता है। यदि तन्त्रिका को जिधर से वह कोशिकाओं से आ रही है उस ओर काट दिया जाय तो इस पिधान की मायलीन (Myelin) नामक वस्तु की बूँदें बन जाती हैं। इस पिधान
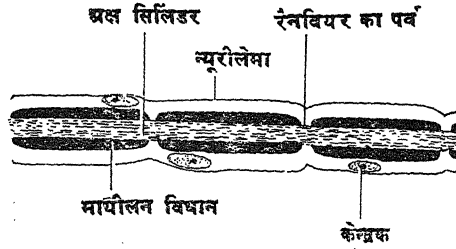
चित्र १३३—तंत्रिका का अनुदैर्घ्य काट

के बाहर की ओर एक पतला आवरण है जो प्रत्येक तन्तु पर चढ़ा रहता है। इसको **न्यूरीलैमा** (Neurilemma) कहा जाता है। इसके नीचे जहाँ-तहाँ केन्द्रक दिखाई देते हैं।

८. तन्त्रिका कोषिकाएँ (Nerve Cells)

सारा तन्त्रिका मंडल तन्त्रिका कोषों और तन्तुओं का बना हुआ है जिनके गुच्छों को तन्त्रिका कहते हैं। तन्त्रिका कोशिका इस मंडल की अत्यन्त विशिष्ट अवयव हैं। इनका काम उत्तेजनाओं को ग्रहण करना और उनको भेजना है। इनकी रचना भी इसी के अनुकूल है। चित्र में एक कोशिका दिखाई गई है। बीच में केन्द्रक (Nucleus) है। उसके चारों ओर कणयुक्त जीवद्रव्य हैं जिसके कण निसिल (Nissl's Granules) कण कहलाते

हैं। कोशिका के ऊपर की ओर से कई शाखायें निकल रही हैं जो फिर अनुशाखाओं में विभक्त हो जाती हैं। ये **दन्द्रोन या अभिवाही प्रवर्ध** (Afferent) कहलाते हैं। इनमें होकर उत्तेजना कोशिका के गात्र में आती है। कोशिका के गात्र (Body) के दूसरी ओर से एक शाखा निकल रही है। यह एक्सन (Axon) कहलाता है। इससे शाखायें नहीं निकलतीं। आगे चल कर उस पर माइलिन पिधान और न्यूरीलेमा चढ़ जाते हैं और वह तन्त्रिका तन्तु का अक्ष सिलिंडर बन जाता है। इस एक्सन के द्वारा कोशिका की उत्तेजना तन्त्रिका में चली जाती है।

दन्द्रोन, कोशिका गात्र और उससे निकलनेवाला एक्सन ये तीनों तन्त्रिका मंडल की इकाई हैं जो उसके कर्म का सम्पादन करती हैं। दन्द्रोन में होकर संवेग कोशिका के भीतर आता है। कोशिका इसको वैसा ही या परिवर्तित करके एक्सन द्वारा
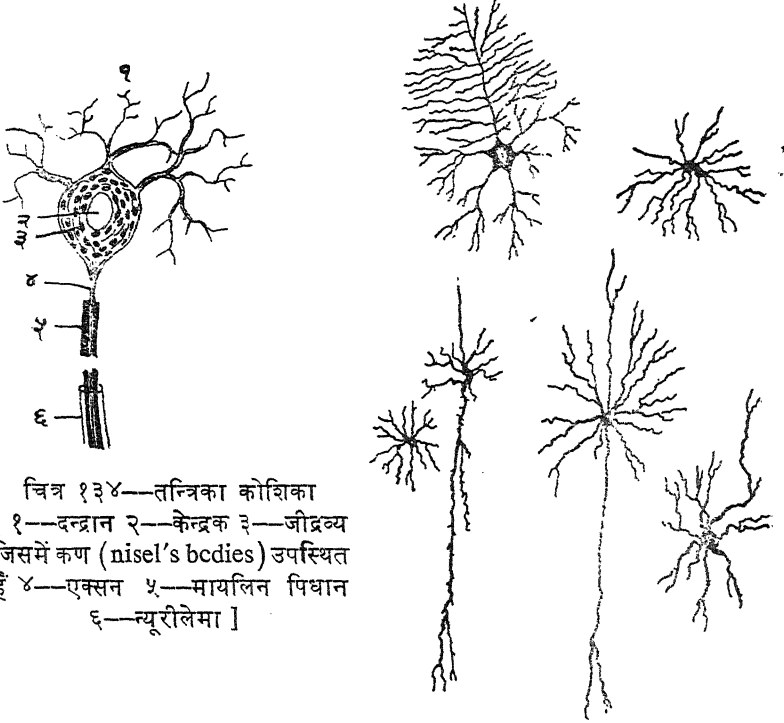
चित्र १३४—तन्त्रिका कोशिका
[१—दन्द्रान २—केन्द्रक ३—जीद्रव्य जिसमें कण (nisel's bcdies) उपस्थित हैं ४—एक्सन ५—मायलिन पिधान ६—न्यूरीलेमा]

चित्र १३५—भिन्न-भिन्न आकार की कोशिकाएँ

भेज देती है जो तन्त्रिका में होता हुआ अंग तक पहुँच कर शाखाओं में विभक्त होकर अंग में फैल जाता है और उससे कर्म करवाता है या उसकी शाखायें दूसरी

कोशिका के दन्द्रोनों के पास फैल जाती हैं; जिनके द्वारा संवेग कोशिका में पहुँचता है। इस इकाई को **न्यूरोन** (Neuron) कहते हैं।

एक कोशिका के अक्ष की अन्तिम सूक्ष्म शाखा अर्थात् उसके एक्सन दूसरी कोशिका के दन्द्रोनों के सम्पर्क में रहते हैं। किन्तु उनसे मिल नहीं जाते। वे सन्निहित (Contiguous) रहते हैं। किन्तु वे संतत (Continous) नहीं होते। जिस प्रकार पास के दो वृक्षों की शाखायें सन्निकट होती हैं किन्तु संयुक्त नहीं। संवेग एक्सन की शाखाओं से दन्द्रोन में दोनों के अन्तर को लाँघ कर चले जाते हैं। जहाँ एक्सन और दंद्रोनों का सम्मेलन होता है वह **अन्तर्ग्रन्थि** (Synapse) कहा जाता है। संवेग में यह शक्ति होती है कि वह एक्सन की शाखाओं से अन्तर्ग्रन्थि को पार करके दूसरी कोशिका के दन्द्रोनों में पहुँच जाता है।
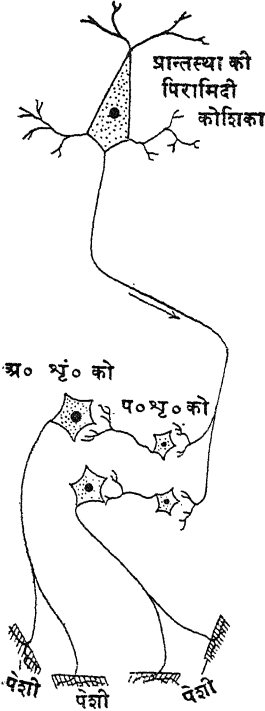
चित्र १३६—संवेग मार्ग
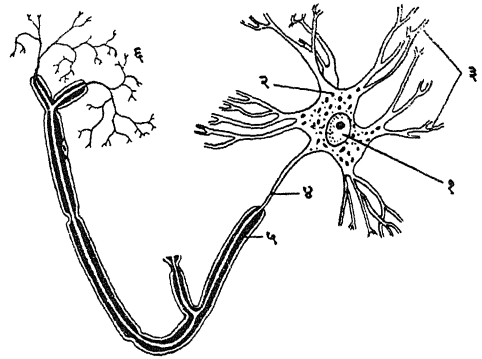
चित्र १३७—एक सम्पूर्ण न्यूसेन
[१—तंत्रिका कोशिका २—कोशिका के भीतर निमिल कण ३—दन्द्रोन ४—एक्सन जिसपर आगे चलकर मायलिन पिधान चढ़ जाता है ५—मायलिन पिधान ६—अक्ष के अन्तिम तन्तु जो अन्य कोशिका के दन्द्रोनों के सन्तिहित हो जाते हैं]

संवेग का मार्ग : गत पृष्ठों में वर्णन किये हुए तन्त्रिका के भिन्न-भिन्न भागों की रचना और उनके कर्म का अध्ययन करने के पश्चात् हम संवेगों या उत्तेजनाओं के आने-जाने के

मार्ग को सहज में समझ सकते हैं। किस प्रकार मस्तिष्क के प्रान्तस्था की कोशिका में उत्पन्न हुआ संवेग छः फुट दूरी पर स्थित पाँव की अंगुली की पेशियों का संचालन कर सकता है
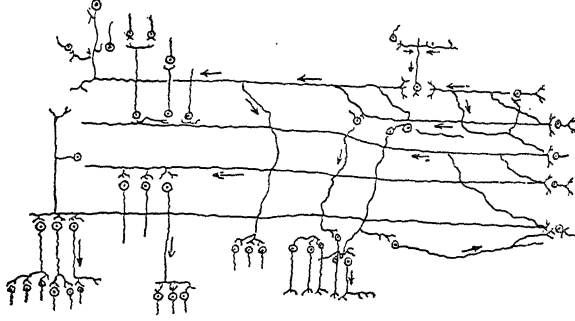
चित्र १३८--इस प्रकार कुछ ही कोशिकाओं का बहुत-सी कोशिकाओं से सम्बन्ध हो जाता है

या वहाँ पर कीड़े के काटने की सूचना मस्तिष्क के सांवेदनिक क्षेत्र में तत्काल पहुँचा सकता है। यह चित्रों से सहज में समझा जा सकता है। चित्र १३६ में संचालक संवेग का मार्ग दिखाया गया है। प्रमस्तिष्क के धूसर भाग की कोशिका में उत्पन्न हुआ संवेग कोशिका से उसके एक्सन द्वारा निकलता है। यही एक्सन तन्त्रिका का अक्ष-दंड बन कर तन्त्रिका द्वारा मेरुरज्जु के पश्चिम शृंग की कोशिकाओं के पास पहुँच कर उनके दन्द्रोनों के पास शाखानुशाखाओं में विभक्त हो जाता है। यहाँ से एक नया न्यूरोन आरम्भ होता है जिसके दन्द्रोनों में होकर संवेग कोशिका के गात्र से निकल कर उसके एक्सन द्वारा पूर्व शृंग की कोशिकाओं में पहुँचता है। यहाँ अग्र शृंग से तीसरा न्यूरोन काम करता है। उसके दन्द्रोन और कोशिका तो पूर्व शृंग ही में हैं किन्तु एक्सन वहाँ से निकल कर तन्त्रिका में होता हुआ अंग की पेशी में पहुँच जाता है जिसके तन्तुओं में उसका वितरण होता है और उसके द्वारा आये हुए संवेग से उनमें संकोच होता हैं। चित्र में इस मार्ग को दिखाया गया है। सांवेदनिक संवेग का मार्ग प्रेरक की अपेक्षा अधिक घुमावदार है। उसमें अधिक स्टेशन पड़ते हैं जहाँ संवेग को कई बार अपना मार्ग बदलना पड़ता है।

परावर्त्त क्रिया (Reflex Action) : सुषुम्ना के सम्बन्ध में प्रतिवर्त्त क्रिया का उल्लेख किया जा चुका है। सारी मेरुरज्जु प्रतिवर्त क्रियाओं का केन्द्र है। प्रतिवर्त क्रिया में संवेग तथा प्रतिवर्तचाप त्वचा या अंग से मेरुरज्जु के पश्चिम शृंग कोशिका में पहुँच कर वहाँ से संयोजक न्यूरोन द्वारा पूर्व शृंग कोशिका में और वहाँ से प्रेरक तन्तु में होकर मांस पेशी में चला जाता है जिससे पेशी की क्रिया होने लगती है। यही परावर्त चाप (Reflex Arc) कही जाती है। शरीर में प्रति क्षण अनेक परावर्त क्रियायें होती रहती हैं। मल त्याग मूत्र त्याग आदि परावर्त क्रियायें हैं।

श्वास कर्म, रक्त परिसंचरण आदि भी परावर्त क्रिया हैं। यद्यपि इन क्रियाओं का केन्द्र मेरुशीर्ष में है किन्तु उनके गौण या उपकेन्द्र मेरुरज्जु के वक्षीय भाग के धूसर द्रव्य में
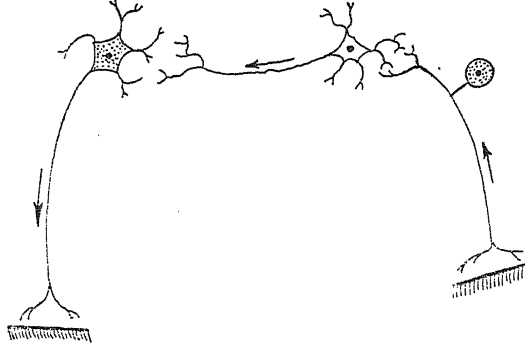
चित्र १३९—परावर्त्त चाप तथा क्रिया

स्थित हैं जिससे ये कर्म परावर्त क्रियाओं की भाँति होते रहते हैं। हमारा चलना, फिरना दौड़ना ये सब परावर्त क्रियायें हैं। हम एक बार विचार कर लेते हैं कि हमको अमुक स्थान को जाना है। बस हमारे जंघा आदि की पेशियाँ पाँवों को उधर ही को ले चलती हैं। हमको इन क्रियाओं को करने का ध्यान भी नहीं रहता। शरीर की पेशियों का स्वयं ही संचालन होता रहता है और हम कुछ और विचार करते या मित्रों से बातचीत करते हुए अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाते हैं। वहाँ पहुँचने तक जो शरीर में पेशियों की सहस्रों क्रियायें हुईं वे सब प्रतिवर्त्त क्रियायें थीं।

९. आत्मग तन्त्रिका तन्त्र (Autonomous Nervous System)

गत पृष्ठों में तन्त्रिका तन्त्र का पूर्ण वर्णन किया गया है। यह **प्रमस्तिष्क-मेरु तन्त्रिका तन्त्र** (Cerebrospinal Nervous System) था। इसके अतिरिक्त एक और भी तन्त्र है जो **आत्मग तन्त्रिका तन्त्र** कहलाता है। यद्यपि उसके तन्तु मस्तिष्क और मेरु-रज्जु से निकलते हैं, किन्तु उनकी क्रिया मस्तिष्क आदि से पूर्णतया स्वतन्त्र है। वह स्वयं ही अपनी उत्तेजनायें उत्पन्न करता है और अपने ही तन्तुओं द्वारा अंगों में भेजता है। इसकी क्रिया स्वयं अपने आप ही होती रहती है। इसका सम्बन्ध शरीर के सब अभ्यन्तरांगों (Internal Organs, Viscera) से है। हृदय, आमाशय, क्षुद्र-आन्त्र, वृहदान्त्र, मूत्राशय, गर्भाशय आदि सभी का नियन्त्रण इस तन्त्र की तन्त्रिकाओं द्वारा होता है। इन तन्त्रिकाओं के तन्तु अभ्यन्तरांगों में इतने विस्तृत हैं कि उनके समूह को एक पृथक् तन्त्र ही मान लिया गया है और मस्तिष्क आदि से पूर्णतया स्वतन्त्र होने के कारण उसको आत्मग कहा गया है। इसके तन्तुओं की **जालिकायें** (Plexuo) प्रत्येक अभ्यन्तरांग को घेरे हुए हैं।

आत्मग तन्त्र में फिर दो भाग हैं जिनकी क्रिया एक दूसरे के विपरीत है। इनको **अनुकम्पी** तथा **परानुकम्पी** कहते हैं। एक अंग की क्रिया को बढ़ाता है तो दूसरा कम करता है। प्रत्येक अंग की जालिकाओं में दोनों भाग के तन्तु आते हैं। मस्तिष्क से निकलने वाली दसवीं तन्त्रिका जिसको वागस (Vagus) कहते हैं हृदय की क्रिया को घटाती है। यदि उसको काट दिया जाय तो हृदय की गति बढ़ जायेगी। इस तन्त्रिका द्वारा वे तन्तु हृदय में आते हैं जिनको **अनुकम्पी** कहा जाता है। वे हृदय की गति को रोकते हैं। दूसरे प्रकार के अनुकम्पी तन्तु हृदय की गति को बढ़ाते हैं।

अनुकम्पी तन्त्र (Sympathetic Nervous System) : वक्ष और उदर को खोल कर देखने से कशेरुकादंड के दोनों ओर श्वेत रंग की सूक्ष्म ग्रन्थिकाओं की एक शृंखला दिखाई देती है जो कपाल के नीचे ग्रीवा में प्रारम्भ होकर नीचे की ओर कटि प्रान्त में त्रिकास्थि के अन्त तक चली गई है। ये सूक्ष्म ग्रन्थियाँ **गंडिकायें** (Ganglion) कहलाती हैं। २२ गंडिकाओं की शृंखला जो आपस में लम्बे तन्तुओं से जुड़ी हुई हैं पृष्ठवंश के दोनों ओर स्थित हैं। इन गंडिकाओं में एक ओर मेरुरज्जु के प्रथम वक्षीय खंड से लेकर नीचे की ओर तृतीय कटि खंड तक से तन्तु आते हैं। प्रत्येक गंडिका में एक तन्तु आता है। यह **पूर्वगंडिक तन्तु** (Preganglionic Fibre) कहलाता है। दूसरा तन्तु गंडिका से निकल कर अंग में अपने निर्दिष्ट स्थान तक चला जाता है। इसको **पश्च गंडिक** (Postganglionic) तन्तु कहते हैं। यह अंग में पहुँच कर दूसरे भाग की तन्त्रिकाओं के साथ जालक बनाता है।

कशेरुकाओं के पार्श्व में जैसी गंडिकायें हैं, जो पार्श्व कशेरुकी गंडिका (Lateral vertebral ganglion) कहलाती हैं, उसी प्रकार की किन्तु उनसे बड़ी गंडिकायें कशेरुकाओं के पूर्व पृष्ठ पर स्थित हैं। उनमें पार्श्व गंडिकाओं तथा मेरुरज्जु से भी तन्तु आते हैं और जालक बनाते हैं जो कशेरुकों के पूर्व पृष्ठ पर फैले हुए हैं।

इस तन्त्र की क्रिया या उत्तेजना से नेत्र के तारे (Pupil) का प्रसार होता है, त्वचा में रोमहर्ष होता है, स्वेद अधिक बनता है, हृदय की गति बढ़ती है, रक्त दाब बढ़ जाती है, परिमंडली धमनियाँ (Coronary Artery) का प्रसार होता है, श्वास नलिकाओं का भी प्रसार होता है, आन्त्र की क्रिया कम हो जाती है और मूत्रमार्ग संवरणी (Sphincter Urethrae) का संकोच होता है यद्यपि मूत्राशय की भित्तियाँ ढीली पड़ जाती हैं। थाइराइड (Thyroid) या अवटुकी ग्रन्थि के स्राव पर भी इसका नियन्त्रण है। **ऐड्रिनेलिन** (Adrenalin) नामक वस्तु का इन्जेक्शन भी इन दशाओं को उत्पन्न करता है।

परानुकम्पी तन्त्र (Parasympathetic System) : इसमें दो भाग होते हैं, एक ऊर्ध्व या कपालीय भाग (Cranial Flow) और दूसरा अधो या कटि भाग

(Sacral Flow)। ऊर्ध्व भाग के पूरोगंडकी तन्तु मध्य मस्तिष्क और मैड्ुला आबलांगाटा में स्थित कोशिका समूह या केन्द्रों से निकलते हैं। अधो भाग के तन्तु-त्रिक प्रान्त में स्थित मेरुरज्जु के तीसरे, चौथे और पाँचवें खंडों से आते हैं। ये पूर्वगंडकी तन्तु प्रायः अंग के पास स्थित गंडिका (Ganglion) में समाप्त होते हैं और वहाँ से गंडकोत्तरी सूत्र अंग में जाता है। वक्ष और उदर में पुरोगंडकी तन्तु अंग में या अंग के पास किसी जालिका में समाप्त होता है और वहाँ से गंडकोत्तरी तन्तु अन्तिम निर्दिष्ट स्थान तक जाता है।

इस तन्त्र के तन्तु कपाली या मेरुरज्जु की तन्त्रिकाओं में होकर जाते हैं। तीसरी, सातवीं, नवीं और दसवीं कपाली तन्त्रिकाओं में और दूसरी, तीसरी और चौथी मेरुतन्त्रिकाओं के पूर्व मूलों में ये तन्तु मिले रहते हैं।

तन्त्र के ऊर्ध्व भाग के तन्तुओं को उत्तेजित करने से नेत्र का तारा संकोच करता है, कर्णमूल, जिह्वाधर और अधोहन्वीय ग्रन्थियों में स्राव बढ़ता है, हृदय की गति कम होती है, श्वास नलिकाओं का संकोच होता है, आमाशय और आन्त्र तथा अग्न्याशय से अधिक स्राव बनता है, हृद्धमनियों का संकोच होता है। त्रिक से निकलने वाले अधोभाग के उत्तेजन से मलाशय, गुदा तथा मूत्राशय का संकोच बढ़ता है। किन्तु मैथुनेन्द्रियों का प्रसार होता है। एसिटिल कोलीन नामक रासायनिक पदार्थ के इन्जेक्सन से भी ये ही प्रभाव होते हैं।

ऐड्रिनेलिन, एसिटिलकोलीन (Adrenaline, Acetylcholine) **संवेग** के समय तन्त्रिकाओं के **अंतांगों** (Nerve Endings) में कुछ रासायनिक पदार्थ बन जाते हैं। इनमें विशेष पदार्थ एसिटिलकोलीन और ऐड्रिनेलिन हैं। सहानुकम्पी तन्तुओं के अन्तिम स्थलों में ये पदार्थ उत्पन्न होते हैं। अनुकम्पी तन्तु भी, विशेषकर जहाँ वे पेशियों के तन्तुओं में प्रविष्ट कर अन्त होते हैं वहाँ इन पदार्थों को बनाते हैं। पेशियों के तन्तुओं के संकोच का इन्हीं को कारण माना जाता है। एक्सन के अन्तिम भागों से दन्द्रोन में जो संवेग जाता है उसका कारण एसिटिलकोलीन होता है।

ऐड्रिनेलिन अधिवृक्क ग्रन्थियों में बनती है। यह बड़े महत्व का रासायनिक पदार्थ है। अनुकम्पी तन्त्र की जो क्रियायें हैं वे ऐड्रिनेलिन के इन्जेक्शन से उत्पन्न हो जाती हैं। ऐड्रिनेलिन शरीर को आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त कर्म करने के लिए तैयार रखती है। किसी व्यक्ति पर अकस्मात् आक्रमण करने के समय शरीर जो उसका प्रतिरोध करने के लिए तुरन्त तैयार हो जाता है वह शक्ति ऐड्रिनेलिन ही उत्पन्न करती है। अनुकम्पी तन्त्र की उत्तेजना से अधिवृक्कों में अधिक ऐड्रिनेलिन बनने लगती है और ऐड्रिनेलिन की क्रिया से रक्त संचार बढ़ जाता है, हृदय की गति भी बढ़ जाती है, पेशी तन जाती है, मुख लाल हो जाता है, त्वचा में रोमहर्ष हो जाता है और सारा शरीर क्रिया करने को उद्यत हो जाता है। अनुकम्पी तन्त्र का ऐड्रिनेलिन की उत्पत्ति से विशेष सम्बन्ध है।

दसवाँ परिच्छेद

विशेष ज्ञानेन्द्रियाँ

मनुष्य के शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं : नेत्र, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वचा, जिनके द्वारा वह बाह्य जगत का ज्ञान प्राप्त करता है। नेत्रों द्वारा देखता है, कर्ण द्वारा सुनता है, नासिका द्वारा उसको गन्ध का अनुभव होता है, जिह्वा द्वारा वह स्वाद प्रतीत करता है और त्वचा द्वारा ठंडे, गरम, अति तप्त, पीड़ा, स्पर्श आदि का अनुभव करता है। इन अंगों द्वारा जो कुछ अनुभव होता है, जो सूचनायें या उत्तेजनायें मस्तिष्क को मिलती हैं उन्हीं के अनुसार शरीर की क्रियायें होती हैं। अंगों के कर्म कुछ सीमा तक उन्हीं पर निर्भर करते हैं।

इन ज्ञानेद्रियों का यहाँ संक्षेप से वर्णन किया जाता है। त्वचा का वर्णन गत पृष्ठों में किया जा चुका है।

नेत्र (Eye)

हमारे आनन या चेहरे में नाक के दोनों ओर गहरी गुहाओं में, जिनको **नेत्र गुहा** (Orbit) कहते हैं, दो **नेत्र गोलक** (Eye-balls) स्थित हैं। प्रत्येक नेत्र गोलक की रचना
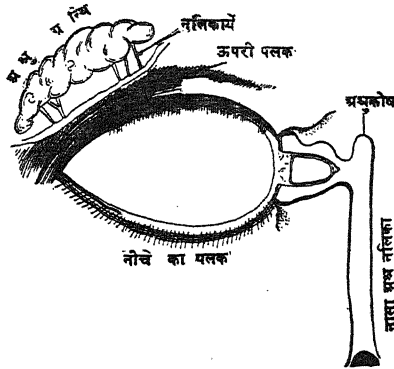
चित्र १४०—अश्रुयंत्र

फोटोग्राफ़ी के एक कैमरे की भाँति है जिसका काम चित्र खींचने का है। जो वस्तु नेत्र के सामने आ जाती है उसका नेत्र के भीतर एक फोटो खिच जाता है। कैमरे की भाँति नेत्र के पिछले भाग में भी एक प्लेट होती है जिसको दृष्टि पटल या रैटिना (Retina) कहते हैं। इसी पर फोटो खिच जाती है। उसको समझना मस्तिष्क का काम है। इसी को

हम देखना कहते हैं। वास्तव में यह कर्म मस्तिष्क का है। नेत्र में तो केवल फोटो खिंचता है। इससे आगे का जितना कर्म है वह सब मस्तिष्क करता है। यदि मस्तिष्क का वह भाग जिसमें नेत्र से सूचनायें जाती हैं और दृष्टि केन्द्र (Visual Centre) कहलाता है नष्ट कर दिया जाय या दृष्टि तन्त्रिकायें जिनके द्वारा उस भाग तक सूचनायें पहुँचती हैं उनको काट दिया जाय या उनमें कोई सांघातिक विकार उत्पन्न हो जाय तो हमको दीखना बन्द हो जायगा। हमारी दृष्टि (Vision) जाती रहेगी। नेत्र गोलक के सामने ऊपर और नीचे नेत्रच्छद या पलक (Eye-lid) हैं जो नेत्र की रक्षा करते हैं। ऊपरी पलक के ऊपर **नेत्र-भ्रू** (Eye-brow) हैं। नेत्र गुहा के ऊपरी और बाहर के कोने में **अश्रु-ग्रन्थि** (Lachrymal Gland) स्थित है जिसमें अश्रु बन कर सदा नेत्र गोलक पर बहते रहते हैं।

चित्र में एक गोलक को काट कर दिखाया गया है। वह ऐसा दीखता है जैसे दो असमान गेंदों को काट कर उनके कटे भागों को जोड़ दिया गया हो। पिछला भाग बड़ी गेंद के बड़े टुकड़े के समान है और अगला भाग छोटी गेंद के छोटे भाग
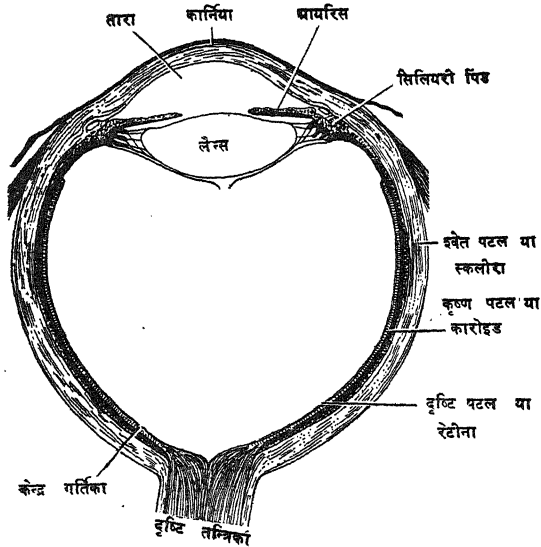
चित्र १४१—नेत्र गोलक की रचना

के सामान और उसको बड़ी गेंद के बड़े भाग पर लगा दिया गया है। यह भाग स्वच्छ और अत्यन्त पारदर्शी है। इसको स्वच्छ मंडल या **कार्निया** (Cornea) कहा जाता है। इसी में होकर किरणें नेत्र के भीतर प्रवेश करती हैं।

नेत्र गुहा के भीतर स्थित नेत्र गोलक पर एक बारीक एवं अत्यन्त कोमल कला चढ़ी हुई है जिसको **कंजकटाइवा** या **नेत्रश्लेष्मिका** (Conjunctiva) कहते हैं। यह कला गोलक पर से पलकों के भीतरी पृष्ठों पर जाकर उनको आच्छादित करती हुई पलकों के किनारों पर पहुँच कर त्वचा से मिल जाती है। जब यह नेत्र गोलक के कार्निया भाग पर पहुँचती है तो स्तरित उपकला (Stratified Epithelium) में परिवर्तित होकर कार्निया को आच्छादित किये रहती है। जब आँखें दुखने आती हैं तो यही कला सूज कर लाल दिखाई देती है जिसको **अभिष्यन्द** (Conjunctivitis) कहते हैं।

चित्र को देखने से प्रतीत होगा कि नेत्र गोलक की भित्ति तीन स्तरों का बनी हुई है। सबसे बाहर मोटा कठिन श्वेत रंग का तान्तव ऊतक निर्मित स्तर है जो **स्क्लीरा** या **श्वेत पटल** (Sclera) कहा जाता है। गोलक का आकार इसी स्तर के कारण बना हुआ है। भीतर के सब कोमल भागों या द्रव्यों को यह कठिन स्तर का कोष अपने स्थान में रखता है। इस स्तर के भीतर दूसरा स्तर **रंजित पटल** या **कोराइड** (Choroid) का है। यह अत्यन्त कोमल काले रंग का रक्तवाहिका केशिकाओं और कुछ तान्तव ऊतक के तन्तुओं का बना हुआ है। इसमें वर्णक कणों (Pigment Granules) के अधिक होने से इसका रंग काला दीखता है। यही स्तर सारे गोलक का पोषण करता है। सामने की ओर जाकर यह स्तर **रोमक पिंड** (Ciliary Body) में अन्त होता है। चित्र में यह पिंड त्रिकोणाकार गहरा काला भाग दीख रहा है जिसके सामने से एक लम्बा प्रवर्ध निकल कर लैन्स (Lens) के सामने तक चला जाता है। यह प्रवर्ध तारामंडल या **आइरिस** (Iris) कहा जाता है। रोमक पिंड काराइड से आये हुए रक्त केशिकाओं के गुच्छे, वर्णक कण और तान्तव ऊतक का बना हुआ है। इसके सामने कार्निया और स्क्लीरा के संगम से कुछ पेशी तन्तु निकल कर इस पिंड में लग जाते हैं जिनका काम नेत्र के तारे को संकुचित और विस्तृत करना है। रोमक पिंड से कुछ प्रवर्ध निकल कर लैन्स के किनारे पर लग जाते हैं।

आइरिस भी काराइड ही का एक प्रवर्धित भाग है। किन्तु इसमें कुछ पेशी तन्तु तथा तान्तव-ऊतक के भाग भी रहते हैं। नेत्र में रोमक पिंड तथा आइरिस के प्रवर्धन चारों ओर से निकल कर लैन्स की परिधि को घेरे हुए हैं। वे लैन्स के साथ मिल कर एक ऐसा पर्दा बना देते हैं जो नेत्र गोलक के अग्र भाग को पश्चिम भाग से पृथक् कर देता है। अग्र भाग में, जिसको अग्र कक्ष (Anterior Chamber) कहते हैं, एक जलीय पदार्थ भरा रहता है। इसका नाम **एकुअस ह्यूमर** या **नेत्रोद** (Aqueous Humor) है। पश्चिम कक्ष में जो अग्र कक्ष की अपेक्षा बहुत बड़ा है, **विट्रियस पिंड** या **काचाभ पिंड** (Vitreous Humor or Body) भरा हुआ है। यह गाढ़ा लसलसा पदार्थ है जो एक अत्यन्त बारीक कला के कोष में भरा रहता है। कला इतनी बारीक

है कि उसको देखना भी कठिन है। यह पदार्थ स्वच्छ और पारदर्शी है और इतना गाढ़ा है कि मोतियाबिन्द के आपरेशन करने में इसको कई बार काटना पड़ता है।

चारों ओर के रोमक पिंडों तथा प्रवर्धनों और आइरस के प्रवर्धों के बीच में लैन्स (Lens) स्थित है जिसके अगले और पिछले दोनों पृष्ठ उत्तल (Convex) हैं। किन्तु पिछला पृष्ठ कम उत्तल है। लैन्स स्वाभाविक अवस्था में अत्यन्त पारदर्शी है। इस कारण प्रकाश किरण कार्निया तथा लैन्स को पार करती हुई विट्रियस पिंड में से निकल कर सीधी पीछे रेटिना पर पहुँच जाती है। हाँ, उसके पूर्व और पश्चिम पृष्ठों पर उनके मार्ग का कुछ परिवर्तन अवश्य होता है क्योंकि वे उत्तल लैन्स की भाँति काम करते हैं। आयरिस प्रवर्धों के बीच में जो अन्तर रह जाता है वह तारा (Pupil) कहलाता है। इसी छिद्र में होकर किरणें नेत्र में प्रवेश करती हैं और लैन्स द्वारा रेटिना पर पहुँच जाती हैं।

लैन्स पर एक बारीक सम्पुट (Capsule) चढ़ा हुआ है जो एक अत्यन्त कोमल स्नायु के द्वारा, जिसको अवलंबी स्नायु (Ligament) कहते हैं, रोमक पिंड से जुड़ा हुआ है। स्वस्थ दशा में लैन्स के भीतर का द्रव्य तरल होता है। वृद्धावस्था में इसी द्रव्य के कड़े और अपारदर्शी होने से मोतियाबिन्द (Cataract) बन जाता है।

नेत्र गोलक का तीसरा स्तर रेटिना (Retina) कहलाता है। चित्र में सबसे भीतर की ओर यह स्तर दिखाया गया है। यही नेत्र का मुख्य भाग है जिसका कर्म दृष्टि (Vision) या देखना है। जैसा चित्र में दीखता है यह नेत्र गोलक के भीतर केवल पिछले लगभग $\frac{2}{3}$ भाग पर छाया हुआ है। इसके पीछे की ओर से दृष्टि तन्त्रिका (Optic Nerve) निकल रही है। रेटिना की कोशिकाओं के एक्सनों से बने हुए तन्तु यहीं आकार मिल जाते हैं जिनसे दृष्टितन्त्रिका बन कर यहाँ से मस्तिष्क में चली जाती है। अतएव जहाँ तन्त्रिका गोलक से निकलती है वहाँ केवल तन्तु ही हैं। कोशिकायें नहीं हैं। इस कारण इस स्थान में देखने की शक्ति नहीं है। यह अन्ध चित्ती (Blind Spot) कहलाता है। तन्त्रिका का निकलने का स्थान गोलक के बीच में नहीं है किन्तु भीतर को नासिका की ओर स्थित है। इससे दोनों गोलक से निकलने वाली तन्त्रिकायें एक दूसरे के पास होती जाती हैं और अन्त में नेत्र गुहा से निकल कर जतूकास्थि के गात्र पर पहुँच कर आपस में मिल जाती हैं जिससे स्वस्तिका आकार का अक्षि स्वस्तिक (Optic Chiasm) बन जाता है। गोलक के भीतर दृष्टि तन्त्रिका के निकलने के स्थान के तनिक बाहर २·५ मिलीमीटर का एक उत्सेध है जिसके बीच में एक गड्ढा है। उत्सेध का रंग कुछ हलका पीला है। इस कारण उत्सेध को पीत अंक (Macula Lutea) और गड्ढे को केन्द्रगर्तिका (Fovea Centralis) का नाम दिया गया है।

रेटिना की सूक्ष्म रचना : नेत्र गोलक का रेटिना स्तर ही देखने वाला विशिष्ट अंग है। अतएव इसकी सूक्ष्म रचना जानना आवश्यक है। चित्र में इसकी सूक्ष्म रचना दिखाई गई है। इसमें दस स्तर हैं। प्रत्येक की रचना कुछ भिन्न है। इसके देखने वाले विशिष्ट स्तर नवें और दसवें हैं जो **शलाका** (Rods) और **शंकु** (Cones) कहलाते हैं। शलाकाएँ दसवें स्तर में सीधी अन्त तक चली गई हैं। किन्तु शंकु उनके बीच में ही नुकीले शिखर में समाप्त हो गये हैं। इसी कारण इसका नाम शंकु पड़ा है। चित्र में शलाकाएँ अधिक दीख रही हैं। शंकु कई शलाकाओं के बीच में एक है। शंकु और शलाकाओं के भीतरी भाग (जो विट्रियस ह्यूमर की ओर रहते हैं) जिन पर पहले किरण पड़ती है, स्वच्छ हैं। शेष (बाहरी) भाग दानेदार दिखाई दे रहे हैं। चित्र में इन पर ९ और १० के अंक लिखे हैं। ये शंकु और शलाका स्तर सबसे भीतर स्थित हैं। जब नेत्र में किरण प्रवेश करती है तो लैन्स और विट्रियस को पार करके रेटिना के इस भाग पर ही सबसे पहले पड़ती है। तब अन्य स्तरों में होती हुई बाहर की ओर जाकर अन्त में स्तर नं० १ में पहुँचती है। जहाँ बड़े आकार की गोल किन्तु एक स्थान पर नोक युक्त कोशिकायें दिखाई गई हैं। ये तन्त्रिका कोशिकायें हैं जिनका एक्सन बाहर निकल कर दृष्टि तन्त्रिका के एक तन्तु का अक्ष सिलिंडर बन जाता है और किरण से उत्पन्न हुई उत्तेजना को मस्तिष्क में पहुँचाता है। शंकु सबसे अधिक केन्द्रगर्तिका में होते हैं। वहाँ केवल शंकु ही होते हैं, पीत क्षेत्र के शेष भाग में शलाकाएँ होती हैं।
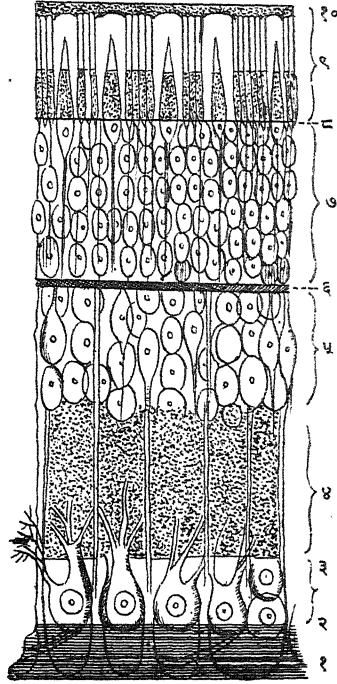
चित्र १४२—अन्तःपटल की सूक्ष्म रचना

हम कैसे देखते हैं : नेत्र के सामने जो कुछ आता है उसका प्रतिबिम्ब नेत्र के भीतर रेटिना पर बन जाता है। सामने की वस्तु से प्रकाश किरणें कार्निया, तारा, अग्र कक्ष के एकुअस ह्यूमर, लैन्स के पूर्व पृष्ठ तथा पश्चिम पृष्ठ और विट्रियस ह्यूमर में होकर रेटिना पर पहुँच कर वहाँ प्रतिबिम्ब बनाती हैं। ये किरणें भौतिक विज्ञान के नियमों के अनुसार ही आचरण करती हैं। ठोस तल पर पड़ने से इनका परावर्त्तन (Reflection) होता है। एक माध्यम (Medium) से दूसरे माध्यम में जाने पर इनका वर्त्तन

(Refraction) होता है जिससे दोनों माध्यमों के संगम स्थान पर इनका मार्ग बदल जाता है। यदि ये किसी गोल पृष्ठ पर पड़ती हैं तो लैन्स द्वारा निकलने का-सा
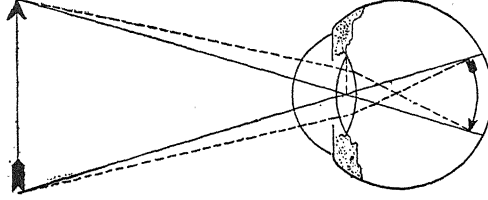
चित्र १४३—नेत्र के भीतर प्रकाश-किरणों का मार्ग

आचरण करती हैं। उत्तल (Covex) पृष्ठ से उनकी अभिबिन्दुता (Convergence) होती है। लैन्स से निकलने पर एक दूसरे के समीप आती चली जाती हैं और लैन्स के दूसरी ओर एक बिन्दु जो उनका किरण केन्द्र (Focus) कहलाता है उस पर मिल जाती हैं। **अवतल** (Concave) पृष्ठ किरणों की अपबिन्दुता (Divergence) का कारण होता है। अपबिन्दुक किरणें एक दूसरे से दूर होती चली जाती हैं ।

जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो उससे उत्पन्न हुई किरणें नेत्र के भीतर इन्हीं भौतिक नियमों का पालन करती हैं और वहाँ रेटिना पर बिम्ब बनाती हैं। नेत्र में कई मुड़े हुए पृष्ठों पर किरणों का मार्ग बदलता है। कार्निया का पूर्व पृष्ठ उत्तल है, उसके पीछे लैन्स के दोनों पृष्ठ उत्तल हैं। पूर्व पृष्ठ की उत्तलता पश्चिम पृष्ठ से अधिक है। उसके पीछे विट्रियस पिंड है। इन सबों से किरणें निकल कर अपना मार्ग कई बार बदलने के पश्चात् रेटिना पर पहुँचती हैं और वहाँ बिम्ब बनाती हैं।

उत्तल लैन्स के पीछे सदा उलटा प्रतिबिम्ब बनता है। यदि हम किसी व्यक्ति को जाते हुए देखते हैं तो नेत्र के भीतर जो प्रतिबिम्ब बनेगा उसमें उसका सिर नीचे होगा और पाँव ऊपर होंगे। सब वस्तुओं का उलटा बिम्ब बनता है। वृक्ष के बिम्ब में उसकी पत्तियाँ, शाखायें आदि नीचे होंगी और उसका तना, मूल आदि ऊपर होंगे। तो हम उसको सीधा कैसे देखते हैं ?

इसका उत्तर यह है कि देखने का काम मस्तिष्क या दृष्टि केन्द्र का है, नेत्र का नहीं। नेत्र में फोटोग्राफी के कैमरे की प्लेट की भाँति केवल बिम्ब बन जाता है। उसको देखना और देखकर समझना मस्तिष्क का काम है। समझने का काम अन्य मानसिक प्रक्रियाओं और बाह्य परिस्थितियों के सहयोग और अनुकूलता के अनुसार होता है। मस्तिष्क ने यह काम अनुभव से सीख लिया है कि वह वस्तु को सीधा देखे।

सामान्यतया हम दोनों नेत्रों से देखते हैं। इसको द्विनेत्री दृष्टि (Binocular Vision) कहते हैं।

नेत्रों का समंजन (Accommodation of Eye) : किसी भी वस्तु को स्पष्टतया देखना इस पर निर्भर करता है कि उसका प्रतिबिम्ब हमारे रेटिना पर बने। उसकी किरणें ठीक रेटिना पर जाकर केन्द्रीभूत हों। रेटिना से आगे या पीछे केन्द्रीभूत होने से प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं होता—सामने को वस्तु हमको धुँधली दिखाई देती है। कैमरे में पीछे की ओर प्लेट स्थिर रहती है। किन्तु लैन्स को आगे-पीछे हटाने का प्रबन्ध होता है। फोटो लेने के पहले फोटोग्राफर पीछे से लैन्स को आगे-पीछे हटाकर बिम्ब को स्पष्ट कर लेता है और तब फोटो लेता है। बिम्ब को स्पष्ट करने का दूसरा उपाय यह है कि लैन्स को उत्तलता (Covexity) बढ़ा दी जाय जिससे किरणें अभिबिन्दुक होकर अपना केन्द्रीभवन या फोकस (Focus) आगे ही बनायें।

नेत्र में यही क्रिया होती है। हम देख चुके हैं कि लैन्स का पूर्व पृष्ठ पश्चिम की अपेक्षा अधिक उत्तल है और वह आलंबनी स्नायु द्वारा आश्रित है। यह स्नायु बाहर की ओर रोमक पिंड में लगी हुई है। साधारण अवस्था में स्नायु तनी रहती है। किन्तु जब हम पास को कोई वस्तु देखते हैं तो रोमक पिंड के बाहर और सामने स्थित पेशी उनको सामने की ओर खींच लेती हैं जिससे आलम्बनी स्नायु ढीली हो जाती है। इससे लैन्स का पूर्व पृष्ठ सामने की ओर को उभर जाता है। अर्थात् उसकी उत्तलता बढ़ जाती है और किरणें अभिबिन्दुक होकर शीघ्र ही केन्द्रीभूत हो जाती हैं। यही नेत्र का **समंजन** कहलाता है। दूर की वस्तु को देखने के लिये नेत्र को समंजन नहीं करना पड़ता। उससे आने वाली समानान्तर (Parallel) किरणों का उपयुक्त स्थिति पर केन्द्रीभवन या **संगम** हो जाता है जिससे स्पष्ट बिम्ब बन जाता है। किन्तु पास की वस्तु की किरणें अपबिन्दुक होती हैं। उनका संगम कराने के लिए विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। इसके लिए उत्तल लैन्स की आवश्यकता होती है। समंजन घटना में निम्नलिखित परिवर्तन होते हैं। (१) लैन्स की उत्तलता का बढ़ जाना, (२) तारे (Pupil) का छोटा हो जाना और (३) दोनों नेत्रों का भीतर की ओर (नासिका को ओर) घूम जाना।

दृष्टि दोष : कुछ कारणों से दृष्टि में ऐसा दोष आ जाता है कि वस्तु का रेटिना पर स्पष्ट बिम्ब नहीं बनता जिससे वस्तु स्पष्ट नहीं दीखती। ये दशायें दृष्टि दोष (Errors of Refraction) कहलाती हैं। ये निम्नलिखित हैं:—

(१) **निकट दृष्टि** (Myopia) : इसमें दूर की वस्तु स्पष्ट नहीं दिखाई देती। प्राय: नेत्र की लम्बाई अर्थात् कोर्निया से रेटिना की दूरी अधिक होती है जिससे रेटिना के पूर्व ही बिम्ब बन जाता है और वहाँ से किरणें अपबिन्दुक होकर रेटिना पर पड़ती हैं। इसके लिए अवतल (Concave) लैन्स की आवश्यकता होती है जो किरणों को अपबिन्दुक बना सकें और वे रेटिना पर जाकर संगम करें।

(२) **दीर्घ दृष्टि** (Hyper-metropia) : पूर्व से विरुद्ध दशा है। बिम्ब रेटिना के पीछे बनता है। इसके लिए उत्तल (Convex) लैन्स आवश्यक है जो रेटिना पर किरणों का संगम करा दे।

(३) **जरा दृष्टि** (Presbyopia) : यह दशा वृद्धावस्था में उत्पन्न होती है। लैन्स कठोर हो जाता है। उसका लचीलापन जाता रहता है। इससे उसकी आगे-पीछे-

चित्र १४४—नेत्र के दृष्टि दोष
[अ—स्वस्थ नेत्र ब—दीर्घ स—निकट दृष्टि]
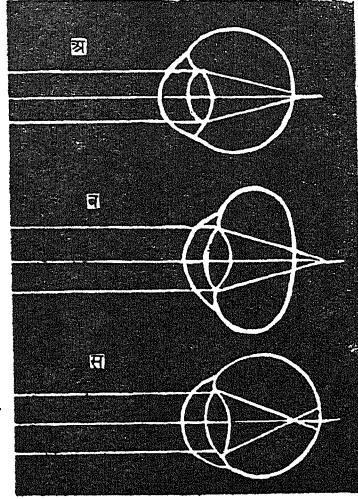
घटने-बढ़ने की शक्ति नष्ट हो जाती है। अतएव किरण संगम नेत्र के पीछे बनता है। इसके लिए उपयुक्त शक्ति के उत्तल लैन्स की आवश्यकता है।

(४) **ऐस्टिगमेटिज्म** या दृष्टि वैषम्य (Astigmatism) : कार्निया या लैन्स की भिन्न-भिन्न व्यासों में उत्तलता की विषमता इस दशा को उत्पन्न करती है। किरणों के एक ही स्थान पर केन्द्रीभूत होने के लिए यह आवश्यक है कि लैन्स की वक्रता (Curvature) सब दिशाओं में सब व्यासों में समान हो। ऐसा न होने पर भिन्न-भिन्न किरणों का केन्द्रीभवन भिन्न-भिन्न स्थानों पर होगा।

यह दोष कुछ सीमा तक प्रत्येक नेत्र में होता है। तारे जैसे हमको जो दीखते हैं उसका कारण यही दोष है। किन्तु इसके बढ़ जाने पर ही इसकी ओर ध्यान आकर्षित होता है।

नेत्र में **गोलीय विपथन** (Spherical Aberration) और **वर्ण विपथन** (Chromatic Aberration) नामक दोष भी होते हैं जिनका कारण लैन्स के मध्य

भाग और किनारों की वक्रता का अन्तर है। आइरिस के संकोच से किनारे ढक जाते हैं। इससे ये दोष बहुत-कुछ जाते रहते हैं।

रंग दृष्टि (Colour Vision) : हमको रंग किस प्रकार दीखते हैं ? यह माना जाता है कि हरा लाल और जामुनी (Green, Red, Violet) तीन आदि रंगों से श्वेत और अन्य सब प्रकार के रंग बन सकते हैं। इन तीनों रंगों को ग्रहण करने वाले रेटिना में तीन प्रकार के शंकु हैं। एक शंकु केवल एक ही रंग को ग्रहण करता है। रंगों को देखने से ये ही शंकु उत्तेजित होकर उत्तेजनाओं को मस्तिष्क में पहुँचाते हैं और मस्तिष्क रंग को देखता है। रेटिना के किस भाग में किस रंग को ग्रहण करने वाले शंकु हैं इसका एक मानचित्र तैयार किया गया है। कुछ नेत्रों में किसी विशेष रंग को ग्रहण करने वाले शंकु नहीं होते। उन व्यक्तियों को वह रंग नहीं दिखाई देता। यह दशा **रंग अन्धता** (Colour Blindness) कहलाती है। कुछ व्यक्तियों को रात्रि को नहीं दिखाई देता। इसको **रतौंधी** (Night Blindness) कहा जाता है। बहुत बार बिटामिन $बी_1$ की कमी इसका कारण होती है।

नेत्रों का घूमना : नेत्र गोलक ऊपर-नीचे, भीतर तथा बाहर को हमारी इच्छा-नुसार घूम सकते हैं। ये गति उन पेशियों की क्रिया का फल है जो नेत्र के श्वेत पटल पर कार्निया की परिधि से $\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{2}$ इंच बाहर लगी हुई हैं। ये पेशियाँ नेत्र गुहा के शिखर से निकलती हैं और नेत्र गोलक पर लग जाती हैं। ये छः पेशियाँ हैं। चार पेशियाँ जो
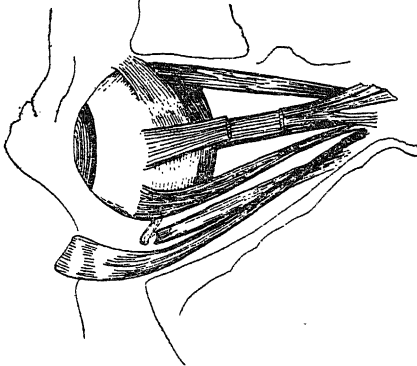
चित्र १४५—नेत्र चालक पेशियाँ

ऊर्ध्व, अधो, अन्तः और बहिः दंडिकायें (Superior, Inferior, External, Internal Rectii) कहलाती हैं ऊपर, नीचे, भीतर तथा बाहर की ओर लगी हुई हैं। दो तिर्यक् पेशी हैं—ऊर्ध्व और अधः (Superior Inferior Obliques)। ऊर्ध्व तिर्यक् नेत्र गोलक को नीचे और बाहर को घुमाती है और अधो तिर्यक् ऊपर और भीतर को घुमाती है। ये नेत्र गोलक की पेशियाँ कही जाती हैं।

कर्ण (Ear)

कर्ण का काम शब्द को सुनना है। निम्न श्रेणी के जन्तुओं में इस अंग का काम केवल शरीर को साम्यावस्था में रखना था। किन्तु उच्च श्रेणी के जन्तुओं में इसका विकास अधिक हुआ और यह श्रवण यन्त्र भी बन गया।

कर्ण के तीन भाग हैं—बहिःकर्ण, मध्य कर्ण और अन्तःकर्ण।

बहिःकर्ण (External Ear) : यह कर्ण का बाहरी भाग है। सिर में दोनों ओर इसका बाहरी भाग अस्थि से बाहर निकला हुआ है। यह उपास्थि का बना हुआ है जिस पर त्वचा चढ़ी है। इसको **कर्ण शष्कुली** (Auricle of Ear) कहते हैं। शष्कुली के संकुचित भाग से एक नलिका सीधी भीतर अस्थि में चली गई है जो बाह्य श्रवण कुहर (External Auditory Meatus) कहलाती है। इस नली के अन्त पर एक पर्दा या पटह लगा हुआ है जो कर्णपटह (Tympanic Membrane) कहा जाता है। यह पट्ट सीधा नहीं है। कुछ तिरछा लगा हुआ है और बीच से भीतर को दबा हुआ है। कर्णदर्शक (Auriscope) से देखने से यह श्वेत चमकता हुआ दीखता है और इसका मध्यबिन्दु कुछ भीतर को खिंचा हुआ मालूम होता है।
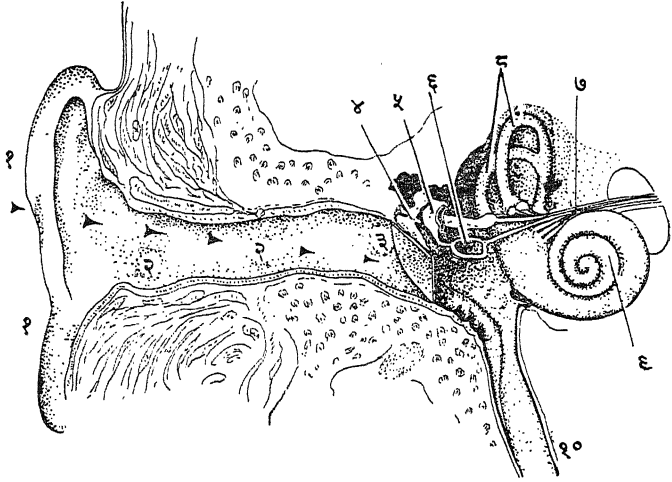
चित्र १४६—अस्थि को काट कर कर्ण के भाग दिखाये गये हैं

[१—कर्ण शष्कुली २—बाह्य श्रवण कुहर ३—कर्णपटह ४—इंकस ५—मैलियस ६—स्टेपीज ७—श्रवण तन्त्रिका के तन्तु ८—अर्धवृत्त ाकार नलिका ९—कोक्लिया के मोड़ १०—यूस्टेकी नली]

इस भाग का कर्म शब्द को एकत्र करना और ध्वनि तरंगों को एकत्र करके भीतर को ले जाना है जहाँ वे कर्णपट्ट पर टकरा कर पट्ट में कम्पन उत्पन्न कर देती हैं।

मध्य कर्ण (Middle Ear) : यह एक छोटी-सी कोठरी है। इसको टिम्पेनम (Tympanum) भी कहते हैं। इसमें तीन अत्यन्त छोटी अस्थिकायें (Ossicles) हैं जिनके नाम **मैलियस** (Malleus), **इंकस** (Incus) और **स्टेपीज** (Stapes) हैं जो चित्र में दीख रही हैं। इनकी एक शृंखला वनी हुई है। मैलियस के हैंडिल की नोक कर्णपटह की नाभि पर लगी हुई है। उसका मोटा सिर इंकस अस्थिका के चौड़े भाग के गड्ढे में रहता है। इंकस से जो प्रवर्ध निकला हुआ है उसका सिरा तीसरी अस्थिका स्टेपीज के सिर के गड्ढे में रहता है। और स्टेपीज का चौड़ा भाग जो प्लेट के समान है अन्त:कर्ण के एक छिद्र में रहता है जो **अंडाकार छिद्र** (Oval Window) कहलाता है। इस छिद्र में एक बारीक झिल्ली लगी हुई है। स्टेपीज की प्लेट इस झिल्ली के सम्पर्क में रहती है। ये तीनों अस्थिकायें संधियों द्वारा आपस में जुड़ी हुई हैं। अतएव जब शब्द की तरंगें कर्णपटह पर टकराती हैं तो पट्ट में कम्पन होने लगते हैं। इनसे अस्थिकाओं की शृंखला में भी गति होती है। मैलियस का हैंडिल पट्ट द्वारा खिंचता है। उससे इंकस की दूसरी दिशा में गति होती है जिससे स्टेपीज की प्लेट अन्त:कर्ण के छिद्र की ओर दबती है और अंडाकार छिद्र पर लगी हुई कला को दवाती है जिससे कला से प्रारम्भ होने वाली अन्त:कर्ण की नलिका में भरे हुए तरल में भी तरंगें उत्पन्न हो जाती हैं। इन तरंगें से अन्त:कर्ण के कर्णावर्त्त या कोक्लिया नामक भाग में स्थित श्रवण कोशिकायें उत्तेजित होकर श्रवण तन्त्रिका (Auditory Nerve) द्वारा मस्तिष्क को उत्तेजनायें भेजने लगती हैं।

मध्य कर्ण से एक नली नीचे गले के ग्रसनिका भाग में जाती है जिसको **यूस्टेकी नली** (Eustachian Tube) कहते हैं। इस नली द्वारा मध्य कर्ण में वायु
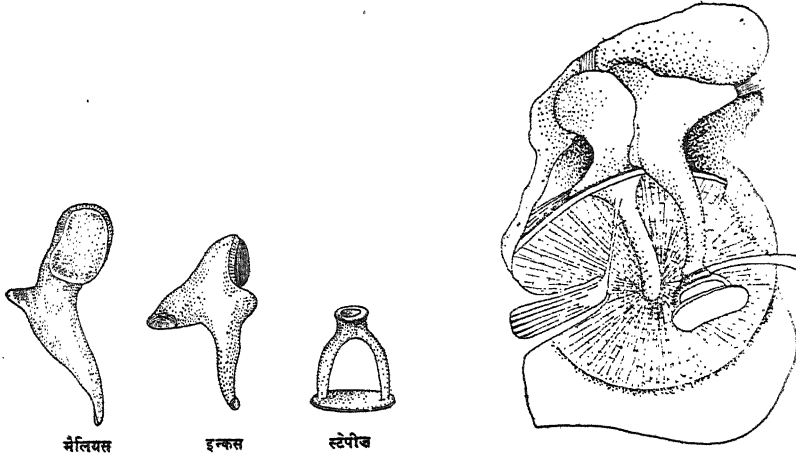
चित्र १४७—मध्य कर्ण की तीन अस्थिकायें

चित्र १४८—कर्णपटह का मध्यकर्ण की ओर का पृष्ठ (तीनों अस्थिकायों की स्थिति और सम्बन्ध दिखाये गये हैं)

पहुँचती रहती है जिससे कर्णपटह के दोनों ओर वायु दाब समान रहने से कर्णपटह के कम्पन में कोई बाधा नहीं पड़ती। इस कम्पन पर ही श्रवण कर्म निर्भर करता है।

अन्त:कर्ण (Internal Ear) : चित्र से इसका आकार स्पष्ट है। बीच का फूला हुआ भाग **प्रघ्राण** (Vestibule) कहलाता है। इसमें वह अंडाकार छिद्र है जिसमें स्टेपीज की प्लेट रहती है। इसके एक ओर से तीन नलिकायें निकलर ही हैं जो अर्धवृत्ताकार नलिकाएँ (Semicircular Canals) कहलाती हैं। ये शरीर को साम्यावस्था में रखने के उपकरण हैं। इनके द्वारा चलने-फिरने के समय हमको दिशा का ज्ञान होता है।

प्रघ्राण के दूसरी ओर से एक शंख के समान मुड़ा हुआ भाग निकल रहा है। यह **कर्णावर्त्त** (Cochlca) है। यही श्रवण का मुख्य भाग है। श्रवण क्रिया के लिए जो आवश्यक उपकरण हैं वे इसी भाग में स्थित हैं।
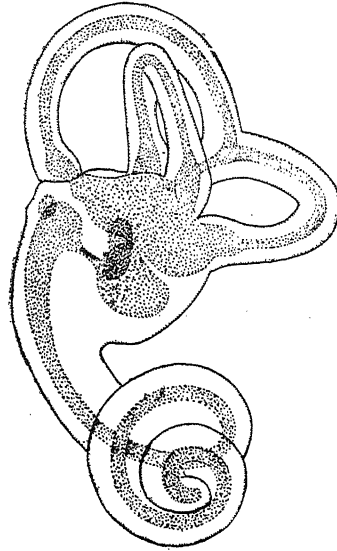
चित्र १४९—अस्थिकृत अन्त:कर्ण के भीतर झिल्लीकृत
अन्त:कर्ण दीख रहा है

चित्र में सम्पूर्ण अन्त:कर्ण दिखाया गया है। यह **गहन** या **लैबिरिन्थ** (Labyrinth) भी कहा जाता है। बाहर अस्थिकृत लैबिरिन्थ है। उसके भीतर झिल्ली या कलाकृत लैबिरिन्थ हैं।

कर्णावर्त्त अन्त:कर्ण का विशेष भाग है। इसमें ढाई मोड़ हैं। इसकी आन्तरिक रचना वड़ी गूढ़ है जो चित्रों से स्पष्ट है। बीच में एक स्तंभ है जो मोड़ों के शिखर तक

चला गया है। इसको मोडियोलस (Modiolus) कहते हैं। इसके चारों ओर वह नलिका है जो अंडाकार छिद्र से प्रारम्भ होती है और चक्कर लगाती हुई शिखर तक चली
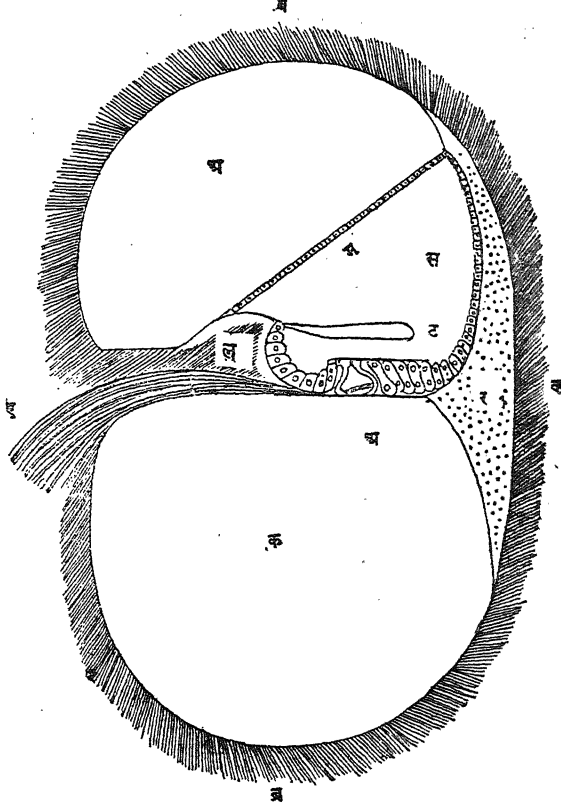
चित्र १५०—कर्णावर्त्त के एक चक्र का परिच्छेद—तीनों नलिकाओं को बढ़ा कर दिखाया गया है

[अ—देहलिका सोपानपथ क—श्रवण सोपानपथ स—मध्य सोपानिका अथवा कर्णावर्त्त म—रीजनर कला ट—प्रवारक कला ध—धारक कला पर आश्रित कार्टी का यन्त्र मध्य सोपानिका में ल—मध्यस्तंभक प्रवर्धन ए—नाड़ी सूत्र द—शंखास्थि का भाग र—सौत्रिक ऊतक का भाग जिस पर धारक कला का एक सिरा लगा हुआ है]

जाती है। यह नलिका मोडियोल से निकले हुए एक प्रवर्ध और उससे बाहर अस्थि तक लगी हुई एक कला से दो भागों में विभक्त हो गई है। इस कला को **आधार कला** (Basilar Membrane) कहते हैं। एक दूसरी कला, **रोजनर की कला** (Reissners

Membrane) जहाँ से धारक कला निकलती है वहीं अस्थि प्रवर्ध से निकल कर बाहर को अस्थि तक फैली हुई है। इस प्रकार नलिका तीन भागों में विभक्त हो जाती है। धारक कला के नीचे का भाग **मध्य कर्ण सोपान** (Scala Tympani) कहलाता है। धारक कला और रीजनर कला के बीच **मध्य सोपान** (Scala Media) है। और रीजनर कला और अस्थि प्रवर्ध के ऊपर का भाग **प्रघ्राण सोपान** (Scala Vestibuli) कहलाता है। मध्य सोपान (Scala Tympani) में भरा हुआ द्रव अन्तर्लसीका (Endolymph) कहलाता है। शेष दोनों नलिकाओं में परिलसीका (Perilymph) रहता है।

सुनने का विशेष यन्त्र जिसको **कार्टी का अंग** या **यन्त्र** (Organ of Corti) कहते हैं मध्य नलिका में धारक कला के ऊपर स्थित है। इसमें कुछ कोशिकायें होती हैं जिनसे बाल सरीखे तन्तु निकले रहते हैं। ये **रोम कोशिका** (Hair Cells) कहाती हैं। इनके नीचे की ओर की धारक कला में श्रावणी तन्त्रिका के तन्तु फैले हुए हैं।

जब हम कोई शब्द सुनते हैं तो शब्द तरंगों से कर्णपटह में कम्पनायें होती हैं। उनसे अस्थिकाओं में गति होती है जिससे अंडाकार छिद्र की कला कम्पन करती है। इससे नलिका में भरे परिलसीका में तरंगें उत्पन्न हो जाती हैं जो रीजनर कला को कँपाने लगती हैं। इन कम्पनाओं की सूचना रोम कोशिकायें ग्रहण करके नीचे धारक कला में फैले
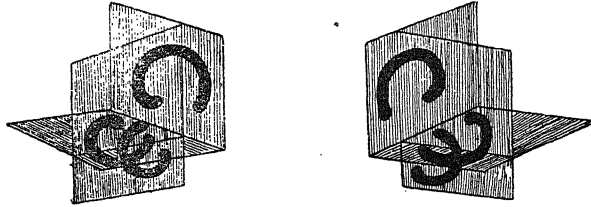
चित्र १५१

हुए श्रवण तन्तुओं में भेजती हैं जो उनको प्रमस्तिष्क के श्रवण केन्द्र में पहुँचाती हैं। मस्तिष्क उसको सुनता है। नेत्र की भाँति कर्ण भी शब्द का संवाहक यन्त्र है। शब्द को सुनने अथवा उसका विश्लेषण करने वाला मस्तिष्क है।

स्वाद (Taste)

स्वाद प्रतीत करने वाला अंग जिह्वा है। जिह्वा मांस पेशी निर्मित अंग है जिस पर श्लेष्मल कला चढ़ी हुई है। यह अंग मुख में पीछे की ओर से आरम्भ होकर सामने आकर दाँतों के पीछे की ओर अन्त हो जाता है। पिछले भाग में इसकी चौड़ाई अधिक है।

जिह्वा को ध्यान से देखने से श्लेष्मल कला अनेक सूक्ष्म अंकुरों (Villi Papillae) से आच्छादित दिखायी देती है जो अंकुरक (Papillas) कहलाते हैं। अंकुरक कई भाँति के

होते हैं। जिह्वा के अग्र भाग में बारीक सूत्र के समान अंकुरक हैं जो जिह्वा के पृष्ठ को चिकना और समतल बनाये हैं। ये **सूत्री अंकुरक** (Filiform) कहलाते हैं। सबसे पीछे जिह्वा में बड़े-बड़े अंकुरक हैं जिनमें बीच में एक गोल उभरा भाग है और उसके चारों ओर एक परिखा है जो एक प्राचीर से घिरी हुई है। ये **परिवृत्त अंकुरक** (Vallate Papillas) कहे जाते हैं। इनकी केवल एक पंक्ति जिह्वा के मूल भाग पर स्थित है जिसमें ८ या १० अंकुरक हैं। जिह्वा की नोक और उसके पार्श्व पर वर्षा काल में उत्पन्न होने वाले कुकुरमुत्ते के समान अंकुर है। वे चमकते हुए छोटे गोल दाने के समान दीखते हैं। ये **कवकी अंकुरक** (Fungiform) कहे जाते हैं।
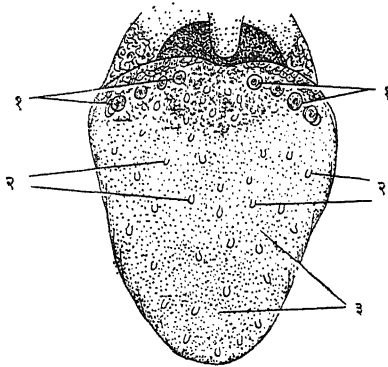
चित्र १५२—जिह्वा
[१—परिवृत अंकुर २—कवकी अंकुर ३—सूत्री अंकुर]

जिह्वा के पश्चिम भाग में परिवृत्त अंकुरों में स्वाद के विशेष अंग होते हैं जिनको **स्वाद कलिका** (Taste Bud) कहा जाता है। कई लम्बे आकार की कोशिकायें,
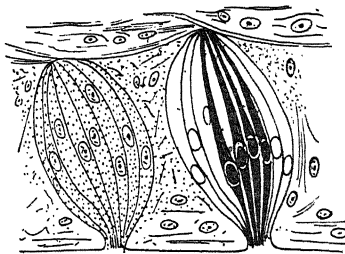
चित्र १५३—स्वाद कलिकायें

जिनके ऊपरी सिरे से बाल सरीखे तन्तु निकले रहते हैं, मिल कर छोटी-छोटी ग्रन्थियों के आकार की इन कलिकाओं को बनाते हैं। प्रत्येक कोशिका में स्वाद तन्त्रिका का एक तन्तु आता है।

चार मुख्य स्वाद होते हैं: (१) मीठा, (२) कड़वा, (३) खट्टा और (४) (४) नमकीन। इन चार स्वादों से ही दूसरे स्वाद बन जाते हैं। मीठा स्वाद सबसे अधिक जिह्वा की नोक पर प्रतीत होता है। खट्टा उसके किनारों पर, कड़वा जिह्वा के पिछले भाग पर और नमकीन बीच के भाग में विशेषतया अधिक मालूम होता है।

स्वाद का ज्ञान कराने वाली विशेष दो तन्त्रिकाएँ हैं। (१) आननी तन्त्रिका (Facial Nerve) की कौर्डा टिम्पैनाई या **मध्यकर्ण रज्जुतन्त्रिका** (Chorda Tympani) और **जिह्वा ग्रसनिका** (Glossopharyngeal)।

गंध (Small)

नासिका का काम सूँघना है। हम सुगन्ध या दुर्गन्ध—प्रत्येक प्रकार की गन्ध को नाक के द्वारा प्रतीत करते हैं। नासिका गुहा को दो भागों में विभक्त करके दो नासारन्ध्रों को बनाने वाला जो मध्य फलक है उसी में सूँघने की शक्ति है। यह फलक जिस श्लेष्मक कला से आच्छादित है उसके लगभग तिहाई ऊपर के भाग में घ्राण तन्तु फैले हुए हैं। ये तन्तुओं के गुच्छे वहाँ जाल बनाये हुए हैं। ये तन्तु सीधे ऊपर की ओर चले जाते हैं और
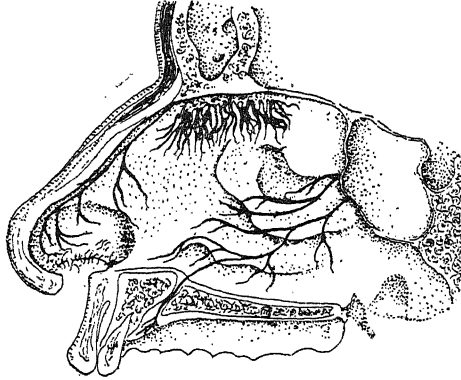
चित्र १५४—नासिका के मध्य फलक पर घ्राण तन्तु गुच्छों के रूप में फैले हुए दीख रहे हैं

इथमाइड अस्थि के अनेक छिद्रों द्वारा कपाल के तल के अग्रभाग में पहुँच कर वहाँ के प्रमस्तिष्क ललाट खंड के अधो पृष्ठ पर स्थित कन्दौ (Bulb) के भीतर प्रविष्ट होकर घ्राण पथ में होते हुए केन्द्र में पहुँचते ह। **घ्राण** नासिका के मध्य पटल पर फैले हुए घ्राण तन्तुओं के मिलने से घ्राण तन्त्रिका (Olfactory Nerve) बनती है।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

निःस्रोत ग्रन्थियाँ, अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ

(Ductless glands, Endocrine glands)

शरीर में ग्रन्थियों की संख्या बहुत है जिनके अनेक प्रकार के कर्म हैं। प्रायः उन ग्रन्थियों में कोई स्राव बनता है और ग्रन्थि के मुख से निकल कर एक वाहिनी (Duct) के द्वारा किसी अंग में पहुँच कर कोई विशेष क्रिया करता है।

किन्तु शरीर की कुछ ऐसी महत्वशाली ग्रन्थियाँ भी हैं जिनमें बना हुआ स्राव वहीं से सीधा रक्त में चला जाता है। उनमें न कोई वाहिका है, न मुख है जिनके द्वारा स्राव निकल कर बाहर आवे। वह ग्रन्थि के भीतर से ही रक्त द्वारा शोषित हो जाता है और शरीर में पहुँच कर अत्यन्त महत्वशाली क्रियायें करता है। ऐसी ग्रन्थियों को **निःस्रोत ग्रन्थि** कहते हैं। इनको **अन्तःस्रावी** भी कहते हैं क्योंकि इनका स्राव बाहर नहीं आता। इनके भीतर जो स्राव बनता है वह **हारमोन** (Harmone) कहलाता है। इसका अर्थ है उद्दीपक, शरीर की क्रियाओं का उद्दीपन करने वाला। ये स्राव रासायनिक पदार्थ हैं जो केवल रासायनिक क्रिया से शरीर की क्रियाओं को उन्नत करते हैं। इनका रासायनिक संघटन मालूम किया जा चुका है और उनका रासायनिक विधियों से संश्लेषण भी हो चुका है। रासायनिक क्रियाओं से उनको तैयार भी किया गया है। चिकित्सा में इनका बहुत प्रयोग होता है। वे रसायनशालाओं में ही बने हुए पदार्थ होते हैं। इनकी विशेष खोज कुछ गत वर्षों ही में हुई है। बीस-पच्चीस वर्ष पूर्व इनका ज्ञान नाम मात्र को था। किसी समय तो यह ध्यान भी नहीं था कि इन ग्रन्थियों में कोई स्राव बनता है।

कुछ ग्रन्थियाँ ऐसी भी हैं जो दो प्रकार के स्राव बनाती हैं। एक स्राव तो वाहिनी द्वारा बाहर निकल आता है। किन्तु दूसरा स्राव भीतर ही रक्त में चला जाता है। **अंड ग्रन्थि** (Testes), **डिंभ ग्रन्थि** (Ovary) तथा **अग्न्याशय** (Pancreas) ऐसी ही ग्रन्थियाँ हैं। इनका बहिःस्राव (External Secretion) तो बाहर निकल आता है और अन्तःस्राव सीधा रक्त में चला जाता है। अंड ग्रन्थि के बहिःस्राव में शुक्राणु होते हैं जो वीर्य द्वारा बाहर आ जाते हैं। डिम्भ ग्रन्थि से डिम्भ बाहर आ जाता है। किन्तु इनके अन्तःस्राव भीतर से ही रक्त में जाकर पुरुष में पुरुषत्व और स्त्री में स्त्रीत्व उत्पन्न करते हैं तथा गर्भ की रक्षा करते हैं। अग्न्याशय का रस वाहिनी में होता हुआ पक्वाशय में जाकर आहार

का पाचन करता है। किन्तु कार्बोहाइड्रेट के चयापचय को पूर्ण करने वाला लैंगरहैन्स की द्वीपिकाओं का स्राव जिसकी अनुपस्थिति से मधुमेह (Diabetes Mellitus) रोग उत्पन्न हो जाता है, सीधा रक्त में चला जाता है।
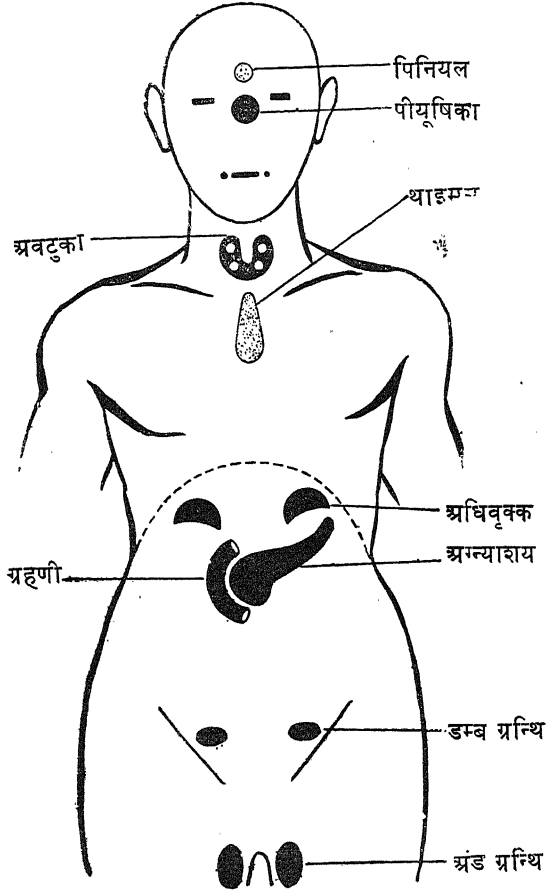
चित्र १५५—मानव शरीर की अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ

अवटुग्रन्थि या **थाइराइड** (Thyroid), **अधिवृक्क** (Suprarenal) : पीयूषिका या **पिट्यूटरी** (Pituitary) तथा परा-वटुका (Parathyroid) ग्रन्थियाँ केवल अन्तःस्राव उत्पन्न करती हैं। यहाँ इनका संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

अवटुका या थाइराइड

यह ग्रन्थि ग्रीवा के निचले भाग में नीचे की ओर स्थित है। टेंटुवे के नीचे इसके दाहिने और बायें खंड श्वासनाल के दोनों ओर स्थित हैं और एक छोटे अनुप्रस्थ भाग द्वारा जुड़े हुए हैं जो ग्रन्थि का तीसरा खंड या मध्य खंड कहलाता है। कुछ व्यक्तियों में यह ग्रन्थि बहुत बढ़ जाती है। तब इसको घेंघा या गलगंड (Goiter) कहा जाता है।

ग्रन्थि की सूक्ष्म रचना के अध्ययन से पता चला है कि ग्रन्थि सूक्ष्म कोष्ठों की बनी हुई है जिसमें एक लसलसा रचनाविहीन पदार्थ भरा रहता है। इसका विशेष अवयव थाइरोक्सीन (Thyroxin) नामक एक रासायनिक पदार्थ होता है जिसका सक्रिय तत्व आयोडीन है। यही ग्रन्थि की क्रियाओं का उत्तरदायी है। इसकी कमी से घेंघा रोग उत्पन्न होता है।
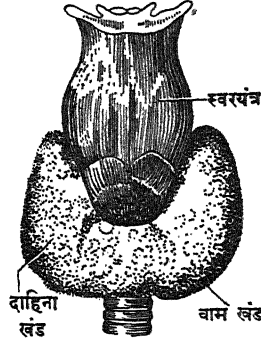
चित्र १५६—अवटुका ग्रन्थि

इस ग्रन्थि की क्रिया के ह्रास से जो दशा उत्पन्न होती है उसको **हीनावटुता** या **हाइपोथाइरोइडिज्म** (Hypothyroidism) कहते हैं। और क्रिया के बढ़ जाने से उत्पन्न हुई अवस्था अत्यवटुता या हाइपरथाइरोइडिज्म (Hyperthyroidism) कही जाती है।

हीनावटुता : इसमें दो प्रकार को दशायें उत्पन्न होती हैं। एक बाल्यकाल में और दूसरी युवावस्था में।

(१) बालक के शरीर की वृद्धि नहीं होती। १२ वर्ष का बालक ४ वर्ष का-सा दीखता है। उसका मानसिक विकास भी नहीं होता। वह ऐसा दीखता है जैसे कुछ समझता ही न हो। अपनी चारों ओर की परिस्थिति से अनभिज्ञ हो। उसका मुँह खुला हुआ, लम्बी जीभ लटकती हुई, जिससे लार चूती रहती है, भारी चेहरा, होंठ नीचे को लटकता हुआ, उदर आगे को निकला हुआ, शरीर की त्वचा मोटी और कड़ी, बाल कड़े चमक रहित, वह ऐसा दीखता है। इनको **जड़वामन** (Cretin) कहते हैं और इस दशा का नाम **जड़वामनता** (Cretinism) है। ग्रन्थि के सत्व को, जो बाजार में **थाइराइड ऐक्सट्रक्ट** (Thyroid Extract) के नाम से टिकियों के रूप में बिकता है, खिलाने से दशा ठीक हो जाती है। चित्र में वामन बालक को चार पाँच वर्ष तक ग्रन्थि के सत्व को खिलाने से उसमें जो वृद्धि हुई है वह दिखाई गई है।

(२) युवावस्था प्रारम्भ होने पर ग्रन्थि की क्रिया कम हो जाने से **मिक्सिडीमा** (Myxedema) की दशा उत्पन्न होती है। त्वचा मोटी और भद्दी हो जाती

है। चेहरे की त्वचा के नीचे वसा एकत्र हो जाने से चेहरा भद्दा और भारी दीखता है। नेत्रों के नीचे के पलक नेत्र को ढक से लेते हैं। हाथ भी सूजे हुए और बड़े-बड़े दीखते हैं। किन्तु मानसिक दशा में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता न विचार शक्ति ही
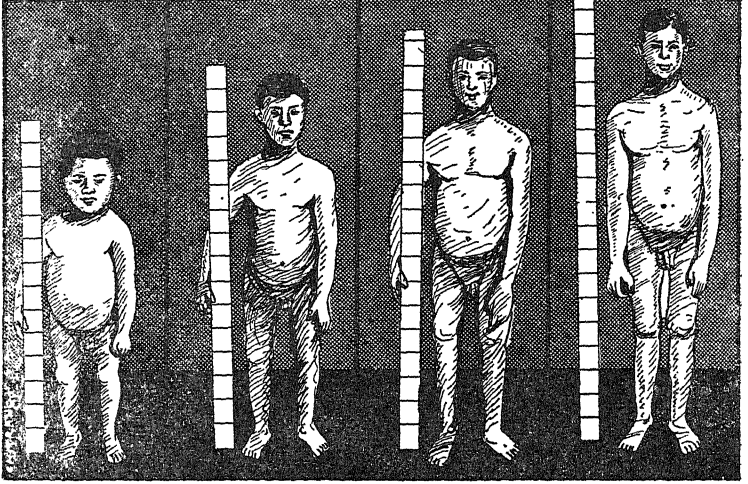
१२ वर्ष १४ वर्ष १५ वर्ष १६ वर्ष

चित्र १५७—अल्पावटुता के कारण उत्पन्न हुई वामनता
[ग्रन्थि के सत्व के खिलाने से वृद्धि हो रही है]

का ह्रास होता है। अस्थियों पर भी कोई प्रभाव नहीं होता। हाँ, चित्त में उत्साह नहीं रहता, दुर्बलता मालूम होती रहती है।

ग्रन्थि के सत्व या थाइरोक्सिन (Thyroxin) नामक औषधि को खिलाने से दशा सुधर जाती है।

अत्यवटुता : ग्रन्थि में लसलसा पदार्थ और उसका हारमोन अधिक मात्रा में बनने लगते हैं। इससे **नेत्रोत्सेधी गलगंड** (Exophthalmic Goiter) की दशा उत्पन्न हो जाती है। हृदय की स्पन्दन गति बढ़ जाती है। प्रत्येक समय धड़कन होती रहती है। नेत्र बड़े-बड़े और बाहर को निकले-से दीखते हैं। ऊपर और नीचे की पलकें बन्द नहीं होतीं। नेत्र के श्वेत भाग खुले रहते हैं। अत्यन्त दुर्बलता प्रतीत होती है। हाथ काँपते रहते हैं। रक्त में शर्करा अधिक आने लगती है।

अधिवृक्क (Suparenal)

ये तिकोने आकार की दो ग्रन्थियाँ उदर के भीतर दोनों वृक्कों के ऊर्ध्व ध्रुवों पर इस प्रकार स्थित हैं जैसे मुर्गे के सिर पर कँलगी होती है। इनको लम्बाई की ओर

से काटने से इनके भीतर दो भाग दीखते हैं, एक **प्रान्तस्था** (Cortex) और दूसरा **अन्तस्था** (Medulla) । विचित्रता यह है कि इन दोनों भागों की उत्पत्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से होती है। भ्रूण में प्रान्तस्था उस कोशिका समूह से उत्पन्न होता है जिससे जनन ग्रन्थियाँ, अंड और डिम्ब ग्रन्थियाँ बनती हैं। अन्तस्था को बनाने वाला वह समूह है जो आत्मगतन्त्रिका तन्त्र बनाता है।

अन्तस्था भाग में ऐड्रिनेलिन (Adrenalin) नाम का हारमोन बनता है। यह एक रासायनिक पदार्थ है जो रसायनशालाओं में भी बनाया जाता है। इसकी विशेष क्रिया रुधिर दाब (Blood Pressure) को बढ़ाने की होती है। इसके इन्जेक्शन से त्वचा के भीतर की रुधिर केशिकायें तथा उदर के भीतर आन्त्र कला और आन्त्र में विस्तृत धमनिकायें (Arterioles and Capillaries) और रक्त केशिकायें संकुचित हो जाती हैं। इससे शारीरिक रुधिर दाब बढ़ जाता है। किन्तु ऐच्छिक पेशियों और फुप्फुस की रक्तवाहिकाओं का प्रसार हो जाता है। इससे यक्ष्मा या दमे के आक्रमण के समय ऐड्रिनेलिन के इन्जेक्शन से लाभ होता है।

ऐड्रिनेलिन की अन्य भी कितनी ही क्रियायें होती हैं। अनुकम्पीतन्त्र की जो क्रियायें होती हैं, जिनका पहले वर्णन कर आये हैं, वे सब ऐड्रिनेलिन की क्रिया हैं। इस कारण विद्वानों का विचार है कि अनुकम्पी तन्त्रिकाओं की क्रिया का कारण ऐड्रिनेलिन है या इसी के समान कोई वस्तु है जो क्रिया के समय तन्तुओं के अन्तांगों या अन्तःपट्टिकाओं (End-organs or Endplates) में बनती है। उनका यह भी विचार है कि ऐड्रिनेलिन की क्रिया केवल आवश्यकता पड़ने पर होती है। अकस्मात् आक्रमण, दुर्घटनाओं, भय आदि के समय इसकी उत्पत्ति और क्रिया होती है। साधारणतया नहीं होती। जिन पशुओं में अधिवृक्क के अन्तस्था भाग को काट कर निकाल दिया गया उनकी दशा पूर्ववत् रही। उनको कोई हानि नहीं पहुँची। इससे यही समझा गया कि अनुकम्पीतन्त्र इसकी क्रिया को पूरी कर देता है।

प्रान्तस्था भाग शरीर के लिए आवश्यक है। उसको काट कर निकाल देने से १०,१५ दिन में जन्तु की मृत्यु हो जाती है। काट कर निकालने के पश्चात् ही उसका शरीर का ह्रास होने लगता है। भूख जाती रहती है। जन्तु चलने-फिरने में भी असमर्थ हो जाता है और अन्त को उसका देहान्त हो जाता है। जन्तु में विशेष परिवर्तन उसके रक्त में मिलता है। रक्त में जल और ग्लूकोज तथा सोडियम क्लोराइड कम हो जाते हैं। अन्य लवणों की मात्रा बढ़ जाती है। रक्त गाढ़ा हो जाने से वृक्क अपना कर्म ठीक प्रकार से नहीं कर पाते। इससे विद्वानों का विचार है कि इस भाग में एक ऐसा हारमोन बनता है जो जल और सोडियम क्लोराइड के संग्रह और त्याग का नियन्त्रण करता है। उसकी अनुपस्थिति के कारण रक्त से जल ऊतकों में खिंच जाता है तथा शरीर से सोडियम क्लोराइड की अधिक मात्रा का त्याग होता है।

इसके अतिरिक्त निम्नलिखित हारमोन भी इस भाग में बनते हैं :

(१) **कौर्टिन** (Cortin) : इसको जीवन के लिए आवश्यक माना गया है।

(२) **न्यूमिन** (Pneumin) : इससे श्वास क्रिया बढ़ती है।

(३) **कोर्टियोलैक्टिन** (Cortiolactin) : इससे स्तन की वृद्धि होती है तथा उसमें अधिक दूध उत्पन्न होता है।

(४) **कोर्डियासिन** (Cordiasin) : इससे हृदय उत्तेजित होता है।

इस भाग का प्रजनन शक्ति से सम्बन्ध है। इस भाग में अर्बुद हो जाने से जननेन्द्रियाँ बड़ी हो जाती हैं और मैथुन की इच्छा भी अधिक होने लगती है।

पीयूषिका ग्रन्थि (Pituitary gland)

यह बड़ी अद्भुत ग्रन्थि है। आकार में ¼ इंच से अधिक लम्बी नहीं है। लम्बूतरे आकार की यह ग्रन्थि मस्तिष्क के तल पर दृष्टि स्वस्तिक (Optic Chiasma)
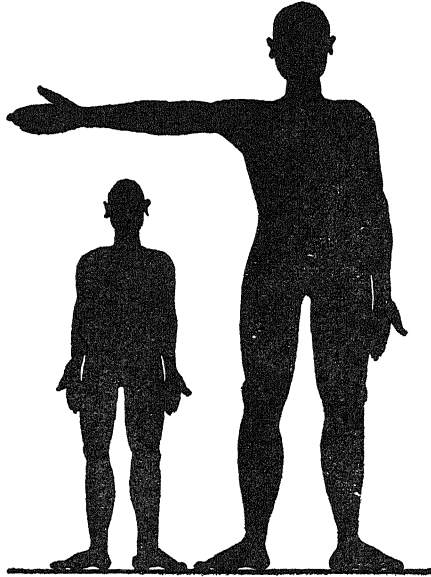
चित्र १५८—पीयूषिका ग्रन्थि के कारण वृहत्कायता

के तनिक पीछे से निकल कर एक डंठल के समान रचना द्वारा नीचे को लटकी रहती है जहाँ वह जतूकास्थि (Sphenoid) के मध्य भाग पर एक खात में स्थित है। यह

ग्रन्थि शरीर की अन्य सब ग्रन्थियों का नियन्त्रण करती है और प्रायः शरीर की सब क्रियाएँ इसके द्वारा प्रभावित होती हैं। जीवन के लिए यह आवश्यक अंग है।

इस ग्रन्थि के भी दो खंड हैं, अग्र और पश्च (Anterior and Posterior)। वे एक पतले संकुचित भाग द्वारा जुड़े हुए हैं जिसको मध्यांश (Pars Intermedia) कहते हैं। दोनों खंडों की उत्पत्ति भी भिन्न है। पूर्वांश या पूर्व खंड मुख गुहर को बनाने वाले भागों से उत्पत्ति काल में एक फूले हुए भाग के आकार में निकल कर ऊपर को चला जाता है और पश्चिमांश ऊपर स्थित मस्तिष्क भाग से नीचे को एक प्रवर्धन की भाँति निकल कर पूर्वांश पर जाकर बैठ जाता है। दोनों के बीच में मध्यांश एक दरार के समान रह जाता है।

ग्रन्थि के पूर्व खंड के कर्म : इस खंड में दस से भी अधिक हारमोन बनते हैं। एक हारमोन का संबंध केवल शरीर की वृद्धि से है। उसकी अति क्रिया से या अधिक हारमोन बनने से शरीर बहुत लम्बा चौड़ा हो जाता है। इसको **अतिकायता या जाइगैन्टिज्म** (Gigantism) कहते हैं। कभी-कभी ८ फुट तक लम्बे व्यक्ति मिल जाते हैं। वे इस हारमोन की अति क्रिया का फल होते हैं। इसी प्रकार बाल्यकाल में हारमोन के ह्रास से **वामनता** (Dwarfism) उत्पन्न हो जाती है। शरीर की वृद्धि नहीं होती। ये बौने कहलाते हैं।

अधिवृक्क, गलग्रन्थि तथा प्रजनन ग्रन्थियों के पोषक हारमोन भी पिट्यूटरी के पूर्व खंड में बनते हैं जिनको **अधिवृक्कपोषी** (Adrenotrophic), **गलग्रन्थिपोषी** (Thyrotrophic) और **प्रजनन ग्रन्थि पोषी** (Gonadotrophic) हारमोन कहते हैं।
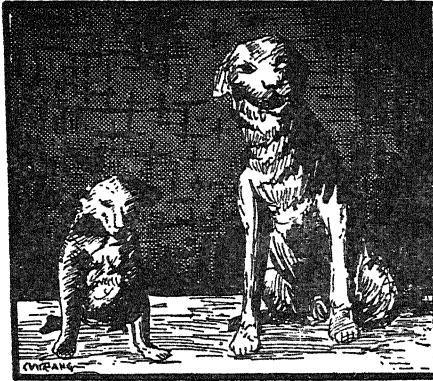
चित्र १५९—पूर्वांश के स्राव की कमी से अस्थि-वृद्धि नहीं हुई है

प्रोलैक्टिन (Prolactin) नामक हारमोन स्तनों में दूध की उत्पत्ति को बढ़ाता है। कार्बोहाइड्रेट तथा स्नेह के पाचन और स्वांगीकरण के लिए दो हारमोन होते हैं।

एक हारमोन चयापचय (Metabolism) के कर्म का नियन्त्रण करता है। यकृत तथा अग्न्याशय की क्रिया को नियन्त्रित करने वाले दो हारमोन हैं। एक हारमोन रक्त की उत्पत्ति से सम्बन्धित है।

पश्चिम खंड के हारमोन : इस खंड में चार हारमोन बनते हैं। दो हारमोन इस खंड के सत्व में होते हैं जो पिटचूटरीन कहलाता है। इन दोनों को पिट्रेसीन (Pitressin) और पिटोसीन (Pitocin) कहते हैं। पिट्रेसीन की विशेष क्रिया गर्भाशय पर होती है। १००००००० भाग जल में शुद्ध पिट्रेसीन का १ भाग मिला कर देन से गर्भाशय में संकोच होने लगता है।

पिटोसीन हृदय का उत्तेजक है। उससे रक्त दाब बढ़ जाती है। शेष दो हारमोन कार्बोहाइड्रेट के चयापचय और यकृत से ग्लाइकोजन को निकालने की क्रिया करते हैं।

पैराथाइराइड या परावटुका ग्रन्थियाँ (Parathyroids)

ये छोटी-छोटी चार ग्रन्थियाँ होती हैं। थाइराइड ग्रन्थि के पीछे की ओर, उसके सम्पुट से संयुक्त, एक ग्रन्थि ऊपरी ध्रुव और दूसरी नीचे के ध्रुव के पास स्थित हैं। इस प्रकार दोनों ओर चार ग्रन्थियाँ हैं। थाइराइड का छेदन करने के समय इनको बचाने के लिए विशेष ध्यान रखना पड़ता है। नहीं तो, थाइराइड के साथ इनके निकल जाने की भी बहुत संभावना रहती है।

इन ग्रन्थियों का कैलशियम के चयापचय से विशेष सम्बन्ध मालूम होता है। प्रयोगों में जिन जन्तुओं के शरीर से इन ग्रन्थियों को निकाल दिया गया उनके शरीर में कैलशियम की कमी हो गई। सारे शारीर में वाँयठे आने लगे, हृदय की धड़कन बढ़ गई, श्वास लेने में भी कष्ट होने लगा और अन्त को मृत्यु हो गई।

मनुष्य में इतने बुरे परिणाम नहीं होते। उनमें टिटेनी (Tetany) नामक रोग हो जाता है। यह बच्चों को अधिक होता है। हाथों और पाँवों में वाँयठे आते हैं। आक्रमण के समय मुँह टेढ़ा हो जाता है। कैलशियम के इन्जैक्शन और विटामिन डी देने से लाभ होता है।

विटामिन डी और इस ग्रन्थि का कैलशियम के चयापचय से विशेष सम्बन्ध है।

मैथुन ग्रन्थियाँ

पुरुष की मैथुन ग्रन्थि अंड ग्रन्थि है और स्त्री की डिम्ब ग्रन्थि।

वृषण या अंड ग्रन्थि (Testes)—अंडकोष में दाहिनी और बाईं ओर दो अंड ग्रन्थियाँ होती हैं। इन ग्रन्थियों का कर्म **शुक्राणुओं** (Spermatozoa) को उत्पन्न करना है। ये ही पुरुष गर्भोत्पादक अवयव होते हैं। इनका वर्णन अगले परिच्छेद में किया जायगा।

इस ग्रन्थि में एक हारमोन बनता है जिसको **पुरुष हारमोन** (Male Hormone) कहते हैं। ग्रन्थि के भीतर जिस भाग में यह हारमोन बनता है वह **अन्तरालीय ऊतक** (Interstitial Tissue) कहलाता है और उसकी कोशिकाओं को लेडिग की कोशिका कहा जाता है। इन कोशिकाओं द्वारा जो हारमोन बनता है उसको **टेस्टोस्टेरोन** (Testosterone) कहते हैं। इसका शोषण सीधा रक्त में हो जाता है। यही हारमोन पुरुष में पुरुषत्व उत्पन्न करने वाला है। युवावस्था प्राप्त होने पर पुरुष के शरीर में जो परिवर्तन होते हैं उनका यही कारण है। मैथुन की इच्छा, मैथुन अंगों का विकास, छाती पर बालों का उगना, बोली का भारी हो जाना, ये सब इस हारमोन की क्रिया का परिणाम होते हैं। जिन दशाओं में इस हारमोन की उत्पत्ति बन्द हो जाती है या उसका ह्रास हो जाता है तो मैथुन शक्ति का भी ह्रास हो जाता है। मैथुन की सामर्थ्य जाती रहती है। जन्तुओं पर जो प्रयोग किये गये हैं उनके भी ऐसे ही परिणाम निकले हैं।

डिम्ब ग्रन्थि (Ovary)

ये ग्रन्थियाँ स्त्रियों के शरीर में होती हैं। श्रोणि में गर्भाशय के दोनों ओर एक-एक ग्रन्थि स्थित है। इनका विशेष कर्म डिम्ब (Ovum) का उत्पादन है जिसके साथ शुक्राणु के संयोग से गर्भ की स्थापना होती है। इस ग्रन्थि में दो हारमोन बनते हैं, एक ईस्ट्रिन (Oestrin) और दूसरा प्रोजेस्टिन (Progestin) कहलाता है।

ईस्ट्रिन : पुरुष हारमोन के समान है। स्त्री को स्त्रीत्व प्रदान करने वाला यही है। यह स्त्री अंगों को गर्भ धारण करने के योग्य बनाता है। आर्त्तव (Menstruation) उत्पन्न करना इसी का काम है। आर्त्तव के समय तथा उसके पश्चात् योनि, गर्भाशय आदि में जो परिवर्तन होते हैं उनका कारण यही हारमोन होता है।

दूसरा हारमोन प्रोजेस्टिन है। इसका काम गर्भ को पालना और उसकी वृद्धि करना है। यह हारमोन वास्तव में पीतपिंड (Corpus Luteum) से उत्पन्न होता है जो आर्त्तव के पश्चात् डिम्ब ग्रन्थि में डिम्बकोष के फटने से बनता है। कोष के फट जाने पर डिम्ब तो निकल जाता है किन्तु उस गढ़े में कुछ रक्त एकत्र हो जाता है। कुछ समय में वहाँ जमे हुए रक्त-पिंड का रंग पीला हो जाता है। यही पीतपिंड कहा जाता है। इससे प्रोजैस्टिन नामक हारमोन बनता है। गर्भ की स्थापना के पश्चात् इस पिंड का आकार बढ़ जाता है क्योंकि उसको अधिक हारमोन बनाना पड़ता है। गर्भ की वृद्धि, अपरा, जिसको गर्भकमल (Placenta) भी कहते हैं, की उत्पत्ति भी इसी हारमोन का काम है। गर्भ की स्थापना न होने पर पीत पिंड नष्ट हो जाता है और यह हारमोन नहीं बनता। पिटयूटरी के पूर्वांश में उत्पन्न होने वाले प्रोलान-ए और प्रोलान-बी (Prolan-B) का ईस्ट्रिन और प्रोजेस्टिन की उत्पत्ति से विशेष सम्बन्ध है।

बारहवाँ परिच्छेद

प्रजनन अथवा सन्तानोत्पत्ति

(Reproduction)

प्रकृति अपनी सृष्टि की सदा रक्षा करती है। उसको नाश न होने देना सदा प्रकृति को अभीष्ट है। इस कारण उसने प्रत्येक जीवित वस्तु को अपने ही समान जीव को उत्पन्न करने की शक्ति दी है। उसने समस्त जीवित वर्ग को इन साधनों से सम्पन्न किया है जिनसे वे अपनी जाति को निरन्तर बनाये रखें, उसको अक्षुण्ण रख सकें और नष्ट न होने दें। इसी अभिप्राय से उसने प्रजनन अंगों को बनाया है। जितने उच्च श्रेणी के जन्तु हैं उनमें स्त्री और पुरुष अंग पृथक्-पृथक् व्यक्तियों में होते हैं। स्त्री और पुरुष जाति ही भिन्न होती हैं। निम्न श्रेणी के कुछ जन्तुओं में एक ही शरीर में दोनों अंग होते हैं जिनसे नवीन जन्तु की उत्पत्ति होती है। अत्यन्त निम्नतम जीवों के शरीर दो में विभक्त हो जाते हैं जिससे एक में दो जीव बन जाते हैं। इस प्रकार वे अपने वंश की रक्षा करते हैं और अपनी संख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि करते रहते हैं।

मनुष्य प्राणी वर्ग का स्वामी है। वह विकास-क्रम की उच्चतम सीढ़ी पर स्थित है, विकास-शृंखला का सिरमौर है। अतएव उसमें पुरुष और स्त्री दोनों जातियाँ ही पृथक् हैं। स्त्री प्रजनन अंगों से युक्त शरीर को स्त्री कहा जाता है और पुरुष प्रजनन युक्त शरीर को पुरुष। इन दो प्रकार के अंगों में उत्पन्न हुए अवयवों के संयोग से नवीन मानव शरीर का निर्माण होता है।

पुरुष प्रजनन अंगों की रचना : अंड ग्रन्थि, शुक्र वाहनी, शुक्राशय तथा शिश्न पुरुष के प्रजनन अंग हैं।

अंडग्रन्थि (Testes) : अंडकोष में लम्बूतरे आकार की दो ग्रन्थियाँ स्थित हैं जो एक रज्जु के समान रचना के द्वारा लटकती रहती हैं। इनमें बाहर एक कठिन, श्वेत रंग का तन्तु ऊतक का बना हुआ आवरण होता है। इस आवरण से आठ या दस फलक भीतर को चले गये हैं जिनसे ग्रन्थि का आभ्यन्तर कोष्ठों में विभक्त हो गया है। प्रत्येक कोष्ठ में **शुक्र प्रणालिकायें** (Seminiferous Tubules) भरी हुई हैं। ये बड़ी बारीक नलिकायें हैं जो गुच्छों के रूप में कोष्ठों में स्थित हैं। सारी अंड ग्रन्थि में इन नलिकाओं की संख्या लगभग १००० है। यदि इन सब नलिकाओं को खोल कर उनकी एक लम्बी रेखा बना दी जाय तो लगभग आधी मील लम्बी रेखा बन जायगी। प्रत्येक प्रणालिका २ या ३ फुट लम्बी है। इन नलिकाओं ही में शुक्राणु उत्पन्न होते हैं। ये ही

नलिकायें १० या १२ कोष्ठों में गुच्छों के रूप में स्थित हैं। प्रत्येक कोष्ठ की नलिकायें आपस में जुड़कर एक छोटी सीधी नलिका बना देती हैं। इस प्रकार कोष्टों से निकलने वाली दस-बारह नलिकायें अपने प्रथम भाग में और अनुप्रस्थ दिशा में सीधी हैं किन्तु शीघ्र ही अंड के निचले सिरे से ऊपर के सिरे की ओर अनुदैर्घ्य दिशा में चली जाती हैं। अंड के ऊपरी ध्रुव के पीछे की ओर से ७ या ८ नलिकायें निकलती ह और गुच्छों के रूप में अंड के ऊपरी ध्रुव से निचले ध्रुव तक एक तान्तव आवरण से आच्छादित होकर एक लम्बा मड़ा हुआ, अंग्रेजी के कौमा (,) आकार का अंग बना देती हैं जिसको उपाण्ड (Epididymis) कहते हैं। यह अंग अंड के साथ जुड़ा हुआ है। प्रणालिकायें इसको भरे हुए हैं और टेढ़ी-मेढ़ी के रूप में स्थित हैं। निचले सिरे पर इन नलिकाओं के जुड़ने में **शुक्रवहा** (Vas Deferens) नलिका बनती है जो सीधी ऊपर को अंडधारक रज्जु (Cord) में होती हुई शुक्राशय में चली जाती है।
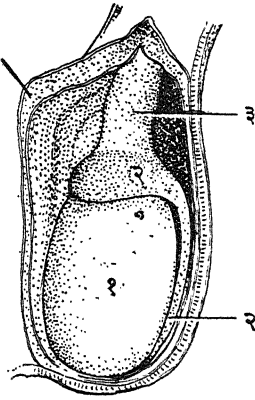
चित्र १६०—अंडकोष में अंड ग्रन्थि
[१—अंडग्रन्थि २, २—उपाण्ड और उसका पुच्छ भाग ३—अंड रज्जु (Spermatic Cord)]
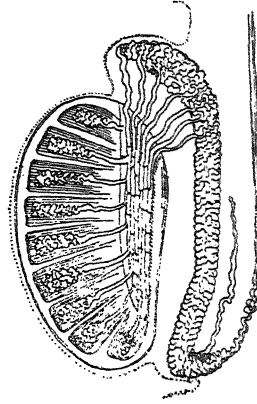
चित्र १६१—अंड तथा उपाण्ड की आन्तरिक रचना

इस रज्जु में अंड को आने वाली धमनी, शिरायें तथा शिराजालिका (Pampiniform Plexus) होती ह जिन पर एक आवरण चढ़ा रहता है। शुक्रवाहिका इस रज्जु से पृथक् किन्तु अवकाशी ऊतक द्वारा उससे जुड़ी रहती है।

शुक्राशय (Seminal Vesicles) : ये दो थैले हैं जो मूत्राशय के पीछे की ओर स्थित हैं। प्रत्येक की लम्बाई लगभग दो इंच है और चौड़ाई एक इंच। इनमें कुछ फूले हुए से भाग हैं। प्रत्येक थैले में एक शुक्रवाहिनी आकर खुलती है जिसके द्वारा अंडग्रन्थि की नलिकाओं में उत्पन्न हुए शुक्राणु एक तरल द्रव के साथ यहाँ आकर एकत्र होते हैं। प्रत्येक थैले से एक नलिका निकल कर मूत्र मार्ग में जाकर एक सूक्ष्म छिद्र द्वारा खुलती है।

वीर्य या शुक्र (Seminal Flind) : ये एक गाढ़ा लसदार दूध के समान श्वेत रंग का पदार्थ होता है जो मैथुन के समय पुरुष इन्द्रिय से निकलता है। इसमें विशेष भाग शुक्राणुओं का होता है। किन्तु नलिकाओं में उत्पन्न हुआ एक द्रव भी होता है। शुक्राशय में भी एक द्रव बनता है। शिश्न में मूत्रमार्ग के बाहर कई छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ हैं जो कूपर की ग्रन्थि (Cowper's Gland) कहलाती हैं। इनमें भी एक तरल द्रव्य बनता है। ये सब द्रव्य वीर्य में मिल जाते हैं। और जब वीर्य शिश्न से बाहर निकलता है तो इन द्रव्यों के मिश्रण में शुक्राणु तैरते रहते हैं।

शुक्राणु (Spermatozoa) : वीर्य के ये ही मुख्य अवयव हैं जो गर्भ की उत्पत्ति का कारण होते हैं। चित्र १६३ में दो शुक्राणु दिखाये गये हैं, एक सामने से पीछे की ओर की दिशा में और दूसरा पार्श्व दिशा में। सबसे ऊपर जो उसका मोटा भाग है, जिसमे
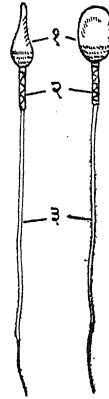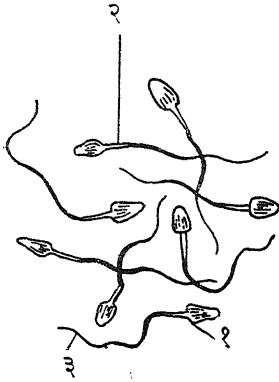
चित्र १६२—शुक्राणु
[१—सिर २—ग्रीवा ३—पुच्छ]

चित्र १६३—मनुष्य के शुक्राणु, सामने तथां पार्श्व की ओर से

पहले चित्र में नोक दीख रही है वह उसका शिर (Head) है। इसके भीतर एक बड़े आकार का केन्द्रक है जिसके चारों ओर थोड़ा जीवसार है। शिर के पीछे ग्रीवा (Neck) है। उसके पीछे लम्बी पूँछ है जिससे शुक्राणु गति करते हैं। सारे शुक्राणु की लम्बाई लगभग $\frac{१}{१०}$ मिलीमीटर होती है। दूसरे चित्र में शुक्राणुओं का एक समूह दिखाया गया है।

यदि वीर्य की एक बूंद को काँच की स्लाइड पर लेकर अणुदर्शी द्वारा देखा जाय तो उसमें सहस्रों शुक्राणु बड़ी तेजी से गति करते दिखाई देंगे। ऐसा दीखेगा जैसे उनमें भगदड़ मच रही हो, बड़ी शीघ्रता से कहीं भाग कर चले जाने को उत्सुक हों। शुक्राणु बाल्य काल में ग्रन्थि में नहीं उत्पन्न होते। युवावस्था में उत्पन्न होते हैं और २२ से २४ वर्ष की अवस्था में परिपक्व होते हैं।

यदि एक शुक्राणु को और भी परिवर्धित करके देखा जाय जिसके लिए विशेष अणु-दर्शी की आवश्यकता है, तो उसके शिर में कुछ सूत्र दिखाई देंगे। ये पित्र्य सूत्र या क्रोमोसोम (Chromosome) कहलाते हैं। ये ही माता-पिता के गुणों को सन्तान में पहुँचाने वाले होते हैं। आनुवंशिकता (Heredity) स्थापित करने वाले ये सूत्र ही हैं। इन्हीं के कारण आनुवंशिक (Hereditary) गुण पितृ और मातृ वर्ग दोनों से सन्तान में आते हैं। व्यक्ति का वर्ण, उसके चेहरे की आकृति, लम्बाई, शरीर की बनावट आदि के विधायक ये क्रोमोसोम ही होते हैं।

शिश्न (Penis) : यह मैथुन का अंग है। इसका प्रयोजन शुक्राणुओं को स्त्री में योनि द्वारा गर्भाशय तक पहुँचा देना है। यह अंग तीन लंबी-लम्बी दंडिकाओं का वना है जिन पर त्वचा चढ़ी हुई है। ये दंडिकायें कुछ संयोजी ऊतक से जुड़ी रहती हैं। दो दंडिकायें सामने या ऊपर पास-पास स्थित हैं। ये **शिश्न रक्तधर काय** (Corpora Cavernosa Penis) कहलाती हैं। तीसरी दंडिका दोनों के नीचे की ओर स्थित है। इसमें होकर मूत्रमार्ग जाता है। इस कारण इसको **शिश्न मूत्रपथ काय** (Corpus Cavernosum Urethrae) कहते हैं। इसका अग्र भाग चौड़ा हो गया है और शिश्न का अग्र भाग बनाता है जिसको शिश्न मुंड (Glans Penis) कहा जाता है। शिश्न पर की त्वचा का एक भाग इसको ढके रहता है। किन्तु वह पीछे को खींचने पर खिंच जाता है और मुंड खुल जाता है। इसको शिश्नाग्रच्छद (Prepuce) कहते हैं।
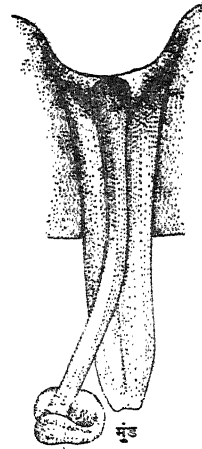
चित्र १६४—शिश्न की रचना

दंडिकायें जिस ऊतक की बनी हुई हैं वह एक विशेष प्रकार का ऊतक है। उसके भीतर छोटे-छोटे खाली स्थान हैं जिनमें शिराओं से आकर रक्त भर जाता है जिससे दंडिकायें फूल जाती हैं और कड़ी हो जाती हैं। यह **प्रहर्षण** (Erection) कहलाता है और जिस ऊतक की ये बनी हैं वह **उच्छ्रायी ऊतक** (Erectile Tissue) कहा जाता है।

मैथुन के समय शिश्न का प्रहर्षण हो जाता है। प्रहर्षण एक मानसिक क्रिया है जो तन्त्रिकाओं द्वारा सम्पादित होती है। अनुकम्पी और सहानुकम्पी तन्तुओं द्वारा इस क्रिया का आयोजन होता है। सहानुकम्पी तन्तुओं से उत्तेजना आने पर दंडिकाओं में रक्त का प्रवाह अधिक हो जाने से उनमें रक्त भर जाता है। एक संवरणी पेशी (Sphincter) रक्त को दंडिकाओं से लौटा कर ले जाने वाली शिराओं के मुखों को बन्द कर देती है। इससे शिश्न का प्रहर्षण हो जाता है। वह कड़ा हो जाता है। मैथुन के पश्चात् संवरणी

पेशी अनुकम्पी तन्तुओं की क्रिया से ढीली पड़ जाती है, रक्त लौट जाता है जिससे प्रहर्षण समाप्त हो जाता है।

मैथुन का प्रयोजन केवल सन्तानोत्पत्ति है। उसका अन्त स्खलन (Discharge, Ejaculation) में होता है जिससे वीर्य गर्भाशय के मुख पर पहुँच जाता है और शुक्राणुओं को डिम्ब से संयोग करने का अवसर मिलता है।

नारी प्रजनन अंग: स्त्री जाति में डिम्ब ग्रन्थि, डिम्बवाहनी, गर्भाशय, योनि या योनि-पथ तथा भग प्रजनन अंग होते हैं।

डिम्ब ग्रन्थि (Ovary) : पुरुष की अंडग्रन्थि के समान स्त्री शरीर में डिम्ब ग्रन्थि होती है जो डिम्बों का उत्पादन करती हैं। ये दो ग्रन्थियाँ हैं जो श्रोणि में गर्भाशय के दोनों ओर पर्युदर्या कला (Peritoneum) के एक विशेष भाग में स्थित है जिसको
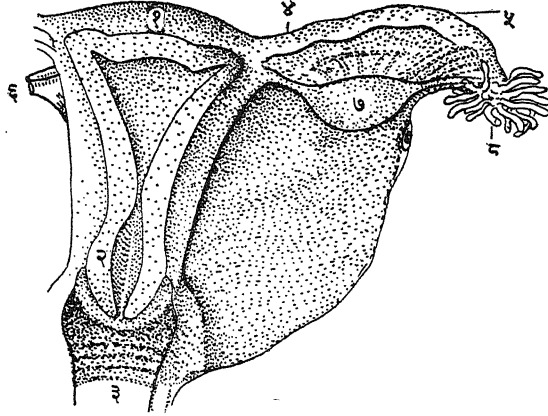
चित्र १६५—नारी प्रजनन अंग

[१—गर्भाशय का गात्र २—गर्भाशय ग्रीवा ३—योनि ४—डिम्ब प्रणाली ५—डिम्ब प्रणाली का मध्य भाग ६—परिदीर्घ स्नायु ७—डिम्ब ग्रन्थि ८—डिम्ब वहा का अन्तिम झालर से समान भाग]

पृथु स्नायु (Broad Ligament) कहते हैं। यह स्नायु ग्रन्थि और डिम्बवाहनी से गर्भाशय तक फैला हुआ है। इस ग्रन्थि की लम्बाई १ इंच तथा चौड़ाई और मोटाई लगभग ½ इंच है। वह आकार में बदाम के समान दीखती है। इन ग्रंथियों का रंग भूरा है।

इस ग्रन्थि पर एक उपकला चढ़ी रहती है जो **जनन उपकला** (Germinal Epithelium) कही जाती है। यह कला जहाँ-तहाँ ग्रन्थि के भीतर चली जाती है जहाँ उससे उत्पादक या **ग्रेफ़ियन पुटिका** (Grafin Follicle) बनती हैं। बनने के समय उपकला की कोशिकायें दो स्तरों में विभाजित हो जाती हैं। एक बड़ी कोशिका

बीच में स्थित होती है और शेष उसके चारों ओर एक कोष या सम्पुट सा बना लेती हैं। वहाँ कुछ द्रव भी उत्पन्न हो जाता है। बीच की कोशिका डिम्ब (Ovum) बन जाती है और चारों ओर की कोशिकाओं से निर्मित कोष के भीतर द्रव में पड़ी रहती है। यही पूर्ण पुटी (Follicle) है।

धीरे-धीरे पुटी परिपक्व होती है। उसका आकार बढ़ता है। उसमें द्रव की मात्रा बढ़ जाती है और वह भीतर से ग्रन्थि के पृष्ठ पर आ जाती है। अन्त को द्रव के अधिक बढ़ने से पुटी का कोष फट जाता है और पपिक्व डिम्ब ग्रन्थि से बाहर चला आता है। ग्रन्थि के पास ही डिम्ब वाहनी का झालरदार अंतिम भाग स्थित है। डिम्ब उधर ही चला जाता है और इस अंतिम भाग के मुख द्वारा प्रविष्ट होकर वाहनी के भीतर गर्भाशय की ओर यात्रा आरम्भ करता है। इस नलिका में उसका शुक्राणु से संयोग होता है; यदि संयोग नहीं होता तो वह नष्ट हो जाता है।

प्रत्येक मास में एक डिम्ब पुटिका परिपक्व होती है और उसके फटने पर एक डिम्ब बाहर निकलता है। यह क्रिया **डिम्बक्षरण** (Ovulation) कहलाता है। आर्त्तव के ११ से १५ वें दिन के बीच में एक डिम्ब बाहर आता है। जन्म के समय डिम्ब ग्रन्थि में लगभग ६००० डिम्ब पुटिका होती हैं। इन्हीं का विकास या परिपक्वीकरण होता रहता है। नई पुटी नहीं उत्पन्न होती। यह अनुमान किया जाता है कि जीवन में ४०० से अधिक पुटी परिपक्व नहीं होतीं। डिम्ब के निकलने के पश्चात् पुटी के कोप के फटने और उसमें रक्त के जमा होने से जो पीत पिंड बनता है उसका पहले उल्लेख किया जा चुका है। इसी पिंड से गर्भपालक अन्तःस्राव प्रोजैस्टिन बनता है।

डिम्बवाही नली (Fallopian Tube, Oviduct) : ये नली गर्भाशय के ऊर्ध्व भाग के दोनों कोनों से निकल कर बाहर को चली जाती हैं और फिर नीचे को मुड़ जाती है जहाँ उनका झालरदार मुख डिम्ब ग्रन्थि के पास ही स्थित है। इस नली की लम्बाई लगभग ४ इंच है। ये नलियाँ भीतर से रोमिक उपकला से आच्छादित हैं। इन नलियों में होकर डिम्ब गर्भाशय की ओर आता है। और इस कला की रोमिकायें उसकी यात्रा में सहायता करती हैं।

शुक्राणु के साथ डिम्ब का इस नली ही में संयोग होता है। इस संयोग ही का नाम गर्भाधान है। इसी क्रिया को **संसेचन** (Fertilization) कहा जाता है। गर्भाधान का शब्द केवल मनुष्य के लिए प्रयोग होता है। किन्तु संसेचन शब्द का प्रयोग समस्त जान्तव और वानस्पतिक सृष्टि में पुरुष और स्त्री अवयवों के संयोग के अर्थ में किया जाता है।

इस प्रकार संसेचित डिम्बवाहनी से गर्भाशय में आता है। इस यात्रा में उसको चार दिन लग जाते हैं। इन चार दिनों में उसमें बहुत से परिवर्तन हो चुकते हैं। जब वह

गर्भाशय में लौट कर पहुँचता है तो उसमें इतनी शक्ति आ जाती है कि वह गर्भाशय की दीवार में एक गढ़ा खोद कर अपने को वहाँ स्थापित कर लेता है। वहाँ उसकी वृद्धि होती है जिससे नौ मास में बढ़कर पूरा शिशु हो जाता है।

गर्भाशय (Uterus) : इस अंग का कर्म गर्भधारण करने का है। गर्भ, जो शुक्राणु द्वारा संसेचित डिम्ब का नाम है, की उत्पत्ति डिम्बवाहनी में होती है। किन्तु गर्भाशय उसको ९ मास तक धारण किये रहता है।

चित्र में गर्भाशय, डिम्बवाहनी और डिम्ब ग्रन्थि दिखाई गई हैं। गर्भाशय का आकार उससे स्पष्ट है। उसका ऊपर का भाग **बुध्न** (Fundus)) कहलाता है। उससे नीचे का भाग **ग्रीवा** (Cervix) है जिसका **बहिःमुख** (External Os) योनि में और **अन्तर्मुख** (Internal Os) गर्भाशय के बुध्न में खुलता है। साधारण अवस्था में इसकी लम्बाई ३ इंच, चौड़ाई २ इंच और मोटाई १ इंच से कुछ अधिक होती है। किन्तु गर्भ की अन्तिम अवस्था तक इसमें ७५० गुणा वृद्धि हो जाती है।

गर्भाशय की भित्ति विशेषकर मांसपेशी की तन्तुओं की बनी होती है। गर्भकाल में इसी स्तर में सबसे अधिक वृद्धि होती है। इसके भीतर श्लैष्मिक कला का स्तर उसको आच्छादित किये हुए है। इसी में संसेचित डिम्ब की स्थापना होती है। मांस स्तर के बाहर पर्युदरी कला का एक स्तर है। गर्भाशय के दोनों कोनों से जो उसकी तोरणिका या **फार्निकस** (Fornix) कहलाते हैं, एक-एक डिम्बवाहनी निकलती है।

योनि पथ या योनि (Vagina, Vaginal Canal) : यह पथ या नलिका भगोष्ठों (Labia Majora Minora) के बीच भग या योनि द्वार (Vulva) से गर्भाशय की ग्रीवा के बाहरी द्वार तक फैली हुई है। कुमारी कन्या में इसकी सामने की ओर की लम्बाई ढाई इंच और पीछे की लम्बाई तीन इंच होती है। इसकी दीवारें पेशियों और एक लचकीली कला की बनी होती है और उनमें विशेषकर ऊपर के भाग में बहुत-सी सिलवटें पड़ी हुई हैं। इस पथ के ऊपर के कोने **फार्निक्स** कहलाते हैं जो गर्भमुख के सामने, पीछे और दोनों पार्श्वों में स्थित हैं।

आर्त्तव (Menstruation) : प्रत्येक स्त्री को उसके गर्भोत्पत्तिकाल में अर्थात् १३ या १४ वर्ष की आयु से लेकर ४५ से ५० वर्ष की आयु तक यह घटना घटती है जिसको **रजोधर्म** या **मासिक धर्म** या आर्त्तव कहते हैं। प्रत्येक २८ दिन के अन्तर पर योनि से रक्त के समान लाल रंग का पदार्थ निकलता है जो देखने में रक्त ही के समान होता है। किन्तु उसके अवयव कुछ भिन्न होने से वह जमता नहीं। यह घटना तीन दिन तक होती है। प्रथम दिन आरम्भ में थोड़ा स्राव होता है, दूसरे दिन बढ़ जाता है, अधिक स्राव निकलता है, तीसरे दिन कम हो कर बन्द हो जाता है। प्रथम बार होने पर उसको **रजोदर्शन** कहते हैं। इसका अर्थ है कि कन्या अब युवती हो गई है, उसके अंग प्रजनन

योग्य हो गये हैं। गर्भाशय गर्भधारण करने योग्य है। हमारे देश मे प्राय: १३ वर्ष की आयु से आर्त्तव होने लगता है। ४५ और ५० वर्ष के बीच में बन्द हो जाता है। इसको **रजोनिवृत्ति** (Menopause) कहते हैं। इसके पश्चात् डिम्बक्षरण बन्द हो जाता है। इसका अर्थ है कि सन्तानोत्पत्ति का काल समाप्त हो गया।

आर्त्तव प्रारम्भ होने से पूर्व गर्भाशय की श्लैष्मल कला सूज जाती है। उसके नीचे जहाँ-तहाँ रक्त एकत्र हो जाता है और वह मांस स्तर से पृथक् हो जाती है। जब अधिक रक्त आता है तो वह फट जाती है और रक्त निकलना प्रारम्भ हो जाता है। किन्तु कैलसियम न होने से वह जमता नहीं। इस प्रकार प्रत्येक आर्त्तव में गर्भाशय की श्लैष्मल कला नष्ट होकर निकल जाती है और उसके स्थान में नई कला उत्पन्न होती है। यदि संसेचित डिम्ब आर्त्तव के पश्चात् आकर गर्भाशय में स्थापित हो जाता है तो फिर दूसरा आर्त्तव नहीं होता। यदि संसेचन नहीं होता तो आर्त्तव होता रहता है।

योनि पथ की श्लैष्मिक कला में भी ऐसे ही परिवर्तन होते हैं। उससे भी रक्त निकलता है।

डिम्ब ग्रन्थि के परिवर्तनों को पहले बताया जा चुका है। इसमें भी रक्त संचार अधिक होता है। ग्रन्थि सूजी हुई सी दीखती है और डिम्बपुटिका के फटने से डिम्बक्षरण होता है। यदि गर्भ रह जाता है तो पीतपिंड बनता है और गर्भावस्था के अन्त तक बना रहता है। गर्भ न होने पर नहीं बनता। आर्त्तव आरम्भ होने के एक सप्ताह पूर्व से गर्भाशय डिम्बग्रन्थि और योनि में परिवर्तन होने प्रारम्भ हो जाते हैं। यह पूर्व आर्त्तव काल (Premenstrual Cycle) कहलाता है। इसी प्रकार आर्त्तव के पश्चात् अंगों को अपनी सामान्य दशा को लौटने में एक सप्ताह लग जाता है जो पश्चात् आर्त्तव काल (Postmenstrual Perido) कहा जाता है। शेष आर्त्तव काल होता है। इस समस्त काल को **आर्त्तवचक्र** (Menstrual Cycle) कहते हैं। यह चक्र प्राय: २८ दिन का होता है। किसी-किसी स्त्री में २४ दिन का और किसी में ३० दिन का चक्र भी पाया जाता है।

गर्भोत्पत्ति : शुक्राणु और डिम्ब का डिम्बवाहनी से सम्मेलन होता है। जब शुक्राणु डिम्ब के पास पहुँचता है तो डिम्ब में एक स्थान पर उभार-सा बन जाता है। शुक्राणु लपक कर उसी पर जा चिपटता है और उसका नुकीला सिर डिम्ब में प्रविष्ट हो जाता है। और सब भागों का लय हो जाता है, केवल केन्द्रक रह जाता है इस प्रकार इस समय डिम्ब रूपी कोशिका में दो केन्द्रक हो जाते हैं जो पुरुष पूर्व-केन्द्रक और स्त्रीपुर: केन्द्रक (Male and Female Pronucleus) कहलाते हैं। ये दोनों केन्द्रक कुछ परिवर्तनों के पश्चात् मिल कर एक हो जाते हैं। दोनों केन्द्रकों के सूत्र समूहों में, जिनको क्रोमोसोम कहा गया है, विशेष परिवर्तन होते हैं। उनका विभाग

हो जाता है और वे फिर से क्रमबद्ध होते हैं। कोशिका में क्रोमोसोमों की विशिष्ट संख्या हो जाती है। मनुष्य की कोशिकाओं में इनकी संख्या ४८ होती है।
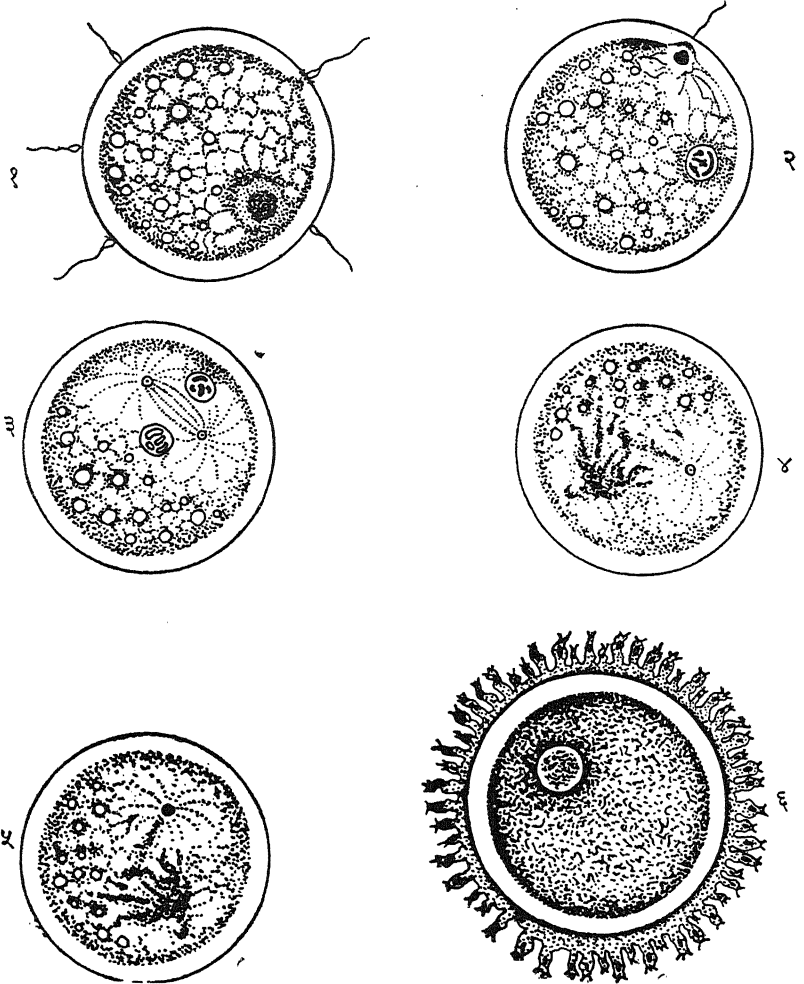
चित्र १६६—१,२,३,४,५—एक शुक्राणु के डिम्ब शरीर में प्रवेश करने पर उसके सिर और डिम्ब के केन्द्रक (स्त्री-पुरुष पूर्व केन्द्रक) का एकीकरण होने के पश्चात् कोशिका में विभाजन से अनेक कोशिकायें बन जाती हैं ६—पूर्ण डिम्ब

अब संसेचित डिम्ब एक सामान्य कोशिका की भाँति हो जाता है जिसमें एक केन्द्रक और जीविसार उपस्थित होते हैं। किन्तु इस कोशिका में विभाजित होकर नवीन

कोशिकाओं को बनाने की अपार शक्ति होती है। एक से दो कोशिकाएँ बनता है, दो से चार, चार से आठ, सोलह, बत्तीस, चौंसठ इसी प्रकार द्रुत गति से संख्या बढ़ती जाती है और कोशिकाओं का एक ठोस गुच्छा बन जाता है। यह **मौर्यूला** (Morula)
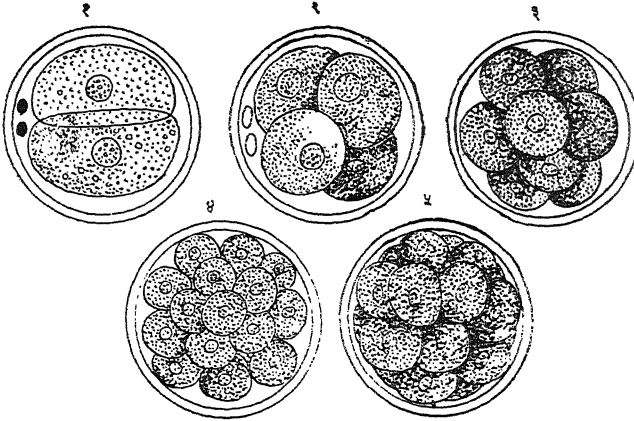
चित्र १६७—कोशिका-विभाजन

अवस्था कही जाती है। फिर कोशिकाओं का बाहर का स्तर भीतर के समूह से पृथक् होकर एक आवरण-सा बना देता है और बीच के कोशिका पिंड से केवल एक स्थान पर जुड़ा रहता है। दोनों के बीच में एक तरल द्रव्य भर जाता है। बाहरी आवरण से अंकुर से निकलने लगते हैं। इस समय तक डिम्ब वाहनी से गर्भाशय में लौट आता है और
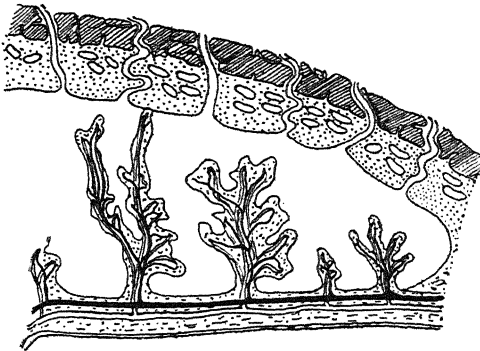
चित्र १६८—अपरा

अपने बाहरी स्तर के अंकुरों से श्लैष्मल कला को खोद कर उसमें गढ़ा बना कर उसी में स्थित हो जाता है। यह स्तर कोरियन और उसके अंकुर कोरियन अंकुर (Chorionic

Villi) कहलाते ह। ये अंकुर बहुत बढ़ जाते हैं और अन्त में **अपरा** (Placenta) के रूप में विकसित हो जाते हैं। बाहर का आवरण कोरियन कला बन जाता है जिसके भीतर डिम्ब से बढ़कर जो अब भ्रूण बन चुका है उसकी वृद्धि होती है। मध्यस्थ कोशिका समूह तीन स्तरों में विभक्त हो जाता है। ये उत्पादक स्तर कहलाते हैं। बाहर का बहिर्जन स्तर, बीच का मध्यजन स्तर और भीतर का अन्तर्जन स्तर कहलाता है।

बहिर्जन स्तर (Ectoderm) : इससे उपत्वचा, त्वचा की ग्रन्थियों, मुख के भीतर की उपकला, नासिकारन्ध्रों की उपकला तथा सारा तन्त्रिका तन्त्र उत्पन्न होता है।

मध्यजन स्तर (Mesoderm) : इससे अस्थियाँ, हृदय, धमनी, शिरायें, उत्सर्जन तन्त्र तथा प्रजनन तन्त्र, प्लीहा और रस वाहिनियाँ बनती हैं।

अन्तर्जन स्तर (Endoderm) : इससे उपकला तथा अन्तर्कला जो अभ्यन्तरांगों तथा आन्त्र नाल आदि को छाये हुए हैं, उत्पन्न होती हैं।

अपरा : अत्यन्त महत्त्वशाली अंग होता है। कोरिमनांकुर से उत्पन्न होकर यह गर्भाशय की भित्ति पर परिचित स्थान में छा जाता है। इसके द्वारा माता के रक्त से पोषण और आक्सिजन **नाभिरज्जु** (Umbilical Cord) द्वारा भ्रूण में पहुँचते हैं और कार्बन डाइ-आक्साइड तथा अन्य विष माता के रक्त में चले जाते हैं। माता और भ्रूण का रक्त कहीं भी मिलने नहीं पाता। पोषण आदि अपरा द्वारा छनकर पहुँचते हैं। भ्रूण का जीवन अपरा पर निर्भर करता है।

दूसरा खंड

तेरहवाँ परिच्छेद

स्वास्थ्य

गत पृष्ठों में हमने शरीर के प्रत्येक तत्व और अंग का भली भाँति अध्ययन किया है। उनकी रचना और कर्म का ज्ञान प्राप्त किया है। हमने देखा कि सब अंगों की सामूहिक क्रिया होती है। उनको क्रिया एक दूसरे पर इस प्रकार निर्भर करती है कि यदि एक की क्रिया में गड़बड़ी आ जाती है तो दूसरे की क्रिया भी उचित प्रकार से नहीं होती। यदि मस्तिष्क को हृदय रक्त भेजना बन्द कर देता है तो वह भी शीघ्र ही अपना काम बन्द कर देता है। यदि फुप्फुस रक्त को पर्याप्त आक्सिजन नहीं दे सकते तो अनेक अंगों में आक्सिजन के न पहुँचने से उनमें होने वाली रासायनिक क्रियाओं में गड़बड़ी आ जाती है। स्वयं मस्तिष्क आक्सिजन की कमी को सहन नहीं कर सकता। उसके कर्म में बाधा पड़ने लगती है। यदि वृक्क शरीर की रासायनिक क्रियाओं में उत्पन्न हुए निकृष्ट पदार्थों का त्याग नहीं कर पाते तो सारा शरीर विषाक्त हो जाता है। सब अंगों की क्रियाओं पर उसका प्रभाव पड़ता है। शरीर के साम्राज्य का सारा काम सहयोग के सिद्धान्त पर होता है। सब अंग पूर्ण सहयोग से काम करते हैं और उससे सब को लाभ होता है। कोई अंग पृथक् होकर अपनी ढपली अपना राग नहीं गा सकता। सब के उपयुक्त कर्म से सब सुखी रहते हैं। एक के दुखी होने से सब दुखी हो जाते हैं।

सब अंगों के उचित प्रकार से सहयोग करके अपने-अपने कर्म को दक्षतया करने ही का परिणाम स्वास्थ्य है। शरीर में बल आता है तथा रोगों का प्रतिरोध करने की शक्ति उत्पन्न होती है। इससे चित्त में उत्साह होता है। मन में अनेक प्रकार के कर्म करने की उमंग रहती है जिससे लोकसेवा और परलोक सेवा सब ही संभव होती हैं।

इन अंगों को उचित प्रकार से कर्म करने के लिए जो-जो उनकी आवश्यकतायें हैं उनका भी हमने ज्ञान प्राप्त किया है। वास्तव में उनकी आवश्यकतायें बहुत थोड़ी हैं। और वे तनिक-सी सावधानी और थोड़े ही प्रयत्न से पूरी हो सकती हैं। उनकी प्रथम आवश्यकता वायु है जिससे उनको प्रत्येक समय पर्याप्त आक्सिजन मिलती रहे। इसकी कमी को वे सहन नहीं कर पाते। दूसरी आवश्यकता शुद्ध जल है। शरीर में उसके प्रत्येक ऊतक में जल की इतनी अधिक मात्रा है कि उसको सदा जल की आवश्यकता रहती है। जल की न्यूनता से अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं। प्यास ऊतकों में जल की

कमी की सूचक है। जल के अपर्याप्त होने से शरीर से विषों का त्याग पूर्ण नहीं हो पाता। जल की अधिक कमी होने से रक्त गाढ़ा होने लगता है और रक्त में संचरण कठिन होता है। किन्तु जल के द्वारा शरीर में रोगों को उत्पन्न करने वाले पदार्थ भी पहुँच कर स्वास्थ्य को नष्ट कर सकते हैं। इस कारण वायु और जल दोनों ही शुद्ध होने चाहिये।

शरीर की तीसरी आवश्यकता है पोषण। कर्म करने के लिए प्रत्येक अंग को पर्याप्त पोषण मिलना चाहिए। उसके बिना वह कर्म करने में असमर्थ रहता है। यह पोषण उसको उस आहार से मिलता है जो हम नित्यप्रति कई बार करते हैं। आहार का विस्तारपूर्वक वर्णन पाँचवें परिच्छेद में किया जा चुका है। शरीर को किस प्रकार के और कितने आहार की आवश्यकता है जिससे सब अंगों का उचित पोषण होता रहे यह सब वताया जा चुका है। युक्ताहार कौन-सा होता है, उसमें कौन-कौन अवयव होने चाहिए, कितनी मात्रा में होने चाहिए, किस प्रकार उनको पकाया जाय इनका उल्लेख हो चुका है।

आहार के दोष से रोग उत्पन्न हो सकते हैं। ये दोष कई प्रकार के हो सकते हैं जिनके शरीर के भीतर पहुँचने से अत्यन्त हानि होती है।

शरीर की चौथी आवश्यकता रोगों के कारणों से रक्षा की है। पहले बताया जा चुका है कि रोगों के कारण दो प्रकार के होते हैं। एक तो बाहर से आकर शरीर में प्रवेश करते हैं, दूसरे जो शरीर ही में उत्पन्न होते हैं। प्लेग, चेचक, हैजा, म लेरिया, पेचिश आदि को उत्पन्न करने वाले जीवाणु बाहर से आकर शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। मधुमेह या डायाबिटीज, गठिया, हृदय के कई रोग, अतिरक्त दाब (Hypertension) आदि रोगों के कारण शरीर के भीतर ही उत्पन्न होते हैं।

जो रोग महामारी (Epidemic) के रूप में फैलते हैं उनसे प्रत्येक वर्ष बहुत मृत्यु होती हैं। उनसे रक्षा का उपाय केवल अपने ही ऊपर निर्भर नहीं करता। सामु-दायिक प्रयत्नों से ही उन रोगों को रोका जा सकता है। यह काम म्यूनिसिपैलिटियों के स्वास्थ्य विभाग का है। उनका कर्म यही है कि नगर में ऐसे रोगों को न फैलने दें, रोग होने के समय जनता की रोग से रक्षा करने का पूर्ण उपाय करें, नगरवासियों को शुद्ध जल और दोष रहित भोजन मिलने का पूरा प्रबन्ध करें तथा रोग को फैलने से रोकें।

यहाँ स्वास्थ्य के लिए इन्हीं प्राथमिक आवश्यकताओं का हम संक्षेप में विचार करेंगे।

वायु

श्वसन कर्म के सम्बन्ध में सातवें परिच्छेद में वायु का स्वास्थ्य के साथ जो सम्बन्ध है वह बताया जा चुका है। वायु नाइट्रोजन ४ भाग और आक्सिजन १ भाग का मिश्रण

है। उसमें कार्बन डाइ-आक्साइड (Carbon Dioxid) या जो अन्य गैसें मिल जाती हैं, वे उसकी अशुद्धि हैं। किन्तु १,००० भाग में कार्बन डाइ-आक्साइड ४ भाग होने से स्वास्थ्य को हानि नहीं पहुँचती। इस कारण उनको अशुद्ध नहीं माना जाता। इससे अधिक मात्रा होने से स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है। कार्बन डाइ-आक्साइड की उत्पत्ति इतनी अधिक मात्रा में होती है कि उसका कुछ भाग वायुमंडल में उपस्थित होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। किन्तु जहाँ फैक्टरी, मिलों की चिमनियाँ, सघन बस्तियाँ अधिक होती हैं, जहाँ कार्बनिक पदार्थ सड़ते हैं, जलने की क्रिया अधिक होती है वहाँ इस गैस की मात्रा बढ़ जाती है। जहाँ थोड़े ही स्थान में बहुत-से व्यक्तियों को सोना या रहना पड़ना है या जिन मकानों में वायु के आने-जाने का उत्तम प्रबंध नहीं होता वहाँ इसकी मात्रा अधिक हो जाती है। और उसके प्रभाव से वहाँ रहने वालों का स्वास्थ्य कुछ समय में क्षीण होने लगता है। यदि इसकी मात्रा बढ़ कर ४ प्रतिशत हो जाती है तो उसका प्रभाव तुरन्त ही मालूम होने लगता है। सिर दर्द, बेचैनी, जी घबराना आदि लक्षण उसी समय प्रगट हो जाते हैं। १० प्रतिशत कार्बन डाइ-आक्साइड घातक सिद्ध होती है।

कार्बन मोनो आक्साइड (Carbon Monoxid) अत्यन्त विषैली गैस है। इसमें आक्सिजन का एक परमाणु कार्बन के एक परमाणु से संयुक्त रहता है। आक्सिजन की कमी में जब कोयला जलाया जाता है तो यह गैस उत्पन्न होती है। आक्सिजन के पर्याप्त होने पर कार्बन डाइ-आक्साइड उत्पन्न होती है। कार्बन मोनो आक्साइड रक्त से संयुक्त हो जाती है और आक्सिजन सुँघाने पर भी पृथक् नहीं होती। इस कारण उससे विषाक्त होने पर बचना कठिन होता है। जिस वायु में ये अशुद्धियाँ मिली रहती हैं, वह अशुद्ध (Impure) या दूषित (Vitiated) वायु कहलाती है।

अतएव मकानों में तथा ऐसे स्थानों में जहाँ बहुत से व्यक्ति एकत्रित होते हों या रसायनशालाओं तथा फैक्टरियों में जहाँ रासायनिक क्रियाओं से गैसें अथवा वाष्प बनते रहते हैं वहाँ शुद्ध वायु के संचार का विशेष प्रबन्ध करना होता है। इसको संवातन (Ventilation) कहते हैं।

साधारणतया प्रत्येक मकान के कमरे में संवातन के लिए वायु के प्रवेश हेतु प्रवेशिका (Inlet) और उसके निकास के लिए निष्कासिका (Outlet) बनाई जाती हैं जिनको रोशनदान भी कहते हैं। हमारे देश में खिड़कियाँ ही प्रवेशिका का काम करती हैं। उनके द्वारा वायु बाहर न निकलेगी तो नई शुद्ध वायु भीतर न आयेगी। बाहर से आने वाली वायु ठंडी होती है। कमरे के भीतर वह गरम होकर ऊपर छत की ओर चली जाती है। इस कारण निष्कासिका छत के पास बनाई जाती है।

ठंडे मुल्कों में प्रवेशिकाओं को भी विशेष प्रकार से बनाया जाता है जिससे भीतर आने वाली वायु वहाँ बैठे या सोते हुए व्यक्तियों के शरीर पर सीधी न लगे। बहुधा

उसको गरम भट्ठी या गरम पानी के नलों से गरम करके कमरों में भेजा जाता है। वहाँ प्रत्येक समय खिड़की को खोल कर नहीं रखा जा सकता। हमारे देश में भी सरदी के मौसम में रात्रि को खिड़की बन्द करनी पड़ती है। इस कारण दरवाजों के ऊपर **संवातक** (Ventilator) बनाये जाते हैं जिनके द्वारा कमरे में वायु आती रहे। किन्तु निष्कासिका छत के पास ही बनानी चाहिए।

प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक वायु-अवकाश (Air Space) : यह हिसाब लगाया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को एक घंटे में ३,००० घन फुट वायु की आवश्यकता होती है अर्थात् २०×१५×१० घन फुट। इतना स्थान एक व्यक्ति को मिलना असंभव है। इस कारण १०×१०×१० घन फुट स्थान देकर उसकी वायु को घंटे भर में तीन बार बदल दिया जाय। अनुभव से पाया गया है कि प्राकृतिक संवातन से कमरे की वायु एक घंटे में तीन बार बदल जाती है।

कृत्रिम संवातन (Artificial Ventilation) : बड़ी-बड़ी फैक्टरियों, रसायन-शालाओं, सभा-भवन तथा सिनेमाघरों आदि में छत के पास बिजली के पंखे दीवारों में बड़े-बड़े छेद बनाकर लगाये जाते हैं जो भीतर की वायु को खींच कर बाहर निकालते हैं जिससे दूसरी ओर या फर्श के पास से वायु हाल के भीतर खिंच कर आती रहती है।

शुद्ध वायु और स्वास्थ्य का सम्बन्ध

१—शुद्ध वायु स्वास्थ्यवर्धक होती है। दोषयुक्त या अशुद्ध वायु स्वास्थ्यनाशक होती है। शुद्ध वायु से शरीर के सब अंगों की क्रिया उत्तम प्रकार से होती है जिससे शरीर में बल आता है, चित्त में उत्साह बढ़ता है और रोगरोधक शक्ति की वृद्धि होती है। शिशुओं पर इसका विशेष प्रभाव पड़ता है।

अशुद्ध वायु से शरीर की क्रियाओं का ह्रास होता है जिससे बल क्षय होता है और आयु घटती है। जहाँ बहुत से व्यक्ति एक साथ रहते हैं वहाँ का वायुमंडल शुद्ध नहीं होता। उसका शिशुओं पर विशेषकर हानिकारक प्रभाव होता है। उनकी शारीरिक शक्ति का क्षय होता है और शीघ्र ही वे रोगग्रस्त हो जाते हैं।

२—रोगावस्था में, विशेषकर फुप्फुस के रोगों में अधिक वायु की आवश्यकता होती है। जहाँ स्वस्थ व्यक्ति के लिये ३,००० घन फुट वायु प्रति घंटा आवश्यक है वहाँ रोगी के लिये ४,५०० घन फुट वायु आवश्यक बताई गई है। इस कारण रोगियों को जितना खुले स्थान में रखा जा सके उतना उत्तम है। अस्पतालों के आँकड़ों से पता चला है कि जिन निमोनिया, प्लूरिसी आदि के रोगियों को बरामदों में रखा गया उनमें से कमरे के भीतर रहने वालों की अपेक्षा अधिक रोगमुक्त हुए।

३—रात्रि को जहाँ तक हो सके कमरे की खिड़कियों को खोल कर सोना चाहिये। शीत ऋतु में भी कमरे में कम से कम एक खिड़की तो खुली रहे जिससे वायु का कमरे में निरन्तर प्रवेश होता रहे। शय्या को उस खिड़की के सामने से हटा दिया जाय जिससे सोने वाले के शरीर पर सीधी वायु न लगे।

४—ठंडे मौसम में बन्द कमरे से अकस्मात् खुले में जाने से शीत लगने का डर रहता है, किन्तु खुले हुए कमरे से बाहर आने से भय नहीं होता। बरामदे में सोने वालों को कभी शीत नहीं लगती।

५—संवातन उत्तम होने पर भी कमरा खुले हुए स्थान की समानता नहीं कर सकता। शिशुओं तथा बालकों को जितने समय तक खुले स्थान में रखा जा सके उत्तम है। यूरोप, अमरीका आदि देशों में बालकों के लिये ऐसे स्कूल बनाये जाते हैं जहाँ खुली हुई वायु में ही पढ़ना-लिखना तथा खेल होते हैं। इनको 'ओपेन एयर स्कूल' कहते हैं।

धूप और प्रकाश का स्वास्थ्य पर प्रभाव

१—सूर्य को सदा से शक्ति का प्रदाता माना गया है। न केवल मनुष्य और जन्तुओं किन्तु वृक्षों को भी वह जीवन प्रदान करता है। जो बालक और पौधे भी सदा अँधेरे स्थानों में पलते हैं वे दुर्बल, क्षीणकाय और पीले दीखते हैं। उनकी वृद्धि नहीं होती। वृक्ष भी तभी बढ़ते हैं, जब उनको सूर्य का प्रकाश मिलता है।

२—सूर्य प्रकाश की **अल्ट्रावायोलेट** या **परावैगनी** (Ultraviolet) किरणें रोगों के जीवाणुओं को नाश करने वाली होती हैं। राजयक्ष्मा के जीवाणु, आधे घंटे तक उबालने पर भी नहीं मरते। किन्तु सूर्य प्रकाश पड़ते ही २० मिनट में मर जाते हैं। ये किरणें शरीर में विटामिन 'डी' उत्पन्न करती हैं और शरीर की वृद्धि करती हैं। शिशुओं के लिए ये विशेष लाभदायक हैं। इसी कारण अँधेरे स्थान जहाँ सूर्य-प्रकाश नहीं पहुँचता सदा अस्वास्थ्यकर होते हैं।

३—सूर्य-प्रकाश से न केवल शारीरिक बल्कि मानसिक बल भी बढ़ता है। जिन व्यक्तियों को कई वर्षों तक अँधेरे स्थानों में रहना पड़ा है वे पागल हो गये हैं।

परावैगनी किरणों का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

जल

जल शरीर का अत्यन्त आवश्यक अवयव है। इसके महत्त्व का इससे अनुमान किया जा सकता है कि हमारे रक्त में ८९ प्रतिशत पेशियों और मस्तिष्क में ८० प्रतिशत और अस्थि-सी कठोर वस्तु में भी जल का १० प्रतिशत भाग है। यह जल सदा शरीर

से मूत्र, स्वेद तथा वाष्पों या अन्य स्रावों के रूप में निकला करता है। इस क्षति की पूर्ति के लिये हमको जल पीना पड़ता है। जितने पेय हम पीते हैं, चाय, काफी, शर्बत आदि वे भी जल में बनते हैं। आहार के पदार्थों में भी जल की बहुत मात्रा होती है।

जो जल हम पीते हैं वह हमको प्रायः कुएँ, तालाब, नदी और स्रोतों से मिलता है। जल के द्वारा कितने ही रोगों के जीवाणुओं का तथा घातीय पदार्थों का संवहन होता है। इससे रोग फैल सकते हैं। विशूचिका या हैजे की महामारी प्रायः जल या दूध द्वारा फैलती है। दूध में भी जीवाणु जल ही द्वारा पहुँचते हैं। इन रोगों का आगे उल्लेख किया जायगा।

पीने का जल शुद्ध होना अत्यन्त आवश्यक है। प्रथम तो जिस स्थान से जल लिया जाय उसमें अशुद्धि न पहुँचने पावे इसका पूर्ण प्रयत्न करना परम कर्तव्य है। हमारे देश की सबसे अधिक जनता कुएँ से ही जल प्राप्त करती है। अतएव उनको इस प्रकार बनाना चाहिये कि उनमें दोष न पहुँच पाये। कच्चे कुँओं का जल कभी नहीं पीना चाहिये। जिन कुओं की दीवारों पर ईंट और सीमेन्ट का जुड़ाव कर दिया जाता है वे पक्के कुएँ कहलाते हैं।

कुएँ दो प्रकार के होते हैं, गहरे और उथले। गहरे कुओं में १०० फुट या इससे अधिक गहराई से जल आता है। उथले कुओं में २५ या ३० फुट से जल आता है। उथले कुओं के जल पर विश्वास नहीं किया जा सकता। गहरे कुओं का जल उत्तम होता है। वह बहुत दूर से आता है। इस कारण प्रारम्भ में उसमें दोष होते हैं तो वे भूमि द्वारा छन जाते हैं। गहरे कुँओं में एक उत्स्रुत कूप (Artesian Well) होता है जिसमें जल बड़े वेग से स्वयं ही ऊपर चला आता है। भूमि के भीतर जल पर बहुत दाब (Pressure) होती है। इसी कारण जल स्वयं ही ऊपर आ जाता है।

गाँवों में तालाबों से भी पीने का जल लिया जाता है। ऐसे तालाबों को चौकोर करवाया जाय, उनके चारों ओर अहाता हो और उसमें मवेशी न आने पावें। उसमें स्नान करना या बर्तन धोना भी मना हो।

पर्वतीय प्रान्तों में रहने वालों के लिये केवल स्रोत ही जल पाने का साधन होते हैं। इनका जल स्वच्छ, शुद्ध और ठंडा होता है। किन्तु उसमें कैलसियम या अन्य घातकीय अवयव मिले रहते हैं जिससे जल कठोर (Hard) हो जाता है।

बड़ी नदियों का उनके बीच से लिया हुआ जल, विशेषतया गहराई से लिया हुआ जल शुद्ध होता है। छोटी नदियों में जल को शुद्ध करने की सामर्थ्य नहीं होती। बड़े-बड़े नगरों में जो जल-कल (Water Works) लगी हुई हैं, उनमें बड़ी नदियों के बीच से गहराई से जल लेकर शुद्ध करने के पश्चात् बड़ी-बड़ी टंकियों

में भर कर दिया जाता है। ये **जल भंडार** होते हैं जहाँ से जल को पम्पों द्वारा नगर में वितरित किया जाता है। यह जल नलों में होता हुआ घर-घर पहुँच जाता है।

जल में संगदूषण (Contamination) बड़े सहज से पहुँच जाता है। कुओं के पास स्थित गढ़े, हौज, चौबच्चे, संडास आदि से दोष भूमि के द्वारा जल के साथ कुएँ के जल में पहुँच कर उसको अशुद्ध कर देते हैं। तालाब में स्नान करने, मवेशियों को नहलाने, वस्त्र धोने आदि क्रियाओं से दूषण पहुँच जाता है। नदियाँ भी इससे मुक्त नहीं रहतीं। उनके किनारों पर सब प्रकार के रोगों से मरे हुए व्यक्तियों के शवों को जलाया जाता है। सारी गन्दगी नदी में फेंकी जाती है। खेतों में पड़ी हुई खाद भी बह-बह कर वर्षा द्वारा नदियों में पहुँच जाती है। इस कारण पीने से पूर्व जल का शोधन (Purification) बहुत आवश्यक है। नगरपालिकाओं (Municipalities)
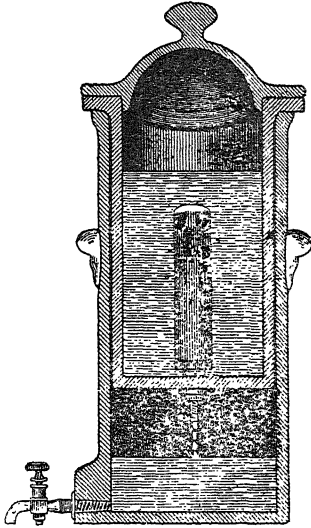
चित्र १६९—पैस्च्योर चेम्बरलैंड निस्यन्दक की भीतरी रचना
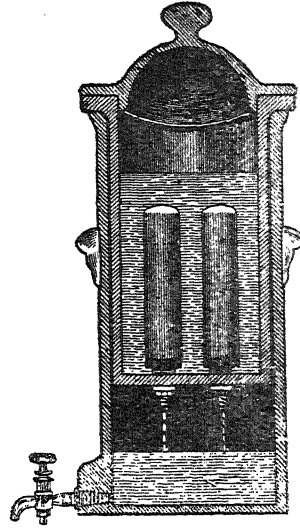
चित्र १७०—बर्कफील्ड निस्यन्दक

के जल-कल विभागों में जल का शोधन निस्यन्दन विधि (Filtration) से किया जाता है। चौकोर तालाबों में सबसे नीचे ईंटों की दो तहों के ऊपर कंकड़ या बजरी का एक ६ से १० इंच मोटा स्तर लगा कर उस पर प्रथम १ फुट मोटा बालू और फिर ३ फुट बारीक बालू बिछा कर ३ फुट गहरा जल भर दिया जाता है। इनको **निस्यन्दक** (Filters) तालाब कहते हैं। इन कंकड़ और बालू के स्तरों से जल छन कर नीचे ईंटों के बीच में बहता हुआ दूसरे तालाब में एकत्र हो जाता है। वह दोषों से मुक्त पीने के योग्य होता है और उसका नगर में वितरण किया जाता है।

किन्तु सब स्थानों में नगरपालिका और जल-कल नहीं होते। वहाँ घरेलू निस्यन्दकों द्वारा जल का शोधन करना उचित है। बर्कफील्ड और पैस्च्योर चैम्बरलैंड (Pasteur Chamberland Filter) इसी प्रकार के हैं जो चित्र में दिखाये गये हैं। ऊपर के बर्तन की तलहटी में जो कैंडिल या बर्त्तुल लगे हुए हैं वे क्ले (Clay) मिट्टी के बने हुए हैं। उनके चारों ओर जल भरा रहता है जो कैंडिल में से रिस-रिस कर उसके नीचे से निकल कर नीचे के बर्तन में भरता रहता है। इसमें जल लेने के लिये एक टोंटी लगी हुई है। जल में जो भी दूषित अवयव होते हैं वे कैंडिलों के बाहर रह जाते हैं। उनके द्वारा जल में नहीं आ सकते।

इस प्रकार के और भी कई निस्यन्दक होते हैं। इनके द्वारा परिशोधित जल विश्वसनीय होता है।

एक दूसरी प्रकार के 'द्रुत निस्यन्दक' भी होते हैं। जब जल का शीघ्रता से परिशोधन करना होता है, जैसे युद्ध में, तब उनको प्रयोग करते हैं। उनमें नीचे बालू होती है और उस पर जल में कोई रासायनिक पदार्थ, जैसे फिटकरी (Alum) मिला दी जाती है जिससे तलहटीकरण (Precipitation) की क्रिया में जल में मिश्रित दूषित अवयव नीचे बैठ जाते हैं।

जल के द्वारा होने वाले रोग

निम्नलिखित रोग जल के द्वारा फैलते हैं :—

विशूचिका या हैज़ा (Cholera) : इस रोग के जीवाणु जल में मिल जाते हैं। प्रायः रोगियों या सम्बन्धी सुश्रूषकों द्वारा ही मिलाये जाते हैं। रोगी के वस्त्रों को कुएँ पर या तालाब में धोने, उसके बर्तनों को कुएँ में डालने या वहीं धोने अथवा उसके मल को कुएँ या जलाशय के पास ही फेंक देने से जीवाणु जल में पहुँच जाते हैं। जब और व्यक्ति इस जल को पीते हैं तो उनको रोग हो जाता है। कभी-कभी स्वयं रोगी जीवाणुओं को जल में अपनी अज्ञानता से मिलाते हैं। वे जलाशय या नदी के किनारे मलत्याग करके उनके जल में हाथ-मुँह धोते हैं। अपने लोटे को डालते हैं। मेलों में इस रोग की महामारी बहुत फैलती है और वहाँ से यात्री या दर्शक अपने घर लौटते हैं तो मार्ग में रोग के बीज बोते चले आते हैं।

टाइफ़ाइड (Typhoid) : यह रोग भी इसी प्रकार फैलता है। किन्तु इसका फैलाने में मक्खियाँ बहुत भाग लेती हैं। वे रोगी के मल पर बैठती हैं जिसमें जीवाणुओं की बहुत बड़ी संख्या होती है। जीवाणु उनकी टाँगों और शरीर पर चिपट जाते हैं। फिर ये ही मक्खियाँ खाद्य पदार्थों पर जाकर बैठती हैं। इससे उनके शरीर पर लगे हुए जीवाणु खाद्य में पहुँच कर रोग उत्पन्न करते हैं।

प्रवाहिका (Dysentery) : इसके जीवाणु टाइफ़ाइड ही की भाँति शरीर में पहुचते हैं।

मलेरिया (Malaria) : इस रोग का जल वास्तविक कारण नहीं होता। यह मच्छरों द्वारा फैलता है। किन्तु मच्छर के लार्वे जल में उत्पन्न होते हैं।

कृमि रोग (Worms) : मनुष्य में निम्नलिखित कृमि शरीर में पहुँच कर रोग उत्पन्न करते हैं :—

टीनिया (Taenia), गोल कृमि (Round Worm), आक्सीयूरिस वर्मीक्यूलेरिस (Oxyuris Vermicularis), फीता कृमि (Tapeworm), सूत्र कृमि (Thread-worm), नहरवा (Guinea Worm), फाइलेरिया (Filaria)।

इन रोगों से बचने के लिये पीने के जल की शुद्धि आवश्यक है। उबालना जल शुद्धि का अत्यन्त सहज उपाय है। किन्तु उबालने से जल की वायु निकल जाने से वह स्वादिष्ट नहीं रहता। उसमें फिर से वायु मिला देने से जिसको वातन (Aeration) कहते हैं जल फिर से स्वादिष्ट हो जाता है। जिस प्रकार एक बर्तन से दूसरे में उँड़ेल कर गरम दूध को ठंडा किया जाता है वही वातित करना होता है।

आसवन (Distillation) क्रिया से अत्यन्त शुद्ध जल मिलता है। किन्तु ऐसे शुद्ध जल को पीने की आवश्यकता नहीं होती। इसमें वायु न होने से वह स्वादिष्ट नहीं होता।

स्वास्थ्य के लिये वही जल उपयुक्त है जो स्वादिष्ट, चमकता हुआ, पारदर्शी, स्वच्छ, रंग और गन्ध रहित, जीवाणु तथा अन्य कार्बनिक (Organic) अवयवों से मुक्त हो और जो वायु युक्त हो।

जहाँ जल के शुद्ध होने में सन्देह हो वहाँ यदि हो सके तो जल को उबाल कर पिया जाय। नहीं तो कम से कम उसमें पोटास परमैंगनेट के कुछ कण मिला दिये जायँ जिससे जल हल्का गुलाबी हो जाय। प्रवाहहीन (Stagnant) जल नदियों के किनारों पर होता है। वह कभी न पीना चाहिये।

जल में मिश्रित घातकीय पदार्थों से भी स्वास्थ्य को हानि पहुँच सकती है। और पाचन विकार (Digestive Disorders) हो सकते हैं। कठोर जल से अग्नि-मान्द्य (Dyspedsia) हो जाता है। मैगनेशियम सल्फेट से अतिसार (Diarrhoea हो जाता है। अभ्रक (Mica) स्प्रू (Sprue) नामक रोग उत्पन्न करता है। यशद (Zinc) के कणों से कोष्ठबद्धता (Constipation) होती है। नलों के जल में सीसा (Lead) बहुत बार घुल जाता है। उससे सीसा विष (Lead Poisoning) के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं।

आहार

आहार का पूर्ण विस्तृत वर्णन पाँचवें परिच्छेद में किया जा चुका है। यह मानव शरीर की वायु और जल के पश्चात् तीसरी प्राथमिक आवश्यकता है। प्रत्येक प्राणी को आहार आवश्यक है। इसके बिना उसका शरीर नहीं रह सकता।

आहार के गुणों, उसके अवयव, मात्रा आदि का विचार किया जा चुका है। इसके सम्बन्ध में यहाँ इतना और बता देना उचित है कि आहार का पूर्ण लाभ उठाने के लिये शरीर भी इस दशा में होना चाहिये कि वह उसका पूर्ण स्वांगीकरण कर सके। इसके लिये सबसे प्रथम दाँतों की ओर ध्यान देना आवश्यक है। दाँतों से आहार को काटना और चबाना पाचन क्रिया का प्रथम चरण है। यदि यहीं पर त्रुटि हुई तो पाचन का श्रीगणेश ही बिगड़ जायगा। इसलिये समय-समय पर दाँतों को दन्त-चिकित्सक (Dentist) को दिखाना चाहिये। उन पर एकत्र हुए मल को हटाना उचित है। इसको टारटार कहते हैं। यदि दाँत में कहीं कीड़ा लगा हो, खुँडरा (Caries) हो तो उसको भरवाना चाहिये।

पायरिया (Pyorrhoea) : मसूड़ों का एक बड़ा ही दुष्ट रोग है। दाँत और मसूड़ों के बीच से पीप (Pus) आने लगती है। मुँह में दुर्गन्धि रहती है। मसूड़े धीरे-धीरे दाँतों से अलग होने लगते हैं। यह पीप या पूय आहार के साथ सदा शरीर में जाती है जिससे किसी भी अंग में भयंकर दशा उत्पन्न हो सकती है। इससे बल और आयु कम होते हैं। दन्त-चिकित्सक के परामर्श से इस मन्द किन्तु दुष्ट रोग से मुक्ति पाना अत्यन्त अभीष्ट है।

आहार में विटामिनों का महत्त्व बताया गया है। इनके प्राप्ति के लिये यीष्ट (Yeast) या ख़मीर एक विशिष्ट वस्तु है। यह विटामिन 'बी' का भंडार है। इससे शरीर की सब क्रियायें अत्युत्तम रूप से होती हैं। स्वास्थ्य के लिये यह अत्यन्त लाभकारी है। यह शुष्क चूर्ण रूप (Powder) में बाज़ार में ब्रूअर्स यीस्ट (Brewer's Yeast) के नाम से बिकता है। इसकी टिकिया भी आती है। आधी बड़ी चम्मच (Table-spoon) दोनों समय भोजन के साथ खाने से स्वास्थ्य की वृद्धि होती है। चूर्ण को शाक में मिलाकर भी प्रयोग किया जाता है।

नगर की स्वच्छता

स्वास्थ्य के लिये नगर की स्वच्छता भी अत्यन्त आवश्यक है। उसके अस्वच्छ रहने या जहाँ-तहाँ गन्दगी, मैला, कूड़ा एकत्र होने से नगर में रोग फैल जाते हैं। इससे नगर निवासियों को असुविधा तो होती ही है किन्तु उनके रोगग्रस्त हो जाने का डर रहता है। इससे महामारी (Epidemic) फैल सकती है।

नगर की स्वच्छता नगरपालिका के स्वास्थ्य-विभाग का कर्म है । कूड़े को हटवाना सड़कों और गलियों की स्वच्छता, मैले को नगर से दूर करना और उसका अंतिम विनियोग ये सब स्वास्थ्य विभाग के काम हैं जो स्वास्थ्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व के हैं।

(१) कूड़े को दूर करना **अवशोधन** (Scavenging) कहलाता है। मकानों का कूड़ा (Household Refuse) जो प्रत्येक घर से प्रातः बुहार कर निकाल दिया जाता है उसको एक ऐसे स्थान पर एकत्र कर दिया जाता है जहाँ से वह गाड़ियों या ट्रकों के द्वारा नगर से बाहर ले जाकर जला दिया जाता है या गढ़ों में भर दिया जाता है। मकानों से कूड़ा एकत्र करने के लिये छोटी-छोटी पहियेदार गाड़ी-सी होती हैं जिनमें मेहतर कूड़ा डाल कर ट्रकों तक ले जाते हैं। ये व्हील बैरों (Wheel Barrow) कहलाती हैं ।

कूड़े में मकानों से निकली हुई सब भाँति के निकृष्ट पदार्थ शाकों के छिलके, सड़ते हुए फल, धूल, फटे वस्त्रों तथा कागजों के टुकड़े, जानवरों की विष्ठा, लकड़ी और लोहे
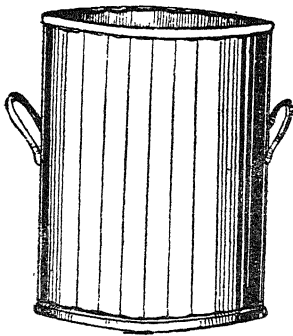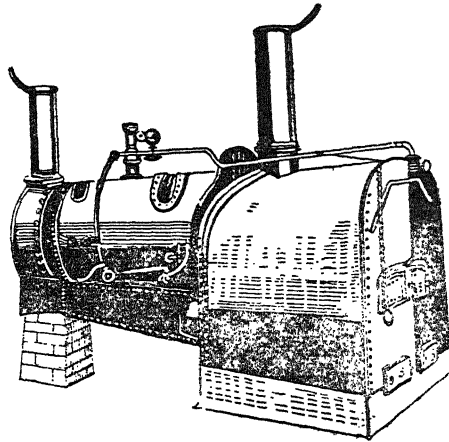
चित्र १७१—धूलदानी चित्र १७२—हार्सफालदाहक

के टुकड़े, राख, पत्तियाँ आदि पदार्थ होते हैं। उनको पूर्णतया न हटाने से उनमें कृमि उत्पन्न हो जाते हैं। वह सड़ने लगता है। कूड़े से जीवाणु अन्य पदार्थों में पहुँच सकते हैं। सारा स्थान गन्दा होता है। कूड़े को फेंकने के लिए जहाँ-तहाँ धूलदानी (Dustbin) रखनी चाहिये ।

कूड़े को एकत्र करके नगर के बाहर दूर किसी उपयुक्त स्थान पर उसका **निर्दहन** (Incineration) कर दिया जाता है या उसको गहरे गढ़े या तालाबों या नीची भूमि में भर कर उनको पाट दिया जाता है। यह विधि **अकरकरन** (Scavenging)

या क्षेपन कहलाती है। उससे खाद भी बनाई जाती है। यह **कम्पोस्टिंग** (Composting) कहलाता है।

(२) नगर से मल (Night Soil) को दूर करना भी आवश्यक है। इसकी पुरानी **मलवाहन व्यवस्था** (Conservancy System) अब भी बहुतेरे स्थानों
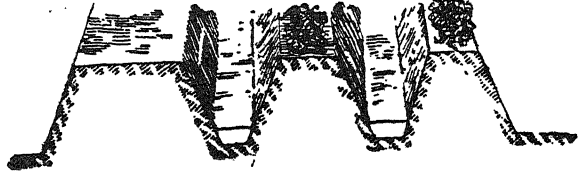
चित्र १७३

में विशेषकर छोटे नगरों और कस्बों में प्रचलित है जहाँ की नगरपालिकाएँ **जल संवाहन व्यवस्था** (Water Carriage System) की आयोजना नहीं कर सकती हैं।

मलवाहन व्यवस्था में प्रत्येक घर के शौचालय (Latrines) से मेहतर बाल्टी में मल को एकत्र करके बड़े मलपात्रों (Pails) में भर देते हैं। इनसे मल को लोहे की गाड़ियों में, जिनमें लोहे की गोल ढक्कनदार टंकियाँ लगी होती हैं, भरकर नगर से दूर **मल निखनन भूमि** (Dumping Ground) में ले जाकर खाइयों में भर दिया जाता है। वहाँ उनकी खाद बन जाती है। अथवा कूड़े की भाँति उसको जला दिया जाता है। बहुत बार कूड़े के साथ मल को मिला कर उसकी खाद बनाते हैं। कृषि के लिये यह बहुत उत्तम खाद होती है।

इस विधि से गन्दगी या मल से दोष फैलने का बहुत अवसर रहता है। मल को ले जाने में पात्रों से मल की छीटें उड़ सकती हैं। पात्रों में मल लगा रह जाता है। जहाँ पात्रों को एकत्र किया जाता है वह स्थल गन्दा हो जाता है। वहाँ से दुर्गन्धि निकलती है। घरों में मल खुला रहता है। उस पर मक्खियाँ भिनभिनाया करती हैं। फिर मेहतरों की असावधानी से शौचस्थान कभी स्वच्छ नहीं रह सकते।

(३) **जल संवाहक विधि** में यद्यपि एक बार अधिक व्यय होता है किन्तु बहुत ही स्वच्छ और भय रहित है जिससे किसी प्रकार भी दोष फैलने की संभावना नहीं रहती। इसके लिये ऐसे **मलाधार** (Closets) और मलपात्र (Pan) बनाने होते हैं जिनसे जल के प्रवाह से मल बह जाता है। ये पात्र चीनी मिट्टी के बनते हैं। ये भूमि पर बैठ कर प्रयोग करने तथा कमोड जिस पर कुरसी की भाँति बैठा जाता है दोनों प्रकार के बनाये जाते हैं। इनके ऊपर एक जल की टंकी (Cistern) लगी रहती है जिसमें जल भरा रहता है। उससे एक जंजीर लटकती रहती है। इस जंजीर को खींचने से मलपात्र में बड़े वेग से जल का प्रवाह होता

है। यह जल मल को **भित्तिनाल** (Soil Pipe) द्वारा बहा कर भूमिनाल में पहुँचा देता है। भित्तिनाल दीवार पर लगा रहता है और मलपात्र से जुड़ा रहता है। भूमिनाल (House Drains) भूमि में लगाया जाता है। इसमें भित्तिनाल से मलयुक्त जल मलाधार से बहकर आता है। भूमि के भीतर और बड़े-बड़े नल लगे रहते हैं जिनमें भूमिनाल खुलता है और उसके द्वारा आया हुआ मलयुक्त जल प्रवाह
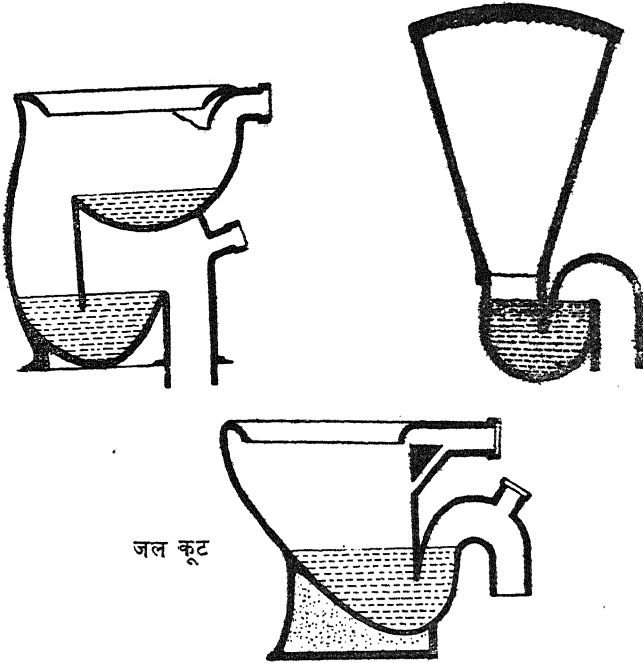
चित्र १७४—शौचपात्र

करता है। ये मल सुरंग (Sewers) कहलाते हैं। स्वास्थ्य विभाग के नियमों के अनुसार इनका व्यास ९ इंच से कम न होना चाहिये। बड़े नगरों में इनका व्यास कई फुट तक होता है। जो मल और जल इन नालों तथा सुरंगों में प्रवाहित होता है वह अधोवाहित मल (Sewage) कहलाता है। ये सुरंगें सड़कों के नीचे लगाई जाती हैं। इनके द्वारा बहता हुआ अधोवहित मल अन्त में निस्तारण भूमि (Disposal Ground) में पहुँच जाता है जहाँ उसका अन्तिम उपयोग किया जाता है। यही **निस्तारण** (Disposal) कहलाता है। इन सुरंगों की सफाई तथा निरीक्षण करने के लिये उनसे सड़क से जाने का मार्ग बनाया जाता है। यह एक चौखूंटी कोठरी सी होती है। इसमें

एक ओर से भूमिनाल आता है और उसके फर्श पर होता हुआ दूसरी ओर एक बारक या ट्रैप (Trap) से मिल जाता है जो जलमल को सुरंग में जाने तो देता है किन्तु सुरंग की गैस या वाष्पों को भूमिनाल में नहीं आने देता ।

मलपात्र और भित्तिनाल के बीच भी एक ऐसा ही वारक लगा रहता है जो भूमि या भित्तिनाल की गैसों को पात्र में नहीं जाने देता ।

यह जल-संवाहक व्यवस्था कहलाती है जिसमें मल को जल के द्वारा प्रवाहित कर अन्तिम स्थान तक पहुँचा दिया जाता है और कई विधियों से उसका निस्तरण किया जाता है । जहाँ बड़ी नदियाँ हैं वहाँ इसको प्रथम रासायनिकों द्वारा शुद्ध करके नदी में नगर से नीचे की ओर छोड़ दिया जाता है । कुछ नगरों में उससे भूमि की सिंचाई की जाती है । इस विधि में भूमि के जीवाणु, सब अवयवों का भंजन करके उसको अहानिकर द्रव्यों में परिणत कर देते हैं । कहीं-कहीं **पूतिगलन कुंडों** (Septic Tanks) द्वारा उसकी शुद्धि की जाती है जिनमें जीवाणुओं की क्रिया से उसके अवयव दोषमुक्त हो जाते हैं । इस कुंड से निकलने वाले जल में गन्ध तक नहीं होती ।

मूत्रकुंड या पेशाबघरों (Urinal) में पात्रों का इसी प्रकार भित्तिनाल और भूमिनाल से सम्बन्ध कर दिया जाता है ।

शारीरिक स्वच्छता

स्वास्थ्य के लिये शारीरिक स्वच्छता की भी आवश्यकता है । बाल, नेत्र, नासिका, नख, कर्ण सबको स्वच्छ रखना सहज है । मुख की शुद्धि विशेष महत्त्व की है । स्नान द्वारा चर्म को स्वच्छ रखने से उसका कर्म उत्तम प्रकार से होता है जैसा त्वचा के सम्बन्ध में बताया गया है। त्वचा के द्वारा शरीर के त्यक्त पदार्थ और विष बाहर निकलते हैं। मर्दन या अभंग द्वारा उसकी क्रिया को बढ़ाना उचित है। शौच द्वारा शरीर विषों का त्याग करता है । नित्यप्रति नियत समय पर पूर्ण शौच होना और क्षुधा लगनी ये दोनों उत्तम स्वास्थ्य के लक्षण हैं ।

चौदहवाँ परिच्छेद

रोग और उनको रोकने के उपाय

रोग दो प्रकार के होते हैं। एक आगन्तुक कारणों से बाहर से शरीर में प्रविष्ट हुए कारणों से उत्पन्न होते हैं, दूसरे शरीर के भीतर ही उत्पन्न होने वाले कारणों का फल होते हैं। प्रथम प्रकार के रोगों की संख्या बहुत अधिक है। वे संक्रामक रोग (Infectious Disease) कहलाते हैं, क्योंकि एक व्यक्ति से दूसरे को होते हैं। रोग का कारण जिसके शरीर में प्रविष्ट होने से रोग के लक्षण उत्पन्न होते हैं **संक्रमण** (Infection) कहलाता है। निमोनिया को उत्पन्न करने वाले जीवाणु जिन्होंने शरीर में प्रविष्ट होकर निमोनिया रोग उत्पन्न किया है, वे रोग का संक्रमण हैं। प्लेग, विशूचिका, टाइफ़ाइड, राजयक्ष्मा, प्रवाहिका, चेचक ये सब संक्रामक रोग हैं।

दूसरे प्रकार के रोग शरीर में आन्तरिक कारणों से उत्पन्न होते हैं जैसे गठिया, मधमेह, हृद्विकार, पक्षाघात आदि।

संक्रामक रोग प्रतिषेध्य हैं। उन सबों को रोका जा सकता है। वैज्ञानिक अनु-संधानों और खोजों से रोगों के कारण और उनकी उत्पत्ति की विधि का पता चल चुका है। अतएव उस विधि को रोक देने की तरकीब भी वैज्ञानिकों ने खोज निकाली है। मलेरिया का कारण मालूम होने के पश्चात् भी मलेरिया को रोकना संभव नहीं हुआ। किन्तु जब यह मालूम हो गया कि मलेरिया किस प्रकार फैलता है तो उसको रोकने के उपाय सहज में निकल आये। योरप, अमरीका आदि देशों में कितने ही रोग समूल नष्ट हो चुके हैं। उनके नाम भी रजिस्टरों से निकाल दिये गये हैं। हमारे देश में भी इन रोगों में बहुत कमी हो गई है। जिन स्थानों में पहिले भयंकर मलेरिया होता था वे अब मलेरिया से मुक्त हैं।

संक्रामक रोगों के कारण जीवाणु होते हैं। ये भी कई प्रकार के हैं। जीवाणु शब्द का अर्थ अत्यन्त सूक्ष्म जीव (Micro-organism) है। किन्तु प्रयोग-वश इस शब्द का अर्थ तृणानु या वैक्टीरिया हो गया है। इस कारण यहाँ तृणानु और जीवाणु के शब्द पर्यायवाची अर्थ में प्रयोग किये गये हैं। किन्तु इन दोनों में भेद करना इसलिये आवश्यक है कि कुछ जीव तृणानुओं से भी सूक्ष्म हैं। वे तृणानु न होते हुए भी जीवाणु अवश्य हैं क्योंकि वे जीवित वस्तु हैं और तृणानुओं से भी छोटे हैं।

संक्रामक रोग तृणानुओं (Bactcria) द्वारा उत्पन्न होते हैं। इनके अतिरिक्त **वाइरस** (Virus) और **रिकेट्सिया** (Rickettsia) नामक अणु जीव भी कुछ संक्रामक रोगों को उत्पन्न करते हैं। वाइरस इतने सूक्ष्म जीव हैं कि वे साधारण शक्ति-के अणुदर्शियों से भी नहीं दीखते। उनको देखने के लिये विशेष प्रकार के अणुदर्शी बनाये गये हैं जिनको विद्युत् अणुदर्शी (Electron Microscope) कहते हैं। इनके द्वारा वाइरस का शरीर ५०,००० गुणा वर्धित होकर एक छोटे कैप्सूल (Capsule) की भाँति दीखता है। कुछ वाइरस तो इतना होने पर भी बिन्दु की भाँति दीखते हैं। निस्यन्दकों की क्ले के वर्त्तुल या कैंडिल में होकर तृवाणु नहीं निकल सकते। किन्तु वाइरस निकल जाते हैं। चेचक, खसरा तथा विश्वव्यापी फ्लू या इंफ्लुएंजा वाइरस के कारण उत्पन्न होने वाले रोग हैं।

रिकेट्सिया वाइरस से बड़े किन्तु तृणानु से छोटे जीव हैं। ये प्रायः आर्थ्रो-पोडा (Arthropoda) जन्तु वर्ग में पाये जाते हैं। टाइफ़ाइड रोग का कारण इसी को माना जाता है।

अमीबा नाम का प्रोटोजोवा वर्ग का जीव भी ऐसा ही एक रोग उत्पन्न करता है जिसको अमीबज प्रवाहिका (Amebice Aysentry) कहते हैं। कुछ बड़े-बड़े कृमि भी शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं और रोग उत्पन्न करते हैं। कुछ अन्य प्रोटोजोवा भी रोगोत्पत्ति में भाग लेते हैं। किन्तु सबसे अधिक तृणानु ही रोगोत्पत्ति का कारण होते हैं।

तृणानु (Bacteria) रोगों को फैलाने का विशेष कारण होते हैं। ये जीवित सृष्टि के निम्नतर स्तर के जीव हैं जिनका शरीर केवल एक कोशिका का बना हुआ है जिसमें केन्द्रक भी नहीं है। इनको जीवित सृष्टि में इस कारण रखा गया है कि वे जीवन के कई विशिष्ट गुणों से सम्पन्न हैं। प्रजनन द्वारा वे अपनी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ाते हैं। उनकी वृद्धि होती है। उनको आक्सिजन, जल, आहार आदि की आवश्यकता होती है। वे उत्सर्जन भी करते हैं। वे विशेष प्रकार के विष उत्पन्न करते हैं जिनको जीवविष (Toxins) कहा जाता है।

आकार के अनुसार तीन प्रकार के तृणानु होते हैं—(१) **दंडाणु** (Bacillii) जिनके शरीर छोटे डंडे के समान लम्बे होते हैं। (२) **कोकस** (Coccus), इनका आकार बिन्दु के समान होता है। इनमें भी दो होते हैं। एक बिन्दुओं के गुच्छों के समान होते हैं। इनको स्टेफ़िलोकोकस कहते हैं। दूसरे बिन्दुओं की शृंखला में लम्बी रेखा के समान स्थित रहते हैं। ये स्ट्रेप्टोकोकस (Streptococcus) कहे जाते हैं। (३) स्पिरिल्ला (Spirilla) इनके शरीर लहरियेदार होते हैं।

शरीर में कई स्थानों में मोड़ होते हैं। सिफिलिस तथा पुनरावर्त्तक ज्वर (Relapsing Fever) के तृणानु इसी प्रकार के होते हैं। इनको स्पाइरोकीट (Spirochaeta) या ट्रिपोनिमा (Treponema) कहते हैं।

शरीर में प्रवेश के मार्ग : अक्षुण्ण निरन्तर त्वचा द्वारा जीवाणु शरीर के भीतर प्रविष्ट नहीं हो सकते। केवल जब त्वचा कट-फट जाती है तब वे कटे हुए स्थान द्वारा शरीर में प्रविष्ट हो पाते हैं। उनके प्रवेश मार्ग निम्नलिखित हैं :—

(१) त्वचा द्वारा : त्वचा के छिन्न होने पर।

(२) त्वचा के भेदन द्वारा : मच्छर अपने दंश द्वारा मलेरिया के पराश्रयी को शरीर में प्रविष्ट करता है।

(३) आहार द्वारा : टाइफ़ाइड, विशूचिका, प्रवाहिका आदि के तृणानु आहार द्वारा शरीर में पहुँचते हैं।

(४) श्वास द्वारा : राज्यक्ष्मा का तृणानु श्वास द्वारा फुप्फुस में पहुँचता है। इसमें बिन्दुक संक्रमण (Droplet Infection) का विशेष भाग रहता है। रोगी के खाँसने से थूक (Sputum) की बूँदों के साथ जीवाणु पास बैठे हुए व्यक्तियों के मुख या नासिका में पहुँच जाते हैं। बिन्दुक संक्रमण २० फुट दूर तक पहुँच सकता है।

(५) कभी-कभी जीवाणु शरीर के एक भाग में बिना कोई उपद्रव उत्पन्न किये हुए पड़े रहते हैं। किन्तु किन्हीं कारणों वश वहाँ से दूसरे अंग में जाकर वहाँ भयंकर रूप धारण कर लेते हैं और तीव्र लक्षण उत्पन्न कर देते हैं। यह **आत्म-संक्रमण** (Auto-infection) कहा जाता है।

इन जीवाणुओं द्वारा जो संक्रमण फैलता है वह बहुत बार महामारी (Epidemic) का रूप ले लेता है। किसी नगर में या जिले में जहाँ वह रोग पहिले नहीं था वहाँ फैल जाता है और अनेक व्यक्ति रोगग्रस्त हो जाते हैं। ऐसी महा-मारी का सदा कोई स्रोत होता है जहाँ से संक्रमण फैलता है।

जब कोई संक्रामक रोग किसी परिमित स्थान या जन-समुदाय में सदा ही होता रहता है तो वह **स्थानिकमारी** (Endemic) कहलाती है। **विश्वमारी** (Pandemic) उसको कहते हैं जब रोग संसार भर में या संसार के कई देशों में फैल जाता है। इन्फ्लुएंजा की तीन-चार बार विश्वमारी फैल चुकी है।

संक्रामक रोगों का प्रसार : संक्रामक रोग निम्नलिखित साधनों के द्वारा फैलते हैं :

(१) **वायु द्वारा** : चेचक और खसरा।

(२) **जल तथा आहार द्वारा** : टाइफ़ाइड, विशूचिका।

(३) **कीट द्वारा** : मलेरिया, प्लेग, फ़ाइलेरिया।

(४) **वाहकों द्वारा** : वाहक (Carriers) वे व्यक्ति होते हैं जिनके रोग से मुक्त हो जाने पर भी किसी अंग में रोग के जीवाणु एकत्र रहते हैं और प्रायः मल द्वारा शरीर से निकलते रहते हैं। ऐसे व्यक्ति रोग फैलाने में विशेष भाग लेते हैं। यह रोग **संचारण** कहा जाता है।

(५) शारीरिक संपर्क या संसर्ग द्वारा।

(६) रोगी के वस्त्र, बर्तन आदि द्वारा।

कीट : मक्खी, मच्छर आदि कितने ही रोगों का संवाहन करते हैं। मलेरिया और मच्छर का अभिन्न संबंध सब ही को मालूम है।

कुछ रोग शारीरिक संसर्ग में उत्पन्न होते हैं जैसे दाद, खाज ये संसर्गज (Contagion) रोग कहलाते हैं।

संक्रामक रोगों की विशेषता : इन रोगों में दो विशेषतायें हैं :—

(१) **उद्भवन काल** (Incubation Period) : संक्रमण के शरीर में पहुँचने के कुछ काल के पश्चात् रोग के लक्षण प्रगट होते हैं। इस काल में जीवाणु वृद्धि करते हैं, उनकी संख्या बढ़ती है तथा जीवविष (Toxin) उत्पन्न होते हैं। तब उनकी क्रिया से शरीर में की क्रियायें विकृत होती हैं। यही उद्भवन काल कहलाता है। भिन्न-भिन्न रोगों में उद्भवन काल की भिन्नता पाई जाती है। हैज़े में वह कुछ घंटे हो सकता है यद्यपि साधारणतया एक दो दिन होता है। धनुस्तंभ या टिटेनस (Tetanus) में ५ से १२ दिन होता है। तीन सप्ताह से भी अधिक हो सकता है।

(२) **संक्रामी काल** : रोग के लक्षणों से मुक्त होने पर कुछ दिनों तक रोगी के शरीर में रोग का संक्रमण बना रहता है और उसके शरीर से जीवाणु निकला करते हैं, इस कारण वह स्वस्थ व्यक्ति को संक्रमित कर सकता है।

संक्रमण रोकने के उपाय : रोग उत्पन्न होने के पूर्व उसको रोकने के लिये उपाय करना रोगनिरोध (Prophylaxis) कहलाता है। चेचक का टीका लगवाना रोगनिरोध का एक उपाय है। ये उपाय वैयक्तिक तथा सामूहिक दोनों प्रकार के हो सकते हैं। निम्नलिखित सामूहिक उपायों से नगरपालिका का स्वास्थ्य-विभाग रोगों को जनता में फैलने से रोकता है।

(१) **पृथक्करण** (Isolation) : रोगी को पृथक् कर दिया जाता है। यदि उसके अन्त तक रोग के लक्षण नहीं प्रगट होते तो व्यक्ति को संक्रमण मुक्त समझा जाता है। यह पृथक्करण दो प्रकार से हो सकता है। घर पर ही एक कुछ दूरी पर स्थित कमरे में रोगी को परिवार के अन्य व्यक्तियों से पृथक् कर दिया जाय और उससे कोई व्यक्ति सिवाय परिचारक गणों के न मिलने पावे। यह परिवार वालों के सहयोग पर निर्भर करता है। दूसरे पृथक्करण अस्पताल (Isolation or Infectious

Disease Hospital) में उसको रख दिया जाय। इनको कुतहा अस्पताल भी कहते हैं क्योंकि वहाँ केवल कुतहे रोगों (Infectious Diseases) के रोगियों को रखा जाता है।

(२) **संगरोध या कारेन्टीन** (Quarantine) : इसका अर्थ है संक्रमित स्थान या क्षेत्र का जहाँ रोग फैला हो, रोगरहित स्थानों से यातायात बन्द कर देना। रोगयुक्त स्थानों से आने वाले व्यक्तियों को रोग के संक्रामी काल तक रोक लिया जाता है और उनको देखभाल में रखा जाता है।

(३) **सूचना** (Notification) : किसी व्यक्ति के रोग उत्पन्न होने की सूचना स्वास्थ्य विभाग के अधिकारियों को देना आवश्यक है। इस विभाग की ओर से **सूचनीय रोगों** की सूची तैयार करके विधान पत्र में छाप दी गई है। और विधान के अनुसार परिवारवालों और चिकित्सक विभाग को सूचना देना आवश्यक है, नहीं तो उनको दंड दिया जा सकता है।

(४) **रोगक्षमीकरण** (Immunization) : रोग फैलने के समय स्वास्थ्य विभाग की ओर से जनता को टीका लगाने (Inoculation, Vaccination) का प्रबन्ध किया जाता है जिससे स्वस्थ व्यक्तियों में रोगक्षमता उत्पन्न हो जाती है। टीका दो प्रकार से लगाया जाता है। जीवाणुओं की वैक्सीन (Vaccine) बना कर इंजेक्सन द्वारा शरीर में प्रविष्ट कर दी जाती है। दूसरे केवल त्वचा को तनिक छील कर उस पर वैक्सीन लगा दी जाती है। पहली विधि से प्लेग, हैज़े आदि का टीका लगाया जाता है। चेचक के टीका देने में दूसरी विधि प्रयोग की जाती है।

वैक्सीन से सक्रिय रोगक्षमता उत्पन्न की जाती है। सीरम द्वारा निष्क्रिय रोगक्षमता उत्पन्न होती है। प्रतिषेध के लिये वैक्सीन ही प्रयोग किया जाता है। सीरम का प्रयोग प्रायः चिकित्सा के लिए होता है। डिप्थोरिया (Diphtheria) और टिटेनस में उसका प्रतिषेध और चिकित्सा दोनों के लिये प्रयोग किया जाता है। राज्यक्ष्मा या फेफड़े की तपेदिक जिसको गुलिकार्त्ति (Tuberculosis) नाम दिया गया है, उसके प्रतिषेध के लिये बी० सी० जी० वैक्सीन (B. C. G. Vaccine) का प्रयोग होता है।

(५) **निस्संक्रमण** (Disinfection) : जीवाणुनाशी (Bactericidal) तथा कीटनाशी (Insecticides) रासायनिक पदार्थों तथा जल, ताप, भाप, सूर्य किरणें आदि द्वारा संक्रमण के नाश करने की विधि को निस्संक्रमण कहते हैं। रोगों को रोकने तथा जिन स्थानों में रोगी रहते हैं उनको भविष्य में रहने वालों के लिये भय-रहित बनाने का यह विश्वस्त अत्युत्तम उपाय है। जिन वस्तुओं का इस हेतु प्रयोग किया जाता है, वे **निस्संक्रामक** (Disinfectants) कही जाती हैं।

भाप (Steam) : अत्युत्तम प्राकृतिक निस्संक्रामक है। जल से भाप उत्पन्न करने के लिए विशेष प्रकार के यन्त्र बनाये जाते हैं। इनमें वस्त्रों का उत्तम निस्संक्रमण होता है। उससे वस्त्र नहीं बिगड़ते। उबालने से बहुत से वस्त्र, विशेषतया ऊनी वस्त्र, बिगड़ जाते हैं। छोटे वस्त्र, रूमाल, मोज़े आदि उबाले जा सकते हैं। रोगी की प्रयुक्त जो वस्तु जलाई जा सके, जला दी जाय।

भाप के द्वारा निस्संक्रामण के लिये नगरपालिकाओं की ओर से ऐसे स्थान बनाये जाते हैं जहाँ नगरवासी लिहाफ़, गद्दा, कम्बल आदि ले जाकर उनका निस्संक्रामण करवा लें। यहाँ एक कमरे में भाप उत्पन्न करने वाला यन्त्र रहता है और उसी के बीच में वस्त्रों को रखने का स्थान रहता है। निस्संक्रमण के लिये विशेष व्यक्ति नियुक्त होते हैं जो निस्संक्रमण की विधि में दक्ष होते हैं।

विशूचिका, प्लेग, टाइफ़ाइड आदि जैसे संक्रामक रोगों से रोगी के मुक्त होने अथवा उसकी मृत्यु होने के पश्चात् उसके सब वस्त्रों, बर्तनों जो भी वस्तुएँ उसके प्रयोग में आई हों, उनका पूर्ण निस्संक्रमण आवश्यक है।

डाक्टरों द्वारा **शल्यक्रिया** (Operations) करने के पूर्व अस्त्रों तथा अन्य सब प्रयोग की जानेवाली वस्तुओं को उबाल लिया जाता है जिसका प्रयोजन उनमें उपस्थित जीवाणुओं का नाश होता है। इसको **विसंक्रमण** (Sterilization) कहते हैं; और जो वस्तु उबाल कर शुद्ध कर ली गई है वे **विसंक्रमित** (Sterilized) कही जाती हैं।

निस्संक्रमण के लिये बहुत से रासायनिक पदार्थों का प्रयोग किया जाता है जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं:

पारद के लवण—हाइड्रार्जपरक्लोर (Hydrargperchlor) : यह प्रबल जीवाणु-नाशक है। १००० भाग जल में १ भाग इस लवण के घोल से टाइफ़ाइड, विशूचिका, ऐन्ट्रैक्स के जीवाणु १० मिनट के अन्दर मर जाते हैं।

मर्क्यूरिक आयोडाइड : पोटासियम आयोडाइड मिलाकर अलकोहल के साथ इसका घोल बनाया जाता है।

कारबोलिक अम्ल या फ़िनोल (Acid Carbolic, Phenol) : इसका बहुत प्रयोग होता है। इसको अलकतरे (Coal Tar) से बनाया जाता है। शुद्ध रूप में भी इसको ज़ख्मों पर लगा कर तुरन्त अलकोहल या स्प्रिट से धो दिया जाता है। २०, ४० और ८० भाग जल में एक भाग इस अम्ल को मिला कर घोल बनाये जाते हैं। २० में १ भाग वाला घोल प्रबल जीवाणुनाशी होता है। अन्य घोल हाथ धोने तथा त्वचा को शुद्ध करने के काम में आते हैं।

पोटास परमैंगनेट : इसके कण मिलाने से जल गुलाबी रंग का हो जाता है। विशूचिका के दिनों में कुएँ में इसको डाला जाता है।

विरंजक चूर्ण (Bleaching Powder) : यह कैलसियम क्लोराइड और कैल-सियम हाइपोक्लोराइड का मिश्रण होता है। इसका सक्रिय अवयव क्लोरीन गैस होती है। इसको शुष्क चूर्ण रूप में भी प्रयोग किया जाता है। इसका ३ प्रतिशत का घोल मल का उत्तम विसंक्रामक है। हैज़े, टाइफ़ाइड के रोगियों के मल त्याग में चूर्ण को मिला देना चाहिये। ३० भाग जल में इसका एक भाग मिला कर बना हुआ घोल कमरों के फर्श को धोने के लिये उत्तम विसंक्रामक है। इस चूर्ण का पीने के जल को शुद्ध करने के लिये अब बहुत प्रयोग होने लगा है। १००० गैलन पानी को शुद्ध करने के लिये आधा औंस उत्तम ब्लीचिंग पाउडर पर्याप्त है। बाज़ार में इसी नाम से बिकता है।

अलकतरे से बनी हुई कई द्रव वस्तुयें उत्तम निस्संक्रामक हैं। **फ़िनाइल** (Phenyle) को मोरी, फ़र्श आदि धोने के लिये प्रयोग किया जाता है। इसको जल में मिलाने से श्वेत रंग का घोल बन जाता है। **लाईसोल** (Lysol) में शल्य क्रिया के अस्त्रों को रखा जाता है। इसके घोल से व्रणों का प्रक्षालन किया जाता है। **सिल्लिन** (Cyllin) भी इसी प्रकार की वस्तु है। फ़िनाइल से अधिक तीव्र है।

कुछ गैसों (Gases) का भी प्रयोग किया जाता है। **फ़ारमेल्डीहाइड** (Formaldehyde) गैस प्रबल जीवाणुनाशक है। यह बाज़ार में द्रव रूप में **फ़ारमेलिन** (Formalin) के नाम से बिकती है। इसको पोटास परमैंगनेट या ब्लीचिंग पाउडर-के साथ मिलाने से फ़ामेल्डी हाइड गैस उत्पन्न होती है जो सारे कमरे में भर जाती है। इससे उत्तम निस्संक्रामण होता है।

हाइड्रोसायनिक ऐसिड गैस का विशेष प्रयोग जहाज़ों में चूहे, कीट, पिस्सू आदि को मारने के लिये किया जाता है। ये जन्तुपीड़क (Pest) कहलाते हैं और इनको नष्ट करने की क्रिया को पीड़कहनन (Disinfestation) कहा जाता है। इस गैस से जीवाणुओं का नाश नहीं होता। जन्तुओं और मनुष्य के लिये यह बड़ी विषैली गैस है। प्लेग के दिनों में चूहों को मारने के लिए उनके बिलों में इस गैस को भर दिया जाता है। मकानों में इसका प्रयोग मकान को खाली कर देने के पश्चात् ही करना चाहिये।

सलफ़र डाइ-आक्साइड (Sulphur Dioxide) : का भी निस्संक्रामण के लिये उपयोग किया जाता है।

क्लोरीन गैस प्रबल जीवाणुनाशी है। ब्लीचिंग पाउडर में हाइड्रोक्लोरिक या सल्फ्युरिक अम्ल मिलाने से यह गैस उत्पन्न होती है। यह वस्त्रों का रंग उड़ा देती है और नेत्रों की बड़ी क्षोभक (Irritant) होती है।

ऊपर बताये हुए उपायों से नगरपालिकाओं के स्वास्थ्य विभाग संक्रमण का नाश करने का प्रयत्न करते हैं जिससे नगरवासियों की रोगों से रक्षा हो सके। किन्तु वे सब

उपाय जनता के सहयोग के बिना पूर्ण नहीं हो सकते। जब तक प्रत्येक व्यक्ति अपने निवासस्थान को शुद्ध और स्वच्छ न रखेगा तब तक स्वास्थ्य विभाग को जनता को स्वस्थ रखने में सफलता नहीं मिल सकती।

सूर्य प्रकाश, विशेषकर उसकी परावैंगनी किरणें (Ultraviolet) अत्युत्तम विस्संक्रामक हैं जिनका प्रत्येक व्यक्ति उपयोग कर सकता है। धूप में वस्त्रों को सुखाने से सब प्रकार के जीवाणुओं का नाश होता है। उनकी आर्द्रता (Dampness or Humidity) दूर होती है। उनमें वायु-संचार होता है। कमरे में धूप आने से इसी प्रकार कमरा शुद्ध होता है। वायु के संचार से वहाँ के सील से वाष्प नष्ट होते हैं। आर्द्रता दूर होती है। वस्त्र भी सूखते हैं। सूर्य-प्रकाश और वायु दोषों के नाश करने के ऐसे उपाय हैं जो अमीर-गरीब प्रत्येक व्यक्ति को उपलब्ध हैं।

कुछ वस्तुयें केवल दुर्गन्धि का नाश करने वाली होती हैं। वे गन्धहर (Deodorant) कहलाती हैं। फ़ारमेलिन गन्धहर और निस्संक्रामक दोनों है।

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

रोगसंवाहक कीट और पराश्रयी

कीट और मनुष्य का अभिन्न संबंध है। जहाँ मनुष्य रहता है वहाँ मक्खी, मच्छर, पिस्सू, जूँ, मकड़ी आदि कीट अवश्य ही पाये जाते हैं। इनमें से बहुतेरे रोग फैलाने वाले होते हैं। ये सब जन्तु वर्ग के **आर्थ्रोपोडा** श्रेणी (Phylum Arthropod) के सदस्य हैं। इनके शरीर पर बाहर एक कठिन आवरण होता है। यह बहिःकंकाल कहलाता है। इनके शरीर में आगे शिर होता है जिसमें सामने दो **ज्ञापक** (Antennae) नेत्र तथा मुख के कई भाग होते हैं। उसके पीछे वक्ष होता है जिसमें ३ खंड होते हैं। उसके उदर में ९ से ११ तक खंड होते हैं। स्त्री और पुरुष कीट पृथक्-पृथक् होते हैं। ये अंड उत्पन्न करते हैं जिनसे नवीन कीटों की उत्पत्ति होती है। उत्पत्ति में कई अवस्थायें होती हैं। ये कीट दो प्रकार के होते हैं। एक के पर (Wings) होते हैं। दूसरों में पर नहीं होते। मच्छर, मक्खी (घरेलू), बालु मक्षिका (House Fly) और सट्सी मक्षिका (Tsetse Fly) के पर होते हैं। पिस्सू, खटमल, जूँ और किलनी (Tick) के पर नहीं होते।

मच्छर (Mosquito)

मच्छर और मलेरिया का अभिन्न सम्बन्ध प्रमाणित हो चुका है। जहाँ मच्छर नहीं होते वहाँ मलेरिया भी नहीं होता। मलेरिया के नाश का उपाय ही मच्छर को नष्ट करना है। ऐसे ही उपायों से भयंकर मलेरियायुक्त स्थानों अथवा क्षेत्रों से उसका मूलोच्छेदन हो चुका है।

हमारे देश में इसकी दो विशेष जातियाँ, ऐनोफ़िलीज़ और क्यूलैक्स पायी जाती हैं। तीसरी स्टेगोमाया (Stegomyia) जाति को डैंगू (Dengue) और पीत ज्वर (Yellow Fever) का वाहक माना जाता है। इनमें से ऐनोफ़िलीज़ जाति का मच्छर मलेरिया का संवहन करता है। क्यूलैक्स फाइलेरिया (Culex, Filaria) का संवाहक है।

ऐनोफ़िलीज़ (Anopheles) और क्यूलैक्स (Culex) दोनों घरों में पाये जाते हैं। यद्यपि ऐनोफ़िलीज़ बाहर रहना अधिक पसन्द करता है। इन दोनों को पहिचानना कठिन नहीं है। ऐनोफ़िलीज़ का शिर, वक्ष और उदर सीधे एक रेखा में होते हैं। क्यूलैक्स का शिर नीचे को झुका रहता है, जिससे उसके पीठ पर कुब्ज (Punch) बन जाता है।

मच्छरों को प्रकाश नहीं सहन होता। इस कारण वे दिन में अँधेरे स्थानों में छुपे रहते हैं। काला रंग उनको पसन्द होता है। केवल स्त्री मच्छर काटता है और रक्त चूसता है। पुरुष मच्छर के मुख में काटने के भाग नहीं होते। वह प्रायः रात्रि
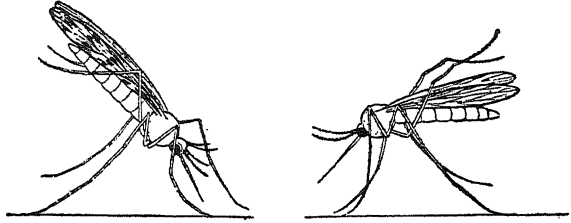
चित्र १७५—ऐनोफ़िलीज़ जाति का मच्छर (बैठा हुआ)

चित्र १७६—क्यूलैक्स जाति का मच्छर (बैठा हुआ)

के समय ही काटता है। स्त्री मच्छर उड़ने के समय कोई ध्वनि भी नहीं करता। ऐनोफ़िलीज़ अपने उत्पत्तिस्थान से दूर नहीं जाता। २ या ४ फर्लांग के भीतर ही रहता है। कभी-कभी उसको २ मील दूरी पर भी पाया गया है।

जीवनचक्र (Life Cycle) : मच्छर प्रवाहहीन जल में अंडे देते हैं। ऐनोफ़िलीज़ नदी या तालाब के किनारों पर या ऐसे ही अन्य जलाशयों में अंडे देते हैं।
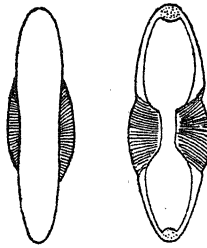
चित्र १७७—ऐनोफ़िलीज़ के अंडे (बढ़ाकर दिखाये गये हैं)

चित्र १७८—क्यूलैक्स के अंडे
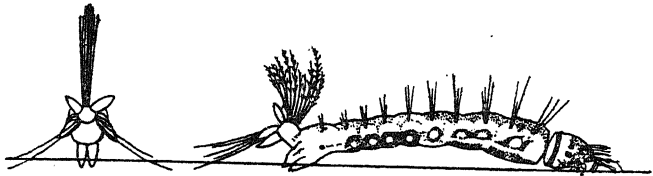
चित्र १७९—एनोफ़िलीज़ का लारवा

एक बार में लगभग १५० अंडे देते हैं जो एक दूसरे से पृथक् रहते हैं। ये इतने सूक्ष्म होते हैं कि उनको साधारण नेत्रों से देखना भी कठिन होता है। धूल के

कण जैसे दीखते हैं। आवर्धक लैन्स से देखने से नाव के आकार के-से दीखते हैं। क्यूलैक्स एक बार में २०० से ५०० तक अंडे देते हैं जो आपस में एक चिपचिपे पदार्थ से जुड़े रहते हैं। दो-तीन दिन में अंडे से रेंगने वाली इल्ली या लारवा (Larva)
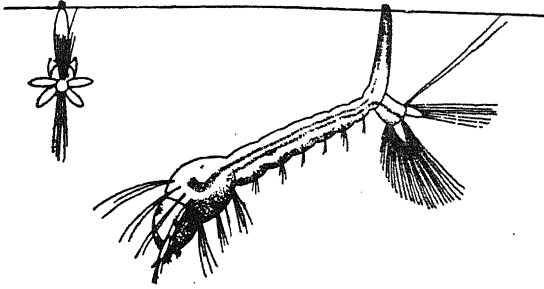
चित्र १८०—क्यूलैक्स का लारवा

बन जाता है। सामने चपटा शिर होता है जिसमें दो नेत्र और मुख होता है और पीछे वक्ष और उदर होता है। शरीर में श्वास लेने के लिये एक नलिका-सी होती है जो शरीर के दूसरे सिरे से निकलती रहती है। ऐनोफ़िलीज़ का लारवा
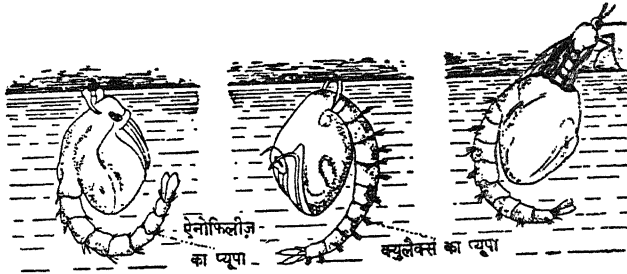
चित्र १८१—मच्छर के प्यूपे

पानी की सतह के समानान्तर तैरता है। क्यूलैक्स के लारवा सतह से टेढ़ी दिशा में

चित्र १८२—पराश्रयी (Parasite) की वृद्धि की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ

नीचे को लटका रहता है। ये लारवा बड़ी तेजी से जल में इधर-उधर को तैरते हुए दिखाई देते हैं।

आठ से दस दिन में लारवा से शंखी या प्यूपा (Pupa) बन जाता है जिसके बड़ा सा गोल शिर होता है और एक मुड़ा हुआ शरीर होता है। यह भी जल में बड़ी तेजी से घूमता है। २, ३ दिन में प्यूपा का शरीर फट जाता है और उससे
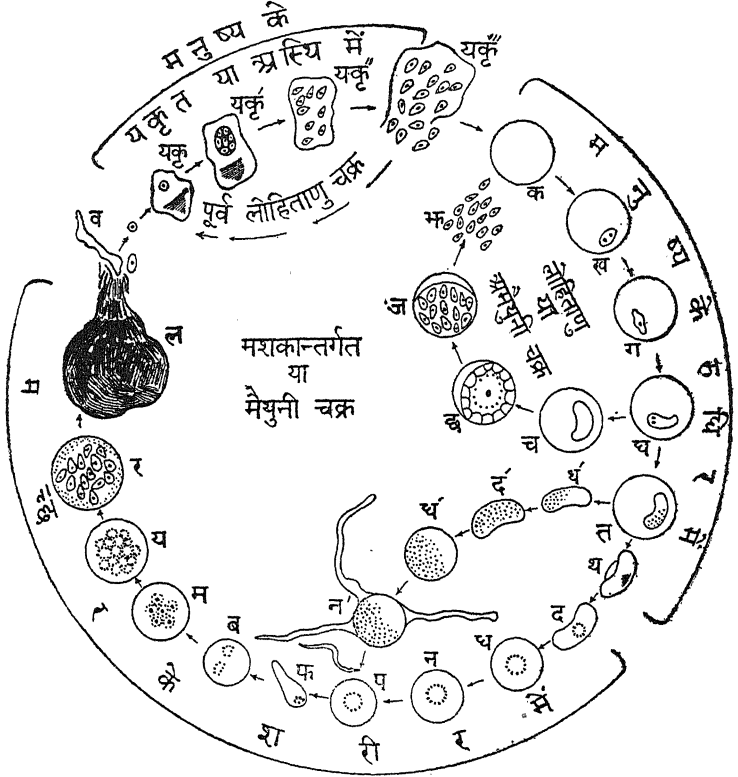
चित्र १८३—मलेरिया पराश्रयी के जीवन-चक्र का कल्पित

[यकृ, यकृ' यकृ" यकृ''' यकृत की कोशिकाओं में पराश्रयी की वृद्धि जिसमें स्पोरज से खंडन प्रसू उनसे प्रच्छन्न खंडन बनते हैं क—खंडज ख, ग, घ—खंडज से बढ़कर पोषज च बना है; उससे खंडज प्रसू छ और उससे खंडज ज बन गये हैं झ—रक्त में स्वतन्त्र खंडज त—पोषज जिससे स्त्री और पुरुष युग्मक बनते हैं थ थ', द द', ध ध', न न'—युग्मक की अवस्थाएँ अन्त में दोनों के सेल से युग्मक प बनता है फ—चलयुग्म ब, भ, य, र—मच्छर के आमाशय की भित्ति में स्पोरज की वृद्धि ल—मच्छर की लाला-ग्रन्थि जिसमें स्पोरज निकल रहे हैं]

एक पूर्ण कीट (Imago) निकल आता है। यह एक छोटा मच्छर होता है जो कुछ समय के पश्चात् उड़ जाता है।

पुरुष मच्छर सात-आठ दिन तक जीवित रहता है। स्त्री मच्छर सप्ताह तक जीता है।

मलेरिया फैलाने की विधि : स्त्री मच्छर मलेरिया फैलाता है। मलेरिया के कारण **सूक्ष्म पराश्रयी** (Parasite) होते हैं जो रोग से ग्रस्त व्यक्ति के रक्त में सदा पाये जाते हैं। जब मच्छर रोगी को काटता है और उसका रक्त चूसता है तो पराश्रयी भी रक्त के साथ मच्छर के आमाशय में चले जाते हैं और आमाशय की भित्ति को छेद कर उसमें पड़े रहते हैं जहाँ उनकी वृद्धि होती है। वहाँ से वे मच्छर की लाला ग्रन्थियों (Salivary Glands) में चले जाते हैं। जब रोगी या किसी नये स्वस्थ व्यक्ति को काटता है तो इन पराश्रयियों को उसके रक्त में प्रविष्ट कर देता है। काटने में मच्छर दोनों काम करता है। व्यक्ति के रक्त में पराश्रयियों को प्रवेश कराता है और रक्त को चूसता भी है। व्यक्ति के रक्त में पहुँच कर पराश्रयी रोग के लक्षण उत्पन्न करते हैं।

घरेलू मक्खी (House-fly)

मक्खियाँ, गोबर, घोड़े की लीद तथा सड़ते हुए फलों या पत्तियों आदि कारबनिक पदार्थों के ढेर में अंडे देती हैं। एक बार में प्रत्येक मक्खी ३०० से ४०० अंडे देती है। ये अंडे चमकते हुए पालिशदार चावल के कण से दिखाई देते हैं। दो से तीन दिन में इनसे रेंगने वाले श्वेत रंग के आधे से एक इंच लम्बे लारवे बन जाते

चित्र १८४—मक्खी

हैं। इनको मैगट (Maggot) कहते हैं। इनमें भीतर घुस जाने की बड़ी शक्ति होती है और बहुत खाते हैं। ये कभी-कभी घावों में पड़ जाते हैं। तब वहाँ के मांस आदि ऊतकों को खाते हुए भीतर तक घुसते चले जाते हैं। घाव से बड़ी दुर्गन्धि आती है।

तीन से पाँच दिन में लारवा से प्यूपा बन जाता है जिसका आकार लकड़ी के पीपे की भाँति होता है। ये निश्चेष्ट होते हैं। इनमें गति नहीं होती। इनकी लम्बाई लगभग $\frac{1}{3}$ इंच होती है। रंग कुछ भूरा होता है।

पाँच से सात दिन के पश्चात् यह पीपा फट जाता है और उसमें से एक सूक्ष्म मक्खी का शरीर निकल आता है। वह पहले सूखी या सिकुड़ी-सी दिखाई देती है और उड़ने में असमर्थ होती है। शीघ्र ही उसके पर खुल जाते हैं, शरीर, टाँग आदि शुष्क और कड़ी हो जाती है और मक्खी उड़ जाती है। जो पहिले उसने कवच पहिन रखा था वह वहीं पड़ा रह जाता है।

मक्खी को पूर्ण जीवनचक्र में २० या २१ दिन लगते हैं। ऋतु, वायुमंडल का ताप, आर्द्रता आदि का इस चक्र पर बहुत प्रभाव पड़ता है। जून के अन्तिम भाग और जुलाई में इनकी उत्पत्ति बहुत होती है। अक्टूबर या नवम्बर में इनमें एक रोग फैलता है जिससे ये मर जाती हैं।

रोग संवहन विधि : मक्खियाँ काट नहीं सकतीं, उनके मुख में काटने वाला यन्त्र नहीं होता। वे अपने शरीर द्वारा रोगों के जीवाणुओं को आहार-पदार्थों में पहुँचाती हैं। वे दो प्रकार से संक्रमण का प्रसार करती हैं। (१) वे गन्दे स्थानों तथा गन्दगी पर भनभनाया करती हैं तथा मीठी वस्तुओं पर भी एकत्र रहती हैं। मल, विष्ठा, कूड़े आदि से उनके बालों युक्त टाँगों और शरीर पर गन्दगी के साथ रोगों के जीवाणु चिपट जाते हैं। ये ही मक्खियाँ जब आहार की वस्तुओं मिठाई, दूध आदि पर बैठती हैं तो जीवाणु उन पदार्थों में पहुँच जाते हैं। (२) रोगों के जीवाणु मक्खियों के आमाशय में मरते नहीं। वे जीवित रहते हैं, वृद्धि करते रहते हैं और मक्खी के वमन तथा उसकी विष्ठा के साथ निकलते हैं। इससे जिन पदार्थों पर मक्खियाँ बैठती हैं उनमें पहुँच जाते हैं।

मक्खियाँ इन रोगों का संवहन करती हैं : विशूचिका (हैज़ा), टाइफ़ाइड, बच्चों का अतिसार (Infantile Diarrhoea), प्रवाहिका (Dysentery), राज्यक्ष्मा (Phthisis, Tuberculous), कुष्ठ (Leprosy), ऐन्थ्रक्स (Anthrax), ग्लैन्डर्स (Glanders), कृमि रोग (Worms) मैगट (घावों में)।

मक्खियों का जीवन-काल ६० दिन से अधिक नहीं होता। जाड़े के प्रारंभ में उनमें एक रोग फैलता है जो उनकी बहुत बड़ी संख्या का नाश कर डालता है। एक मक्खी से ५० दिन में ४३,५०० मक्खियों की सन्तति उत्पन्न होती है।

मरुमक्षिका (Sand-fly)

इसकी कई जातियाँ पाई जाती हैं जो कालाज़ार (Kalazar), मरुमक्षिका ज्वर (Sand-fly Fever) और प्राच्य व्रण का संवहन करती हैं।

ये मक्खियाँ आकार में छोटी, कुछ पीले या भूरे रंग की होती हैं। शिर के सामने से डंक (Sting) निकला रहता है। पंख तितली के समान होते हैं और शरीर और टाँगों पर बालों के समान तन्तु होते हैं। ये प्रकाश को पसन्द नहीं करतीं, इस कारण रात्रि को अपने छिपे रहने के स्थानों से निकल कर काटती हैं।
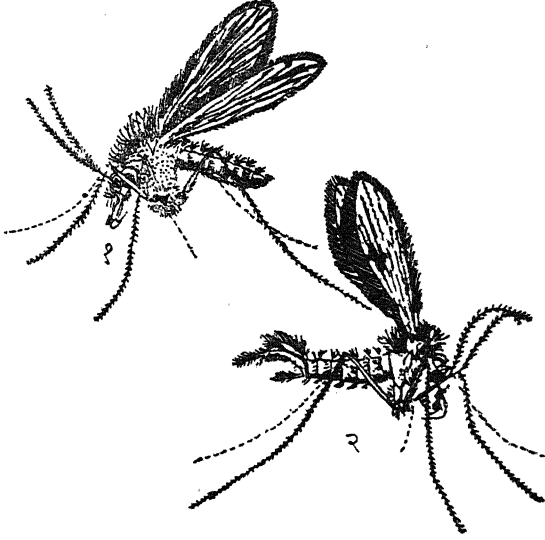
चित्र १८५—फिलबोटेमस अर्जेन्टीपेस नामक मरुमक्षिका [१–नर, २–मादा]

इनका जीवनक्रम साधारण मक्खियों की भाँति है। अंडों से लार्वा बनते हैं, लार्वों से प्यूपा, प्यूपा से मक्खी बन जाती है। किन्तु समय अधिक लगता है। छः से १२ सप्ताह तक लग जाते हैं।

सटसी मक्षिका (Tse-se-fly) : यह अफ्रीका में **निद्रालु रोग** (Sleeping Sickness) का संवहन करती है।

पिस्सू (Rat-fly)

हमारे देश में पिस्सू उस प्रकार के प्लेग का संवाहक पाया गया है जिसमें गिल्टी (Bubo) निकल आती है। इनके शरीर चित्र में दिखाये गये के समान होते हैं। शिर, वक्ष और उदर में लगी हुई तीन टाँगों के जोड़े होते हैं। पर नहीं होते। यह अंडे देता है जिनसे लार्वा और प्यूपा बन कर पूर्ण पिस्सू बन जाता है। इस केमुँह में काटने के भाग होते हैं।

पिस्सू वास्तव में चूहों या ऐसे काटने वाले जन्तुओं के शरीर पर रहते हैं। मनुष्य पर वे तभी आक्रमण करते हैं जब उनको चूहा नहीं मिलता। इस कारण सदा प्लेग चूहों में पहिले फैलता है। जब चूहे मर जाते हैं या भाग जाते हैं तब मनुष्य में फैलता है ।
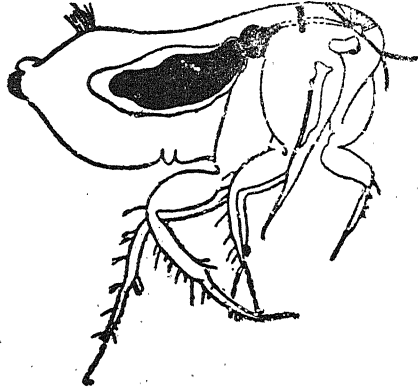
चित्र १८६ —पिस्सू

पिस्सू छः इंच से ऊपर नहीं कूद सकता। किन्तु तीन फुट तक रेंग कर चढ़ सकता है। इस कारण प्लेग के दिनों में घुटने तक टाँगों पर पट्टी और पाँवों पर मोटे मोज़े तथा बूट पहिनना लाभदायक है ।

जूँ (Louse) : ये भी पक्षविहीन कीट हैं जो शिर के बालों में रहती हैं। तीनों भिन्न प्रकार की होती हैं। ये भी अंडे उत्पन्न करती हैं जिनको लीक कहते हैं। ये बालों में चिपटी रहती हैं। इनसे कुछ परिवर्तनों के पश्चात् जूँ बन जाती हैं।

ये काटने वाले कीट हैं। मनुष्य तथा अन्य स्तनधारी जन्तुओं का रक्त इनको प्रिय होता है ।

इनके द्वारा टाइफ़स (Typhus), पुनरावर्त्तक ज्वर (Relapsing Fever) तथा ट्रैन्च ज्वर (Trench Fever) होता है ।

खटमल (Bed-bug) : ये भूरे रंग के चपटे कीट होते हैं और पलंग के पावों या पाटियों की दरारों में घुस जाते हैं। नर और मादा दोनों काटते हैं। मनुष्य का रक्त इनको बहुत रुचिकर होता है। ये रात्रि को काटते हैं और बिना आहार के एक वर्ष तक जी सकते हैं। इनको नष्ट करना अत्यन्त कठिन होता है ।

इनके द्वारा किसी विशेष रोग का संवहन होता है इसका अभी तक पता नहीं चला है ।

किलनी (Tick) : ये टिक पुनरावर्त्तक ज्वर और टिक ज्वर उत्पन्न करते हैं। ये हमारे देश के रोग नहीं हैं ।

सोलहवाँ परिच्छेद

संक्रामक रोग

इन रोगों की विशेषता यही है कि वे एक से दूसरे को फैलते हैं। इसी प्रकार इनकी महामारी फैल जाती है। आजकल इन रोगों को **प्रतिषेध्य रोग** (Preventable Diseases) कहा जाता है। उचित प्रतिषेध्य उपायों से इनके प्रतिषेध में पूर्ण सफलता मिलती है।

मलेरिया (Malaria)

हमारे देश में यह रोग बहुत होता है। संसार के सभी देशों में होता है किन्तु गरम मुल्कों में अधिक होता है विशेषकर तराई के स्थानों में जहाँ जल जहाँ-तहाँ भरा रहता है और वृक्ष वनस्पति अधिक होती है।

यह अनुमान किया गया है कि इस देश में प्रतिवर्ष दस करोड़ व्यक्ति इस रोग से ग्रस्त होते हैं जिनमें से दस लाख की मृत्यु होती है।

रोग का कारण : रोग का कारण एक **पराश्रयी** (Parasite) है जिसको प्लाज्मोडियम (Plasmodium) कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है, १. तिजारी, (तीसरे दिन आने वाला Tertian), २. चतुर्थक (Quartan) चौथे दिन आने आने वाला) और ३. क्रमहीन, जिसमें ज्वर कई दिन तक बना रहता है। इसको दुर्दम्य तृतीयक (Malignant Tertian) भी कहते हैं।

जीवन चक्र (Life Cycle) : इस पराश्रयी के जीवन चक्र का एक भाग मनुष्य के रक्त में और दूसरा भाग मच्छर के शरीर में पूर्ण होता है। मच्छर के बिना इसकी वृद्धि नहीं हो पाती। यदि मच्छर न मिले तो पराश्रयी का अन्त हो जाता है।

मच्छर काटने के समय पराश्रयी को जब मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट कर देता है तो यह पराश्रयी यकृत में चला जाता है और वहाँ की कोशिकाओं में उसकी वृद्धि होती रहती है। यह १०, १४ दिन का उद्भवन काल होता है। इसके पश्चात् यकृत से पराश्रयी (Trophozoite) पोषज निकल कर रक्त में आकर लाल कणिकाओं में प्रविष्ट हो जाते हैं। एक कणिका में एक पराश्रयी (पोषजरूप) प्रवेश करता है। इसी समय रोगी को ज्वर आता है। पराश्रयी लाल कणिका के भीतर कई भाग में विभक्त हो जाता है जो **खंडज** (Merozoite) कहलाते हैं। ये कणिका को फाड़ कर बाहर आ जाते हैं। अब ये शाईज़ोन्ट या खंडज प्रसू (Schizont) कह-

लाते हैं। प्रत्येक शाईज़ोन्ट फिर एक नये रक्त कण में प्रवेश करता है और उससे फिर नये पराश्रयी बनते हैं जो फिर से नई लाल कणिकाओं पर आक्रमण करते हैं। यह **अमैथुनी चक्र** (Asexual Cycle) कहलाता है। कुछ समय तक यह चक्र चलता रहता है।

तत्पश्चात् कुछ खंडज शाईज़ोन्ट न बनकर **युग्मकजन** (Gametocyte) बन जाते हैं। ये पराश्रयी के स्त्री और पुरुष रूपों को उत्पन्न करने वाले होते हैं। मनुष्य के रक्त में इससे अधिक इनकी वृद्धि नहीं होती। उसके लिये मच्छर का शरीर आवश्यक है। जब मच्छर के रोगी के रक्त चूसने के समय ये युग्मकजन उसके आमाशय में चले जाते हैं तो रक्त कणिका के आवरण के फटने से ये आमाशय में बाहर आते हैं और उनसे स्त्री और पुरुष **युग्मक** (Gamete) बन जाते हैं। पुरुष युग्मक स्त्री युग्मक के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है जिससे **युग्मज** (Zygote) बन जाता है। इसको **चलयुग्म** (Ookinet) भी कहते हैं। इसका एक सिरा नुकीला होता है जिससे वह आमाशय की भित्ति में प्रवेश करके वहाँ पड़ा रहता है। उसके चारों ओर एक गाँठ-सी बन जाती है जो **युग्मक पुटी** (Oocyst) कहलाती है। यह बड़ी होकर फट जाती है और इसमें से उत्पन्न हुए अनेक खंडज मच्छर की लाला ग्रन्थियों में चले जाते हैं जहाँ से वे मच्छर के काटने के समय फिर मनुष्य के शरीर में पहुँच कर यकृत में जाते हैं जहाँ से पोषजों (Trophozoite) के रूप में निकल कर वे फिर लाल कणिकाओं में प्रवेश करते हैं और फिर अमैथुनी चक्र प्रारम्भ होता है।

यदि इन दोनों चक्रों में से किसी भी चक्र को रोक दिया जाय तो मलेरिया होना बन्द हो जायगा।

लक्षण (Symptoms) : रोग के प्रत्येक आक्रमण में पहले (१) शीत अवस्था (Cold Stage) होती है। बड़े वेग से ठंड लगती है। लगभग आधे घंटे के पश्चात् (२) ताप अवस्था (Hot Stage) प्रारम्भ होती है। शरीर तप्त प्रतीत होता है। चार या पाँच घंटे तक यह दशा रहती है। (३) उसके पश्चात् शरीर पर स्वेद आने लगता है। ताप कम होना प्रारम्भ हो जाता है और लगभग एक घंटे में उतर जाता है। यह स्वेदन अवस्था (Sweating Stage) कहलाती है। स्वेद बहुत आता है। तीसरे या चौथे दिन फिर ऐसा ही आक्रमण होता है किन्तु दुर्दम्य तृतीयक में कोई क्रम नहीं होता।

प्रतिषेध के उपाय : इसके दो सिद्धान्त हैं। (१) मच्छर को किसी अवस्था पर नष्ट कर देना। (२) रक्त में पराश्रयी को नष्ट करना। मच्छर के बिना पराश्रयी मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट नहीं हो सकता। किन्तु यह उपाय संभव नहीं है। संसार या देश के

सब व्यक्तियों को पराश्रयी नाशक (Parasiticide) औषधियाँ इतनी मात्रा में खिलाना कि उनके शरीर के पराश्रयी नष्ट हो जायँ संभावना से बाहर की बात है।

मच्छर नाशक उपाय : (१) प्रथम तो ऐसे स्थान ही न रहने दिये जायँ जहाँ मच्छर अंडे रख सकें। गढ़े, चौबच्चे, दलदल जहाँ जल एकत्र हो सके उनको भर कर समतल करना उचित है। मकान के चारों ओर या आसपास टूटे बर्तन, पीपे, मोरी, मिट्टी के बर्तनों के टुकड़े आदि दूर कर दिये जायँ। नगर के चारों ओर ऐसे स्थानों को भरना और समतल बनाना स्वास्थ्य या इंजिनियरी विभाग का काम है। तराई प्रान्त में ऐसे ही आयोजनों से मच्छरों का मूलोच्छेदन कर दिया गया है।

(२) लार्वा को नष्ट करने के सरल उपाय हैं। जहाँ भी लार्वों की उत्पत्ति हो रही हो वहाँ जल-पृष्ठ पर मिट्टी का तेल, मलेरिया, डीज़िल तेल, पेरिस ग्रीन या डी० डी० टी० छिड़कने से लार्वा मर जाते हैं। ये वस्तुएँ जल पृष्ठ पर फैल जाती हैं जिससे लार्वा वहाँ आकर श्वास नहीं ले पाते। डी० डी० टी० (डाईक्लोरो डाइ फिनाइल, डाईक्लोर ईथेन) वस्तु बहुत ही सफल और सस्ती प्रमाणित हुई है। कमरे को बन्द करके इसकी फुहारों से मच्छर भी मर जाते हैं। गैमेक्सीन नामक वस्तु से भी लार्वों का नाश होता है। ये वस्तुएँ मच्छर तथा लार्वा नाशी (Insecticide, Larvicide) हैं।

वयस्क मच्छरों का नाश करने के लिये डी० डी० टी० और गैमेक्सीन दोनों उत्तम वस्तु हैं। इनकी फुहारें कमरे के वायुमंडल में उड़ाई जाती हैं जिसको **वायु फुहारन** (Aerial Spraying) कहा जाता है। फुहारन के समय कमरे में कोई व्यक्ति न हो तथा कमरे के किवाड़ बन्द रहें। एक घंटे के पश्चात् खोले जायें।

मच्छरों और मक्खियों को घर के भीतर न आने देने के लिये दोहरे किवाड़ बनाये जाते हैं। बाहर के किवाड़ जाली के स्वयं बन्द होने वाले होते हैं।

रोग को रोकने तथा उसकी चिकित्सा करने के लिये क्यूनीन बहुत पुरानी औषधि है। किन्तु संसार भर में इतनी क्यूनीन नहीं उत्पन्न होती जो एक देश के लिये भी पर्याप्त हो सके। मैपाक्रीन, पैल्यूड्रीन, एटाब्रीन, क्लोरोक्विन, कामाक्विन औषधियाँ भी इस हेतु प्रयोग की जाती हैं। किन्तु प्रतिषेध के लिये किसी पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता। वे चिकित्सा के लिये उत्तम हैं।

कालाज़ार (Kalazar)

यह रोग हमारे देश के बहुत से भागों में फैला हुआ है। विशेषकर आसाम और पूर्व बंगाल तो इसके घर हैं। मद्रास आंध्र आदि में भी बहुत है।

इस रोग में बहुत काल तक ज्वर आता रहता है। प्लीहा (Spleen) बहुत बढ़ जाती है, यकृत भी बढ़ जाता है और व्यक्ति कृश हो जाता है जिससे उसकी बाहु, टाँगें, मुख क्षीण दीखते हैं, उदर आगे बढ़ा होता है।

रोग का कारण एक पराश्रयी होता है जिसको **लीशमन डौनोवन पिंड** (Lishman Donovian Body) कहते हैं। ये सूक्ष्म गोल या अंडाकार होते हैं और बृहद एक केन्द्रकी श्वेताणुओं में पाये जाते हैं। ये शरीर के किसी भी भाग में उपस्थित मिल सकते हैं। किन्तु प्लीहा, यकृत और अस्थि-मज्जा में अधिक मिलते हैं।

इसके संवहन का ठीक-ठीक पता नहीं चला है। मरुमक्षिका को इसका संवाहक माना जाता है।

कुछ वर्ष पूर्व तक इसकी कोई विशिष्ट औषधि नहीं मालूम थी। कलकत्ते के डा० उपेन्द्रनाथ ब्रह्मचारी ने इसकी विशिष्ट औषधि की खोज की जिसको यूरिया स्टिबिमान कहते हैं।

डेंगू ज्वर (Dengue Fever)

इस रोग के ज्वर तीव्र शिर दर्द, सारे शरीर में तीव्र पीड़ा विशेषकर अस्थियों और संधियों में, वमन, जी मिचलाना और चर्म पर चकत्ते निकलना विशेष लक्षण हैं। एक प्रकार का मच्छर इस रोग का संवहन करता है जिसको स्टेगोमाया कहते हैं। इसका कारण एक वाइरिस होता है। इससे बचने का उपाय मच्छरों का नाश है।

पीत ज्वर (Yellow Fever)

इसका कारण एक वाइरस है जिसका संवहन स्टेगोमाया मच्छर द्वारा होता है। रोग के प्रथम तीन दिनों में रोगी को काटने से वह संक्रामी हो जाता है।

यह रोग हमारे देश में नहीं होता। अफ्रीका के कुछ भागों तथा मध्य अमरीका और वेस्टइंडीज में होता है। इस कारण इन प्रदेशों से आने वाले जहाज़ों, वायुयानों तथा यात्रियों पर सरकार ने कठिन प्रतिबन्ध लगा रखे हैं जिससे रोग हमारे देश में न आने पावे।

रोग से बचने के लिये मच्छरों का नाश आवश्यक है।

पुनरावर्त्तक ज्वर (Relapsing Fever)

जैसा इसके नाम से स्पष्ट है इसके पुनः-पुनः आक्रमण होते हैं। इसका कारण स्पिरिल्ला जाति का एक जीवाणु है जिसको ट्रिपोनिमा रिकरेंटिस (Treponema Recurrentis) कहते हैं। इसका संवहन विशेषकर जूँ द्वारा होता है। टिक नामक कीट भी काश्मीर और पश्चिमी पाकिस्तान के कुछ भागों में पाया गया है किन्तु भारत में नहीं। ये जन्तु रक्त चूसने वाले होते हैं। रोगी के परिधिस्थ रक्त में ज्वर के प्रथम तीन में जीवाणु मिलते हैं। जूँ के रक्त चूसने से उसके शरीर में चले जाते हैं और वहाँ वृद्धि करते हैं। जब यह जूँ किसी स्वस्थ व्यक्ति को काटती

है तो वह काटे हुए स्थान को खुजलाता है जिससे वहाँ का चर्म छिल जाता है और जूँ भी कुचल जाती है। अतएव छिले हुए चर्म के द्वारा जीवाणु शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। जूँ काट कर उनको शरीर में प्रविष्ट नहीं कर सकती।

लक्षण : अकस्मात् ज्वर आरम्भ होकर २ से ५ दिन तक बना रहता है और फिर अकस्मात् उतर जाता है। १० से १५ दिन तक रोगी ज्वर से मुक्त रहता है। फिर वैसा ही आक्रमण होता है। इस प्रकार कई बार १०, १५ दिन के अन्तर से आक्रमण होते रहते हैं।

प्रतिषेध : के लिये जूँ और खटमल का भी नाश करना आवश्यक है। जूँ को मारने के लिये डी० डी० टी० को साधारण शरीर पर लगाने वाले टाल्कम पाउडर के साथ मिलाकर शिर के बालों पर और शरीर पर रगड़ना चाहिये। जूँ के नाश की यह अत्युत्तम विधि है।

मरुमक्षिका ज्वर (Sand-fly Fever)

यह ज्वर तीन दिन तक रहता है। शिर दर्द, ज्वर, जोड़ों में तीव्र पीड़ा और कभी-कभी त्वचा पर चकत्ते निकलना इसके लक्षण हैं। मरुमक्षिका इस रोग का संवाहक है। उसका नाश तथा उसके उत्पत्ति स्थानों को नष्ट करना तथा त्वचा पर सिट्रोनैला तेल मल कर उसके दंश से रक्षा रोग को रोकने के उपाय हैं।

अरुण ज्वर (Scarlet Fever)

यह रोग अकस्मात् वमन, शीत और ताप के साथ प्रारम्भ होता है। २४ घंटे के पश्चात् लाल रंग के चकत्ते निकल आते हैं जिनके शीघ्र ही मिल जाने से सारी त्वचा का रंग लाल दिखाई देने लगता है। कंठदाह (Sore Throat) भी प्रारम्भ से होता है। दो या तीन दिन में लाली कम होने लगती है और एक सप्ताह के अन्त तक लाली और ज्वर दोनों बहुत कुछ कम हो जाते हैं। रोगी को पूर्ण रूप से लाभ होने में ६ सप्ताह लग जाते हैं। उपद्रवों (Complications) की बहुत संभावना होती है।

टाइफस ज्वर (Typhus Fever)

वमन, उच्च तापक्रम, शिर दर्द, पीड़ा और प्रलाप रोग के लक्षण हैं। पाँचवें दिन, वक्ष, उदर, कटि तथा पीठ पर चकत्ते निकल आते हैं जो दस से पन्द्रह दिन तक बने रहते हैं। जैसे रोग अकस्मात् आरम्भ हुआ था वैसे ही अकस्मात् अन्त होता है।

रोग का यह कारण एक रिकेट्सिया होती है जिसका जूँ द्वारा संवहन होता है। उसके शरीर के कुचले जाने से छिली हुई त्वचा से रिकेट्सिया शरीर में प्रविष्ट होती हैं।

प्लेग (Plague)

प्लेग एक अत्यन्त संक्रामक रोग है जिसमें तीव्र ज्वर होता है और प्रायः जाँघ में गिल्टी (Bubo) निकलती है। कक्ष में भी निकल सकती है। फुप्फुस में निमोनिया के रूप में अथवा **रक्तपूतिता** (Septicemia) के रूप में भी प्लेग हो सकता है।

इसका कारण एक जीवाणु होता है जो **पैस्टिस दंडाणु** (Bacillus Pestis) कहलाता है। पिस्सू इसके वाहक होते हैं और चूहों पर रहते हैं। इस कारण चूहे के पिस्सू (Rat-fly) कहलाते हैं।

प्लेग विशेष कर चूहों का रोग है। वह प्रथम चूहों में फैलता है। आक्रान्त जन्तुओं को जब पिस्सू काटते हैं तो जीवाणु रक्त के साथ उसके आमाशय में पहुँच कर बहुत वृद्धि करते हैं। पिस्सू का आमाशय और आन्त्र दंडाणुओं से भर जाते हैं। पिस्सू अधिक रक्त चूसने का प्रयत्न करता है। इसी क्रिया में पिस्सू वमन और मलत्याग दोनों करता है और दंडाणु कटे स्थान से शरीर में प्रविष्ट कर जाते हैं।

यह रोग अत्यन्त घातक है। आधुनिक औषधियों की खोज से पूर्व ६०, ७० प्रतिशत रोगियों की मृत्यु होती थी। किन्तु अब मृत्यु कम होती और रोग की प्रबलता भी घट गई है। अब प्लेग की वैसी भयंकर महामारी नहीं फैलती।

प्रतिषेध के उपाय : रोग बिना पिस्सू और चूहों के मनुष्य में नहीं फैलता। इस कारण इन दोनों का नाश अत्यन्त आवश्यक है। बेरियम कार्बोनेट की आटा मिला कर गोली बना कर चूहों के बिलों में डाली जाती है। इसको खाने से चूहे मरते हैं। सल्फ़र डाइ-आक्साइड, कार्बन मोनो आक्साइड अथवा सायनो गैस नामक गैसों को चूहों के बिलों में भर कर उनको नष्ट किया जाता है। पिस्सू के नाश के लिये डी०.डी० टी० और गैमेक्सीन को बड़ा उपयोगी पाया गया है।

रोगी के कमरों, वस्त्र तथा अन्य वस्तुओं का पूर्ण निस्संक्रामण होना चाहिये। डी० डी० टी० गैमेक्सीन, क्रिसोल तथा मिट्टी का तेल उत्तम निस्संक्रामक पाये गये हैं। स्वास्थ्य विभाग वालों को सूचना देते ही वे स्वयं आकर निस्संक्रामण करते हैं।

प्लेग का टीका रोग के प्रतिषेध का विश्वस्त उपाय है।

आन्त्रिक ज्वर (Enteric Fever)

ये मियादी बुखार कहलाते हैं। आंत्रिक ज्वर में तीन रोग गिने जाते हैं : टाइफ़ाइड, पैराटाइफ़ाइड ए और पैराटाइफ़ाइड बी। पैराटाइफ़ाइड सी भी होता है। इनको उत्पन्न करने वाले क्रमानुसार टाइफ़ाइड जीवाणु तथा पैराटाइफ़ाइड

ए, बी और सी जीवाणु होते हैं। इन जीवाणुओं का संवहन तीन प्रकार से होता है। अँगुलियों द्वारा, आहार द्वारा तथा मक्खियों द्वारा (Finger, Food & Flies)। रोगी के परिचारक तथा सुश्रूषक रोगी के मल, मूत्र, वस्त्र, आहार आदि छूने से अँगुलियों द्वारा जीवाणुओं को अपने मुख में तथा अपने आहार में पहुँचा देते हैं। जल में संगदूषण पहुँच सकता है। आहार के पदार्थों में मक्खियाँ दोष को पहुँचाने का विशेष साधन होती हैं। जल दूध को दूषित करने का विशेष कारण है।

रोग के लक्षण : ज्वर ही विशेष लक्षण है जो निरन्तर बना रहता है, किसी समय नहीं उतरता। वह प्राय: तीन सप्ताह के पश्चात् उतरता है। ६ या ८ सप्ताह तक ज्वर रह सकता है। प्रथम सप्ताह में ज्वर धीरे-धीरे बढ़ कर १०३ या १०५ तक पहुँच जाता है। दूसरे सप्ताह में वैसा ही बना रहता है। तीसरे सप्ताह में धीरे-धीरे उतरना प्रारम्भ होता है। एक या आधा डिगरी नित्य कम हो जाता है और तीसरे सप्ताह के अन्त तक या उससे दो चार दिन पहिले या पीछे बिलकुल उतर जाता है। दूसरे सप्ताह में पेट का फूलना, पतले दस्त, दस्तों में रक्त का आना आदि उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं। टाइफ़ाइड रोग भयंकर होता है। अब क्लोरम्फ़िनिकाल इसकी विशिष्ट औषधि निकल आई है।

पैराटाइफ़ाइड ए, बी, सी हलके ज्वर हैं। वे थोड़े ही समय में उतर जाते हैं।

प्रतिषेध के उपाय : मक्खियों का नाश, आहार की संगदूषण से रक्षा, केवल शुद्ध गरम आहार, उबाला हुआ गरम दूध पीना रोग से बचने के उपाय हैं। टी० ए० बी० टीका रोग से रक्षा करने में बहुत सफल प्रमाणित हुआ है।

विशूचिका या हैजा (Cholera)

यह बड़ा ही तीव्र और भयंकर रोग है जिसमें एक या दो दिन में और कभी-कभी बारह घंटे में मृत्यु हो जाती है। रोग का कारण एक जीवाणु होता है जिसको 'कौलरा विब्रियो' (Cholera Vibrio) कहते हैं। यह अंग्रेजी, जैसा होता है। रोग की पराकाष्ठा के समय जीवाणु रोगी के मल में भरे रहते हैं। मल के साथ भूमि में पहुँच जाते हैं। टाइफ़ाइड की भाँति इस रोग का संक्रमण भी आहार, अँगुलियों और मक्खियों द्वारा फैलता है। मक्खियाँ रोग फैलाने में बहुत भाग लेती हैं। गंगा की मुहानी के क्षेत्र में यह रोग स्थानिक मारी की भाँति सदा बना रहता है और यातायात के द्वारा वहाँ से समय-समय पर फैला करता है। रोग प्राय: गरमी के अन्त काल से लेकर शरद ऋतु के प्रारम्भ तक अर्थात् जून से सितम्बर तक अधिक फैलता है।

इसका उद्भवन काल कुछ घंटों से लेकर १ या २ दिन तक होता है।

रोग के लक्षण : वमन और पतले दस्त रोग का विशेष लक्षण हैं। दस्त पानी के समान पतले कुछ श्वेत रंग लिये हुए होते हैं। इनको चावल के माँड के समान दस्त (Rice-

water Stools) कहा जाता है । दस्तों की संख्या बहुत होती है और प्रत्येक दस्त में जल की मात्रा अधिक होती है । दस्त बड़े-बड़े होते हैं । शरीर से जल खिंच जाता है जिससे शरीर की पेशियों में विशेषकर टाँगों की पेशियों में ऐंठन होती है । रोगी को अत्यधिक प्यास लगती है । दस्तों में जल निकल जाने से मूत्र त्याग बन्द हो जाता है। बेचैनी बहुत अधिक होती है । नेत्र भीतर को धँस से जाते हैं । गाल बैठ जाते हैं और मुख शुष्क दिखाई देता है । जल की कमी से रक्त गाढ़ा हो जाता है । उसका संचार ठीक-ठीक नहीं होता । हाथों, पाँवों की अँगुलियाँ और फिर ऊपर के भाग भी ठंडे रहने लगते हैं । हृदयावसाद से मृत्यु होती है ।

प्रतिषेध के उपाय : रोगी को पृथक् करके छूतहे अस्पताल में भेजना उचित है जहाँ उसकी चिकित्सा भली भाँति हो सकती है । जल, दूध तथा आहार की शुद्धि पर विशेष ध्यान देना चाहिये । प्रत्येक पदार्थ को ताजा और गरम खाना उचित है । बाजार की मिठाइयाँ या अन्य पदार्थ खाना बिलकुल बन्द कर देना चाहिये । जल को उबाल कर पिया जाय । विशूचिका का टीका बहुत लाभदायक पाया गया है । रोगी के मल में सदा बुझा चूना मिला दिया जाय ।

रोग फैलने पर नगरपालिका के स्वास्थ्य विभाग की ओर से जल शुद्धि तथा आहार पदार्थों के नियन्त्रण के लिये विशेष आयोजन किये जाते हैं । रोग का पूर्ण प्रतिषेध तथा उसका मूलोच्छेदन इस विभाग का काम है ।

प्रवाहिका (Dysentery)

इस रोग में आन्त्र नाल में शोथ हो जाता है । श्लैष्मिक कला में, जीवाणुओं द्वारा आक्रान्त होने से सूजन और व्रण बन जाते हैं । इससे रोगी के उदर में ऐंठन होती है तथा उदरशूल होता है, दस्त बार-बार आते हैं जिनमें रक्त और श्लेष्मा मिश्रित मल निकलता है । कभी-कभी केवल श्लेष्मा और रक्त ही होता है । रोगी को ज्वर भी होता है ।

रोग का कारण एक जीवाणु होता है । तथा अमीबा नामक प्रोटोजुवा जीव भी इस रोग को उत्पन्न करता है । जीवाणु और अमीबा (B. Dysentery and Ameba) दोनों ही आहार द्वारा शरीर में पहुँचते हैं ।

प्रतिषेध : टाइफ़ाइड या विशूचिका के समान उपाय करने चाहियें ।

चेचक, मसूरी माता (Small-pox)

यह रोग अत्यन्त संक्रामक है । इस रोग का प्रारम्भ ज्वर, शिर दर्द, पीठ में तीव्र पीड़ा और अवसाद के साथ होता है । तीन या चार दिन में ज्वर उतर जाता है । तब शरीर पर विस्फोट निकलते हैं जो प्रथम अवस्था में ठोस पिटिका (Papule) होते हैं । तब

वे बड़े हो जाते हैं और उनमें जल भर जाता है जिनको **जल स्फोटिका** (Vesicle) कहा जाता है । कुछ दिन में इन स्फोटिकाओं का जलीय द्रव्य पूय में परिणत हो जाता है । तब इनको **पूयस्फोटिका** (Pustule) कहा जाता है । तब इनके सूखने से **खुरंड** (Scale) बन जाते हैं जो ३ सप्ताह में शरीर से पृथक् हो जाते हैं ।

विस्फोट शरीर पर दोनों ओर समान स्थित होते हैं । वे प्रथम और सबसे अधिक चेहरे पर निकलते हैं । फिर अग्र बाहु और कलाइयों को, विशेषतया उनके पृष्ठों को आच्छादित करते हैं । तब स्कंध और वक्ष पर निकलते हैं । उदर पर सबसे कम होते हैं ।

चेचक कई प्रकार की होती है । (१) **रक्तस्रावी** (Haemorrhage) जिसमें अंगों में चर्म के नीचे श्लैष्मिक कला से तथा अभ्यन्तरांगों में रक्त-स्राव होता है । नाक तथा मूत्र और मल में रक्त निकलता है । यह रोग का घातक रूप है जिसमें प्रायः मृत्यु हो जाती है ।

(२) **सम्मेलक** (Confluent) जिसमें बड़े-बड़े विस्फोट बन कर के एक दूसरे से मिल जाते हैं (३) **विच्छिन्न** (Discrete) जिसमें विस्फोट दूर-दूर और छोटे होते हैं । यह रोग का हल्का रूप होता है । टीका लगवाने के पश्चात् यदि रोग होता है तो इसी प्रकार का होता है ।

रोग का संवहन : यह वायु द्वारा संवाहित रोग माना जाता है । इस रोग का कारण एक वाइरस होता है जो रोगी के नासिका तथा मुख के स्राव में प्रारंभिक दिनों में निकलता है । पूय में संक्रामण होता है । इस कारण खुरंड रोग को फैलाते हैं । रोग एक व्यक्ति से सम्पर्क द्वारा दूसरे को हो जाता है । श्वास द्वारा संक्रमण शरीर में पहुँच सकता है ।

प्रतिषेध : रोग का टीका लगवाना प्रतिषेध का मुख्य उपाय है । प्रथम बार तीन मास की आयु पर और यदि रोग फैल रहा है तो इससे भी पूर्व टीका लगवाना उचित है । दूसरी बार १० वर्ष की आयु पर टीका लगाने से जन्म भर के लिये व्यक्ति में रोग के प्रति क्षमता उत्पन्न हो जाती है ।

टीके में जो वैक्सीन प्रयोग की जाती है वह बछड़ों में रोग उत्पन्न करके उनके विस्फोटों से बनाई जाती है । इसको साधारणतया लिम्फ़ (Lymph) कहते हैं ।

मसूरिका, रोमान्तिका, खसरा (Measles)

यह रोग बच्चों में अधिक होता है । ५ वर्ष से कम आयु के बालकों को यह विशेषतया आक्रान्त करता है । इसमें सारे शरीर पर छोटे-छोटे लाल रंग के दाने निकल आते हैं । मुख लाल दीखता है । गले और नाक में शोथ या सूजन के कारण स्राव निकलता है, छींकें आती हैं तथा खाँसी भी हो जाती है । ज्वर १०२ या १०३ तक रहता है ।

५ वर्ष से कम आयु वाले बालकों में यह रोग अत्यन्त भयंकर होता है । गरीब लोगों में जिनको गन्दे स्थानों में रहना पड़ता है उनमें स्वच्छ स्थानों में रहने वालों की अपेक्षा अधिक मृत्यु होती है ।

इस रोग का कारण भी एक वाइरस होता है जिसका संवहन चेचक की भाँति होता है ।

प्रतिषेध : इस रोग की कोई वैक्सीन नहीं बन सकी है । साधारण उपाय चेचक की भाँति किये जाते हैं । विसंक्रामक घोलों से कुल्ले करके मुँह और नाक की शुद्धि विशेष उपाय हैं ।

गुलिकार्त्ति, क्षय, राजयक्ष्मा
(Tuberculosis, Consumption, Phthisis)

इस रोग का नाम गुलिकार्त्ति इसलिये रखा गया है कि फुप्फुस में अत्यन्त सूक्ष्म गुलिकायें (Tubercles) बन जाती हैं और वहाँ शोथ भी होता है । शरीर के किसी भी अंग में ये गुलिकायें बन सकती हैं । यही ट्यूबरक्यूलोसिस का अर्थ है । शरीर का कोई भी अंग इस विकृति से आक्रान्त हो सकता है । क्षय का अर्थ शरीर का धीरे-धीरे क्षीण होना है जो अँग्रेजी के कन्ज़म्पशन का शाब्दिक अर्थ है । राजयक्ष्मा फुप्फुस का रोग है । इसको थाइसिस कहा जाता है ।

यह रोग अत्यन्त दुष्ट है । इसका कारण एक सूक्ष्म दंडाणु 'ट्यूबर्किल वैसिलस' (Bacillus Tuberculosis) होता है । यह रोगी के बलग़म में होता है और उससे फैलता है । इसके फैलने की दो विशेष विधियाँ हैं । एक बिन्दुक संक्रमण और दूसरे वायु द्वारा । रोगी जब बोलता है तब उसके मुँह से थूक की अत्यन्त सूक्ष्म विन्दु फुहार के रूप में दूर तक पहुँच जाती है । इन बिन्दुओं में यह जीवाणु रोगी के पास बैठे हुए स्वस्थ व्यक्तियों में श्वास द्वारा पहुँच जाता है । रोगी के तीव्र स्वर में बोलने या चिल्लाने से २० फुट तक बिन्दु संक्रमण पहुँच सकता है । जब रोगी का बलग़म भूमि पर धूल के साथ मिल कर सूख जाता है तो उसके कण वायु से उड़कर जीवाणु को लिये हुए स्वस्थ व्यक्ति के फुप्फुस में पहुँच जाते हैं ।

आहार के साथ प्रविष्ट होकर ये जीवाणु आन्त्रों का रोग उत्पन्न कर देते हैं। बालकों को विशेषकर रोग का आंत्रिक या औदरिक रूप ही होता है । इसी प्रकार अन्य अंगों में जीवाणु पहुँच कर उनको रोगाक्रान्त कर देते हैं ।

यह रोग संसार भर में पाया जाता है । निर्धनता इस रोग की विशिष्ट जननी आहार की त्रुटि, सघन संकुचित गन्दे स्थानों में निवास, बहुत व्यक्तियों का साथ

ही रहना, सोना, रोगियों से निकटतम सम्पर्क रोगोत्पत्ति तथा उसको फैलाने के विशेष सहायक कारण होते हैं।

प्रतिषेध के उपाय : इस रोग की उत्पत्ति में सामाजिक कारणों का उतना ही बड़ा हाथ है जितना व्यक्तिगत या शारीरिक कारणों का। जब तक व्यक्ति का शरीर बलवान रहता है रोग क्षमता शक्ति से परिपूर्ण होता है, सुपोषित होता है तब तक रोग नहीं होता। जब पर्याप्त पोषण न मिलने से शारीरिक शक्तियों का ह्रास हो जाता है तब रोग बढ़ता है। यह सब तभी संभव है जब व्यक्ति की आर्थिक दशा इन सब सुविधाओं की प्राप्ति के लिये समर्थ हो। रोगी को चिकित्सा द्वारा रोगमुक्त कर देने के पश्चात् भी जब तक उसकी आर्थिक स्थिति इतनी नहीं सुधर जाती कि वह उत्तम पुष्टिकारक आहार प्राप्त कर सके, अपने परिवार वालों की चिन्ता से मुक्त हो जाय, निवास के लिये दोषमुक्त और वायुयुक्त स्वच्छ स्थान प्राप्त हो सके, कठिन परिश्रम मुक्त जीवन बिता सके तब तक उसके सदा निरोग रहने की आशा नहीं की जा सकती।

आधुनिक नवीन औषधियों की खोज के पूर्व इस रोग को 'मृत्यु सेना का कप्तान' (Captain of Death) कहा जाता था। किन्तु नवीन औषधियों की सहायता से, जो स्ट्रेप्टोमाइसिन (Streptomycin) आइसो निकोटिनिक हाइड्रेज़ाइड (I.N.H.) और पैराऐमीनोसैलिसिलीकएसिड (P.A.S.) है, रोगी के स्वास्थ्य लाभ की संभावना दृढ़ हो गई है। इनमें व्यय भी अधिक नहीं है।

किन्तु उसको स्वस्थ रखने का फिर प्रश्न आ जाता है। इस कारण इस रोग के रोगियों को चिकित्सा, आर्थिक और सामाजिक (Socio-economic) प्रश्न है जहाँ एक समाजसेवी की अत्यन्त आवश्यकता है। इस कारण आजकल चिकित्सक और समाजसेवी का सहयोग चिकित्सा क्षेत्र में अनिवार्य हो गया है।

रोग को रोकने के लिये तथा भावी सन्तति को रोगक्षम अथवा रोगरहित बनाने के लिये बी० सी० जी० (B. C. G.) वैक्सीन के बालकों को इन्जेक्शन दिये जाते हैं। संसार के सभी देशों ने इस विधि को अपनाया है और जिन बालकों या युवा व्यक्तियों में इस रोग की प्रवृत्ति पाई जाती है, जो एक विशेष परीक्षा द्वारा जिसको **ट्यूबरक्यूलिन जाँच** (Tuberculin Test) कहते हैं, उनको यह वैक्सीन इन्जेक्शन द्वारा दी जाती है।

अभी इस विधि के परिणामों को कूतना संभव नहीं है। कुछ वर्ष पश्चात् जब कई सन्तति निकल चुकेंगी तब इसका ठीक-ठीक मूल्यांकन हो सकेगा।

कुष्ठ (Leprosy)

यह अत्यन्त प्राचीन रोग है। संसार के अति प्राचीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख पाया जाता है। इसका कारण 'कुष्ठ का दंडाणु' (B. Leprae) है जो राजयक्ष्मा के जीवाणु

के समान होता है। रोगी के नाक और गले के स्राव तथा व्रणों से निकलने वाली पूय या निस्राव (Pus, Discharge) में रहता है। इस कारण खाँसी, छींकने, तीव्र स्वर से बोलने, रोगी के वस्त्रों, पारस्परिक सम्पर्क तथा मक्खियों द्वारा रोगी से स्वस्थ व्यक्ति को रोग हो सकता है।

इस रोग के दो रूप होते हैं। (१) एक रूप में तन्त्रिकाओं के आक्रान्त होने से त्वचा पर चेतनाहीन (Anaesthetic) बन जाते हैं। दूसरे रूप में त्वचा के नीचे, विशेषकर मुँह पर, कान की पाली पर तथा सारे शरीर पर गाँठें बन जाती हैं। त्वचा मोटी और सिलवटों युक्त हो जाती है। गले और नाक में भी गाँठें बन जाती हैं जिनसे जीवाणु निकल कर स्राव के साथ निकला करते हैं। रोगी १०-१२ वर्ष तक जीते रहते हैं। चेतनाहीन रूप में और भी अधिक जीते हैं।

प्रतिषेध : रोगी का सम्पर्क वर्जनीय है।

चिकित्सा : के लिये नई सल्फ़ोन औषधियाँ अत्यन्त उपयोगी प्रमाणित हुई हैं।

काली खाँसी, कूकुर खाँसी (Whooping-Cough)

यह बाल्यकाल का अत्यन्त कष्टदायक और तीव्र संक्रामक रोग है। बालक को प्रथम जुकाम सा होता है, नाक बहने लगती है, मुँह से भी स्राव टपकता है। इसी स्राव में रोग का जीवाणु (B. Pertusis) रहता है। इसके दो-तीन दिन पश्चात् खाँसी के आक्रमण होने प्रारम्भ हो जाते हैं। बालक को बड़े वेग से खाँसी आती है। खाँसते-खाँसते उसका मुँह लाल पड़ जाता है। मल-मूत्र तक निकल जाते हैं, वमन हो जाता है। अन्त में थोड़ा-सा स्राव निकलता है। तब आक्रमण समाप्त हो जाता है। यह वमन होने पर समाप्त होता है। थूक में रक्त तक आ जाता है।

रोग में कितने ही उपद्रव हो सकते हैं। श्वास मार्ग से शोथ के फुप्फुस में पहुँच जाने से बालक को निमोनिया हो सकता है। बालक की जितनी छोटी आयु होती है उतना उसके लिये रोग भयंकर होता है। प्रथम वर्ष की आयु में १० प्रतिशत शिशुओं की मृत्यु हो जाती है।

रोग का प्रसार बिन्दुक संक्रमण से होता है।

प्रतिषेध : रोगी शिशु को तुरन्त पृथक् करना चाहिये। अन्य बच्चों की रोग से रक्षा का केवल यही उपाय है। एक वैक्सीन (Vacine) के इन्जेक्शन भी दिये जाते हैं।

इनफ्लुएंज़ा (Influenza)

प्रत्येक ३० या ३५ वर्ष के अंतर से इस रोग की विश्वव्यापी महामारी (Epidemic) फैलती है। ऐसी तीन या चार महामारी फैल चुकी हैं। इसका कारण एक

वाइरस होता है जो रोगी के नासिका और गले के स्राव में रहता है। रोग प्रथम तीन दिनों में अत्यन्त संक्रामक होता है। बिन्दु संक्रमण, वस्त्र तथा रोगी की प्रयोग की हुई वस्तुएँ रोग का विस्तार करती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि वायु रोग को फैलाने का विशेष साधन है।

प्रतिषेध : रोग इतनी शीघ्रता से फैलता है कि कोई भी उपाय नहीं हो पाते। व्यक्तिगत उपाय फिर भी कुछ उपयोगी हो सकते हैं। सभा, सोसाइटी, सिनेमा समूहों में एकत्र होना बिलकुल बन्द करना चाहिये। रोगी के पास जाना रोग का आह्वान करना है। जब जाना पड़े तो नाक पर एक तिकोना वस्त्र जिसमें कोई विसंक्रामक रखा हो, रख कर जाना चाहिये।

डिफ्थीरिया (Diphtheria)

यह भी बालकों का एक भयंकर रोग है जो ३ से ५ वर्ष की आयु में अधिक होता है, यद्यपि सब आयु में हो सकता है। इसका कारण डिफ्थीरिया दंडाणु (Corynebacterium Diphtheriae) होता है। यह गले में ग्रसनिका भाग में एक श्वेत मटमैले रंग की झिल्ली बना देता है जो आगे चलकर इतनी बढ़ जाती है कि उससे वायु-मार्ग ही बन्द हो जाता है। फुप्फुस में वायु नहीं पहुँच पाती। रोगी खींच-खींच कर साँस लेता है, वक्ष की सब श्वास-पेशियाँ काम करने लगती है। गले की नसें फूल जाती हैं। स्वर यन्त्र, नेत्र तथा योनि मार्ग में भी यह झिल्ली बन सकती है।

रोग विन्दु संक्रमण, सम्पर्क, वस्त्र, पैंसिल, होल्डर आदि द्वारा फैलता है। इस रोग के वाहक व्यक्ति रोग फैलाने में बहुत भाग लेते हैं।

प्रतिषेध : रोगी बालक का पूर्ण पृथक्करण अन्य बालकों की रक्षा का विशेष उपाय है। इसकी वैक्सीन की प्रतिषेधक मात्रा का इन्जेक्शन लेने से रोग नहीं होता। प्रतिषेध का यह निश्चित उपाय है। चिकित्सा में प्रयोग से निश्चित सफलता होती है।

आलर्क (Rabies)

पागल जन्तुओं के काटने से आलर्क रोग उत्पन्न होता है जिसका मनुष्य में विशेष लक्षण जलसंत्रास (Hydrophobia) होता है। इसका कारण एक वाइरस होता है जो तन्त्रिकाओं तथा लाला ग्रन्थियों (Salivary Glands) में रहता है। जन्तुओं को भी यह रोग होता है किन्तु उनको जलसंत्रास नहीं होता।

काटने के १ से ६ महीने पश्चात् रोग प्रारम्भ हो सकता है। वमन, अरुचि, अवसाद के अतिरिक्त श्वास की पेशियों तथा निगलने की पेशियों में आक्षेपक होने लगते हैं जिससे खाना या पीना असंभव हो जाता है। प्रायः २ से ५ दिन में मृत्यु हो जाती है।

प्रतिषेध : (१) काटे हुए स्थान की पूर्णतः शुद्धि, (२) एंटीरेबिक (प्रत्यालर्क) वैक्सीन के इंजेक्शन।

यह वैक्सीन रोग से मरे हुए कुत्तों के मस्तिष्क से बनाई जाती है। प्रतिषेध को यह निश्चित औषधि है। किन्तु चिकित्सा के लिए अत्यन्त अनिश्चित है।

धनुस्तंभ (Tetanus)

सड़कों पर दुर्घटनाओं के पश्चात् प्रायः यह रोग हो जाता है। घाव में वहाँ की धूल के साथ धनुस्तंभ के दंडाणु, जो प्रायः घोड़ों की लीद में होते हैं, घाव में पहुँच कर रोग उत्पन्न कर देते हैं। शरीर की पेशियों में आक्षेपक होते हैं जिससे पेशी संकुचित होकर रह जाती हैं। सबसे पहले मुँह चलाने की पेशी आक्रान्त होती हैं जिससे मुँह नहीं खुल पाता। अन्य पेशियों की भी यही दशा होती है। अन्त में श्वसन पेशियाँ भी आक्रान्त हो जाती है और श्वसन क्रिया के बन्द होने से मृत्यु हो जाती है।

प्रतिषेध : टिटेनिक ऐन्टी टौक्सिक सीरम की एक प्रतिषेधक मात्रा अर्थात् ३००० मात्रक के इन्जेक्शन से रोग से निश्चित रक्षा होती है। चिकित्सा की भी यही औषधि है।

कनफेड़ (Mumps)

इस रोग में कान के सामने जो कर्णमूल ग्रन्थि होती है वह सूज जाती है। इसको साधारणतया कनफेर कहा जाता है। इसका कारण एक वाइरस होता है। साथ में ज्वर भी होता है। दो या तीन सप्ताह में आरोग्य लाभ हो जाता है।

नेत्रश्लेष्मलार्त्ति (Conjunctivitis)

इसको साधारणतया 'आँख दुखना' (Sore eyes) कहते हैं। यह रोग बाल्यकाल में नेत्रों में संक्रमण पहुँचने से अधिक होता है। श्लेष्मल कला सूज कर लाल हो जाती है। प्रकाश में नेत्र नहीं खुलते। नेत्रों से गाढ़े मटमैले रंग का पूय के समान स्राव निकलता है।

नेत्रों का किसी तनु (Weak) विसंक्रामक जैसे बोरिक अम्ल के घोल से प्रक्षालन तथा किसी सल्फ़ा औषधि या पेनिसिलिन के घोल को नेत्रों में डालने में लाभ होता है। चिकित्सक की सलाह आवश्यक है।

नेत्रों को स्वच्छ रखना प्रतिषेध का मुख्य उपाय है।

बेरी-बेरी (Beriberi)

विटामिन के सम्बन्ध में बेरी बेरी रोग का उल्लेख किया जा चुका है। यह रोग विटामिन बी, या थियामिन की न्यूनता से उत्पन्न होता है। (२) पालिश किये हुए चावलों को प्रयोग करने वाले व्यक्तियों को अधिक होता है। इस रोग की महामारी कई बार फैल चुकी हैं।

सम्पूर्ण चावलों को हाथ से कूट कर प्रयोग करना रोग की चिकित्सा है। थियामिन युक्त आहार नीबू, सन्तरा, टमाटर, हरे शाकों का प्रयोग ये रोग के प्रतिषेध के उपाय हैं। थियामिन की टिकियों का भी प्रयोग से रोग किया जाता है।

अंकुश कृमि रोग (Ankylostomiasis)

ये कृमि रोगी के क्षुद्र आन्त्र के प्रथम और दूसरे भाग ग्रहणी और मध्यान्त्र में रहते हैं जहां वे श्लैष्मिक कला पर चिपट कर रक्त चूसते रहते हैं। उनके कारण रक्त स्राव भी होता है। रोगी रक्त क्षीण हो जाता है। रक्त क्षीणता निरन्तर बढ़ती रहती है। रोगी अशक्त हो जाता है और रक्त रहित श्वेत वर्ण का दिखाई देने लगता है।

रोगी के मल में कृमि के अंडे बहुत बड़ी संख्या में निकलते रहते हैं जो भूमि में पहुँच कर उपयुक्त ताप और आर्द्रता मिलने पर लार्वा बन जाते हैं। ये त्वचा का भेदन करके रक्त द्वारा आन्त्र में पहुँच कर पूर्ण कृमि बन जाते हैं। आहार के साथ भी लार्वा शरीर में पहुँच सकते हैं।

पुरुष और स्त्री कृमि भिन्न-भिन्न होते हैं। पुरुष ६ से १० मि० मीटर और स्त्री १० से १८ मि० मीटर लम्बी होती है। अगले चौड़े सिरे पर मुँह होता है जहाँ चार अंकुश के समान रचनायें होती हैं। इनसे कृमि आन्त्र में चिपटा रहता है।

यह रोग आसाम, बंगाल, बिहार में बहुत फैला हुआ है। मद्रास, आन्ध्र आदि में भी अधिक है। अन्य प्रदेशों में भी है। इसके कारण जातीय आर्थिक हानि इतनी अधिक होती थी कि सरकार को कई बार इसके अन्वेषण के लिये कमीशन बिठाने पड़े।

ऐन्थ्रैक्स रोग

यह रोग ऐन्थ्रैक्स दंडाणु के कारण होता है। यह विशेषकर भेड़ों का रोग है किन्तु उनसे मनुष्य को भी हो जाता है। इस कारण यह अधिकांश भेड़ों को पालने वाले या ऊन का काम करने वाले, कसाई, चमड़े का काम करने वाले, बालों से ब्रुश बनाने वाले आदि व्यक्तियों को अधिक होता है। रोगी में जन्तु या उसकी खाल या बालों से संक्रमण पहुँचता है। इससे दुर्दम्य पूय स्फोटिका बन सकती है। अथवा फुप्फुस का रोग हो सकता है जिसका कारण संक्रमित ऊन के कणों का फुप्फुस में पहुँचन होता है। संक्रमित मांस खाने से आन्त्र का रोग हो सकता है।

यह रोग पैनिसिलिन के आविष्कार के पूर्व घातक होता था।

यौन रोग या रति रोग (Venereal Diseases)

इन रोगों में उपदंश (Syphilis) और गोनोमेह (Gonorrhea) विशेष रोग हैं जो जनता के अनेक दुःखों और अस्वस्थता का कारण होते हैं। जितने उन्माद

(Insanity) के रोगी पागलखानों में भरती हैं उनमें से ३५ प्रतिशत के रोग का कारण यौन रोग हैं। इसी प्रकार ४० प्रतिशत मानसहीन व्यक्तियों (Mentally defective) का ये कारण हैं। ५० प्रतिशत अनुर्वरता (Sterility) और ३० से ४० प्रतिशत गर्भस्राव के लिये ये ही रोग उत्तरदायी हैं।

ये रोग सदा व्यभिचार का फल होते हैं। वे रोगी स्त्री से पुरुष को और रोग-ग्रस्त पुरुष से स्त्री को होते हैं।

उपदंश (Syphilis) : यह महा भयानक रोग है जिसका प्रभाव केवल व्यक्ति ही तक नहीं सीमित रहता। किन्तु सन्तति को माता-पिता के पापों का परिणाम भुगतना पड़ता है। इस रोग का कारण स्पाइरोकीट या ट्रिपोनिया पैलिडम (Treponem Pallidum) होता है जो शिश्न के अग्र भाग की कला के द्वारा भीतर प्रविष्ट हो जाता है।

इस रोग के लक्षणों की तीन अवस्थायें होती हैं : (१) प्रथम अवस्था में मैथुनेन्द्रियों पर कठिन व्रण बन जाता है। (२) दूसरी अवस्था छः सप्ताह से छः मास पश्चात् प्रारम्भ होती है जिसमें चर्म पर दाने निकलते हैं। रोगी विवर्ण हो जाता है, लसीका ग्रन्थियाँ सूज जाती हैं, मुँह के भीतर भी व्रण बन जाते हैं, रक्त क्षीणता और दुर्बलता हो जाती है। (३) तीसरी अवस्था में हृदय, धमनियों तथा तन्त्रिका तन्त्र, अस्थियाँ तथा अन्य अंग आक्रान्त होते हैं। यह रोग गर्भस्राव का विशेष कारण होता है।

चिकित्सा : प्रोकेन पेनिसिलिन ८ लाख मात्रक प्रतिदिन १० दिन तक देने से रोगमुक्ति होती है। रोग प्रारम्भ के पश्चात् ही यह चिकित्सा करनी आवश्यक है।

गोनोमेह : यह गोनोकोकस जीवाणु के कारण उत्पन्न होता है। मूत्र मार्ग में शोथ हो जाता है जिसके कारण मूत्र त्याग में कष्ट होता है। फिर पूय आने लगती है। ऊरू प्रान्त की ग्रन्थियाँ बढ़ जाती हैं। ज्वर भी हो जाता है। यह उग्र अवस्था (Acute Stage) होती है। यदि चिकित्सा न की गई तो जीर्ण (Chronic) दशा हो जाती है। रोग के एक ही आक्रमण से अनुर्वरता उत्पन्न हो सकती है। शुक्राणु उत्पत्ति नष्ट हो जाती है। और भी अनेक उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं। स्त्रियों में और भी भयंकर उपद्रव होते हैं। डिम्ब ग्रन्थि, गर्भाशय, तथा उदर के भीतर के अन्य अंगों में भी रोग फैल सकता है।

चिकित्सा : पेनिसिलिन विशिष्ट औषधि है।

इन रोगों के मूलोच्छेदन के लिए सरकार प्रयत्न कर रही है किन्तु जनता के पूर्ण सहयोग की आवश्यकता है।

अनुक्रमणिका

आ

———

पर्यायवाची हिन्दी शब्दावली

A

Abdomen उदर
Abdominal Cavity उदरगुहा
Abdominal Exercises उदर के व्यायाम
Abduction अपवर्तन
Abductors (muscles) अपवर्तक पेशी
Absorption अवशोषण
Accommodation of Eye नेत्रों का समंजन
Acetabulum उलूखल
Acetylcholine एसिटिलकोलीन
Acromion अंसकूट
Adduction अभिवर्तन
Adductors (muscles) अभिवर्तक पेशी
Adipose Tissue बसा ऊतक
Adrenaline एड्रिनेलिन
Adrenotrophic अधिवृक्क पोषी
Afferent Fibres अभिवाही तन्तु
———Vessel अभिवाही वाहिका
Agglutination समूहन
Agglutinin समूहनकर
Agglutinogen समूहन जनक
Air Cells वायुकोश
Air Space वायु अवकाश
Albumin ऐलबूमिन
Alimentary Canal पोषणनाल
Alveolus (lung) कोष्ठिका
Aminoacid अमीनो अम्ल
Amoeba अमीबा
Amylase एमाइलेज़
Amylolytic कार्बोसंलायी
Anaemia रक्तक्षीणता, रक्ताल्पता
Anal Orifice गुदाद्वार
Anastomosis सम्मिलन
Anabolism चय
Anopheles ऐनोफिलीज़
Antagonistic Group (muscles) विरोधी समूह (पेशियों का)
Anterior Chamber (eye) अग्रकक्ष (नेत्र)
———Commissure (spinal cord) पूर्वसंयोजिका (मेरु रज्जु)
———Fontanelle ब्रह्मरन्ध्र
———Horn शृंग
———Horn Cells पूर्व शृंग कोशिकाएँ
———Root (nerve) पूर्वमूल (तन्त्रिका)
———Tibial Artery पूर्वप्रजंघिका धमनी
Antibody प्रतिपिंड
Antiricketic रिकेट्सरोधी
Antiserum एन्टीसीरम
Antitoxin प्रतिजीव विष
Anus गुदा
Aorta महाधमनी
Aortic Arch महाधमनी चाप
———Orifice महाधमनी छिद्र
Apex शिखर

Apex-beat शिखरस्पन्द
Aquaeductus Cerebri प्रमस्तिष्क कुल्या
Aqueous Humor नेत्रोद
Arachnoid जाल तानिका
Arch of Aorta महाधमनी की चाप
Areolar Tissue अवकाशी ऊतक
Arm बाहु
Arterioles धमनिकाएँ
Artery धमनी
Artesian Well उत्स्रुत कूप
Articular Cartilage संधि उपास्थि
Artificial Ventilation कृत्रिम वायु संवाहन
——Respiration कृत्रिम श्वसन
Ascending Colon आरोही वृहदान्त्र
Asphyxia श्वासावरोध
Assimilation स्वांगीकरण
Astigmatism दृष्टि वैषम्य
Astringent स्तंभक
Attraction Sphere आकर्षक मंडल
Auditory Nerve श्रवण तन्त्रिका
Auricle (heart) अलिन्द (हृदय)
——of Ear कर्ण शष्कुली
Auriculoventricular Orifice अलिन्द निलयी छिद्र
——Valves अलिन्द निलयी कपाटिका
Auriscope कर्ण दर्शक
Axis Cylinder अक्ष सिलिंडर
Axon एक्सन

B

Bacillus Laprae कुष्ठ दण्डाणु
——Tuberculosis राजयक्ष्मा, ट्यूबरक्यूलोसिस
Bacteria तृणाणु
Bacteriolysis तृणाणुलायी
Balance संतुलन
Basilar Membrane आधार कला
Basophile भस्मरागी
Bath स्नान
B. C. G. Vaccine बी० सी० जी० वैक्सीन
B. C. G. Vaccination बी० सी० जी० का टीका लगाना
Bed Bug खटमल
Beriberi बेरी-बेरी
Biconcave उभयावतल
Bicuspid Valve द्विकपर्दी कपाटिका
Bile पित्त
Bile duct पित्तवाहनी
Bile Salts पित्त लवण
Bilirubin विलीयूबिन
Biliverdin विलीवर्डिन
Binocular Vision द्विनेत्री दृष्टि
Biological जैवी
Black Molasses काले मोलास
Blind Spot अन्ध चित्ती
Blood रुधिर
——Corpuscles रुधिर कणिका
——Count रुधिर गणना
——Matching रुधिर तुलना
——Platelets रुधिर विम्बाणु
——Pressure रुधिर दाब, चाप
——Supply रुधिर संभरण
Boiling उबालना
——Point क्वथनांक
Bone अस्थि
——Compact अस्थि संहत

Bone Spongy अस्थि स्पंजी
Brachial Artery प्रगंडिका धमनी
—— —Vein प्रगंडिका शिरा
Brain मस्तिष्क
Bran चोकर
Broad Ligament पृथु स्नायु
Bronchial Tree श्वसन प्रणालिका वृक्ष
Bronchiole श्वासनलिका
Bronchus श्वास नली

C

Caffeine केफीन
Calcaneum पार्ष्णिका
Calorie केलोरी
Calyx केलिस
Canaliculus अणुनलिका
Canning टीन बन्द करना
Capacity समाई
Capillaries केशिकायें
Capiate पृथुका
Capsule (joint) सम्पुट (संधि)
———Fibrous सम्पुट तान्तव
———Synovial सम्पुट स्नैहिक
Carbohydrate कार्बोहाइड्रेट
Carbon Dioxide कार्बन डाइ-आक्साइड
Carbon Monoxide कार्बन मोनोक्साइड
Cardiac Cycle हृदचक्र
Caries (tooth) खुड्डरा
———(bone) अस्थिक्षरण
Carpal bones मणिबंधास्थियाँ
Carpus मणिबंध
Cartilage उपास्थि
Casien केसीन
Cataract मोतियाबिन्द

Cell कोषिका
Cellulose सेल्यूलोज
Central Nervous System केन्द्रीय तन्त्रिका तंत्र
Cereals अन्न
Cerebellum अनुमस्तिष्क
Cerebral Hemisphere प्रमस्तिष्क गोलार्ध
Cerebrospinal Fluid प्रमस्तिष्क मेरुद्रव
———Nervous System प्रमस्तिष्क मेरुतन्त्रिका तन्त्र
Cerebrum प्रमस्तिष्क
Chambers (heart) कोष्ठ (हृदय)
———Anterior (eye) अग्रकक्ष (नेत्र)
Cholera विसूचिका
Chorda Tympani मध्यकर्ण रज्जुतन्त्रिका
Chorionic Villi कोरियन अंकुर
Choroid कोराइड, रंजित पटल
Chromoprotein क्रोमोप्रोटीन
Chromosome क्रोमोसोम
Churning Movements मन्थन गति
Chyme आमपेष
Cilia रोमिकाएँ
Ciliary Body रोमक पिंड
Ciliated Epithelium रोमक उपकला
Circular Fibres अनुवृत्त सूत्र या तन्तु
Circulation of Blood रुधिर परिसंचरण
Circulatory System रुधिर परिसंचरण तन्त्र
Circumduction आवर्तन
Clavicle जत्रुक
Clay मिट्टी, चिकनी मिट्टी
Clot of Blood रक्त का थक्का

Clotting of Blood रक्त का थक्का बनना
Coccyx अनुत्रिकास्थि
Cochlea कर्णावर्त
Coecum अन्धान्त्र
Cold Stage शीत अवस्था
Collecting Tubule संग्राहक अणुनलिका
Colloid कोलाइड
Colour Blindness रंग अन्धता
——Vision रंग दृष्टि
Columnar Epithelium स्तंभाकार उपकला
Combustion दहन
Common Bile Duct सामान्य पित्तवाहनी
——Carotid Artery मूल मातृका धमनी
——Iliac Artery सामान्य श्रोणिफलक धमनी
Communicating Fibres संयोजी तन्तु
Compact (bone) संहत (अस्थि)
Compatibility (of blood) सानुकूलता (रक्त की)
Complementary Air पूरक वायु
Concave अवतल
Concavity अवतलता
Condensed Milk संहत दूध
Condiments मसाले
Conduction चाल, संवहन
Condyle स्थूलक
Cone शंकु
Conjunctiva नेत्रश्लेष्मिका, कंजकटाइवा
Conjunctivitis अभिष्यन्द, नेत्र श्लेष्मल शोथ
Contamination संगदूषण
Connective Tissue संयोजी ऊतक
Consciousness चेतना
Continuous संतत
Constipation कोष्ठबद्धता
Contraction संकोच
Convergence अभिविन्दुता
Convex उत्तल
Convexity उत्तलता
Convolution लहरिका
Co-ordination समन्वय
Coracoid अंसतुंड
Cord (testes) अंडधारक रज्जु
Cordiasin कोर्डियासिन
Cornea कार्निया
Coronary Artery परिमंडली धमनी
Copora Cavernosa Penis शिश्न रक्तधर काय
Corpora Quadrigemina चतुष्टय काय
Corpus Cavernosum Urethrae शिश्न मूत्रपथ काय
Corpus Callosum महासंयोजक
Corpus Luteum पीतपिंड
Cortex प्रान्तस्था
Cortiolactin कोर्टियोलैक्टिन
Cortin कौर्टिन
Cowper's Glands कूपर की ग्रन्थियाँ
Cranial Nerves कपाली तंत्रिकायें
Cranial Flow (parasympathetic) कपाली भाग (परानुकम्पी)
Cranium कपाल
Creatine क्रियेटिन
Cretin जड़वामन
Cretinism जड़वामनता

Cuboid घनास्थि
Culex क्यूलेक्स
Cuneiforms कीलकास्थियाँ
Cusp कर्पदिका
Cuticle उपत्वचा
Cystic Duct पित्ताशयवाहनी
Cytoplasm कोशिका द्रव्य

D

Decidous Teeth अस्थाई दाँत
Deep Well गहरा कुआँ
Deficiency Diseases त्रुटिजन्य रोग
——of Food आहार की त्रुटि
Deglutition निगलना
Dendron दन्द्रोन
Dengue Fever डैंगू ज्वर
Dental Arch दन्त चाप
——Formula दन्त्य सूत्र
Dentate Nucleus दन्तुर केन्द्रक
Dentist दन्त चिकित्सक
Dermis अन्तस्त्वचा
Descending Colon अवरोही वृहदान्त्र या कोलन
Dextrin डैक्सट्रीन
Diabetes डायाबिटीज़
——Mellitus मधुमेह, डायाबिटीज मैलिटस
Diaphragm मध्यच्छदा, डायाफ्राम
Diaphysis डायाफिसिस, दीर्घास्थि काण्ड
Diastole अनुशिथिलन
Diastolic Blood Pressure अनुशिथिलन रक्तदाब
Digestive Disorders पाचन विकार
——System पाचक तन्त्र
Diptheria डिप्थीरिया
Disaccharide डाइ सैकेराइड
Disinfectant निसंक्रामक
Disinfection निसंक्रमण
Disinfestation पीड़जन्तुनाश, हनन
Dislocation संधि भ्रंश
Dissection व्यवच्छेदन
Distillation आसवन
Divergence अपविन्दुता
Division विभाजन
Donor प्रदाता
Ductless Gland नि:स्रोत ग्रन्थि
Duodenum ग्रहणी, ड्यूओडीनम
Dura Mater दृढ़ तानिका, डुरा मेटर
Dwarfism वामनता
Dysentry पेचिश
Dyspnoea दु:श्वसन

E

Ear कर्ण
——External बहि:कर्ण
——Internal अन्त:कर्ण
——Middle मध्यकर्ण
Eccentric उत्केंद्रिक
Ectoderm बहिर्जन स्तर
Effector Organs प्रेरणाचालक अंग
Efferent Fibre अपवाही तन्तु
——Vessel अपवाही वाहिका
Egg अंडा
Elasticity प्रत्यास्थता
Elbow Joint कुहनी
Endocardium अन्तर्हृद
Endocrine Glands अन्त:स्रावी ग्रन्थि
Endoderm, Entoderm अन्तर्जन स्तर

End Organs अन्तांग
Endoskeleton अन्त:कंकाल
Energy ऊर्जा
Enteric Fever आंत्रिक ज्वर
Enterokinase ऐन्टोरोकाइनेज
Enzyme प्रकिण्व, एंजाइम
Eosinophile इओसिन रागी
Epidemic महामारी
Epidermis बाह्य त्वचा
Epididymis उपाण्ड
Epiglottis उपजिह्विका, कंठच्छद
Epiphysis एपीफिसिस
Epithelial Tissue उपकला ऊतक
Equilibrium साम्यावस्था
Erection प्रहर्षण
Erecticle Tissue उच्छ्रयि ऊतक
Erepsin ईरेप्सिन
Errors of Refraction दृष्टिदोष
Erythrocytes लोहिताणु
Essential Constituents विशिष्ट घटक
Ethmoid झर्झरिका
Eustachian Tube यूस्टेकी नलिका
Excretion मलोत्सर्जन
Excretory System उत्सर्गी तन्त्र
Exophthalmic Goiter नेत्रोत्सेधी गलगंड
Exoskeleton बाह्य कंकाल
Expiration उच्छ्वास, उच्छ्वसन
Extensors प्रसारक पेशी
External Auditory Meatus बाह्य श्रवण कुहर
——Carotid Artery बाह्यमातृका धमनी
External Ear बहि:कर्ण
——Intercostalis बहि:पर्शुकान्तरिका पेशी
——Os Uterii गर्भाशय का बहि:मुख
——Respiration बाह्य श्वसन
——Secretion बाह्य स्राव
Extremities देह शाखाएँ
Eye नेत्र
Eye-balls नेत्र गोलक
Eye-brow नेत्र-भ्रू

F

Face आनन
Facet पृष्ठक
Facial Nerve आननी तन्त्रिका
Fallopian Tube डिम्बवाही नली
False Rib गौण पर्शुका
Falx Cerebri प्रमस्तिष्क दात्र
Fat स्नेह, वसा
Fatigue श्रम
Female Pronucleus स्त्रीपुर:केन्द्रक
Femoral Artery और्वी धमनी
Femur ऊर्वस्थि
Femur, Lateral Condyle ऊर्वस्थि, बहि:स्थूलक
——Medial Condyle ऊर्वस्थि अन्त:स्थूलक
Ferment किण्व
Fermentation किण्वन
Fibrin फाइब्रिन
Fibrinogen फाइब्रिनोजन
Fibrous Tissue तान्तव ऊतक
Filiform Papillae सूत्री अंकुरक
Filters निस्यंदक

Filtration निस्यंदन
Filum Terminale मेरुअन्त्यसूत्र
Flexion आकुंचन
Flexors आकुंचक पेशी
Floating Ribs चलायमान पर्शुका
Focus केन्द्रीभवन, संगम, फोकस
Foramen Magnum वृहद् रन्ध्र
Force बल
Fore-arm अग्रबाहु
Fornix फार्निक्स
Fourth Ventricle चतुर्थ निलय
Fovea Centralis केन्द्रगर्तिका
Frequency आवृत्ति
Freezing हिमीकरण
Frontal ललाटास्थि
——Lobe ललाट खंड
Fructose फ्रुक्टोज
Frying तलना
Fungiform Papillae कवकी अंकुरक
Fungus कवक, फंगस

G

Gall Bladder पित्ताशय
Gamete युग्मक
Gametocyte युग्मकजन
Ganglion गंडिका
Gastric Digestion आमाशयिक पाचन
Germinal Epithelium जनन उपकला
Gigantism अतिकायता
Glans Penis शिश्न मुंड
Glenoid Cavity अंसउलूखल, उत्तान हा, ग्लिनाइड गुहा
Globulin ग्लोब्यूलिन
Glomerulus केशिका स्तवक
Glucose ग्लूकोज
Glutin ग्लूटिन
Glycogen ग्लाइकोजिन
Goitre घेंघा, गलगंड
Gonadotrophic प्रजनन ग्रन्थि पोषी
Gonadotropin प्रजनन ग्रंथि प्रेरक
Gonorrhoea गोनोमेह
Graafian Follicle ग्रैफियन पुटिका
Greater Multangular वृहद् बहुकोणिका
Greater Trochanter वृहत् शिखरक
Gyrus कर्णक

H

Haemocytometer हीमोसाइटोमीटर, रुधिर कोशिका गणनी
Haemoglobin हीमोग्लोबिन, रक्तरंजिका
Haemolysins रुधिर संलयिका
Haemolysis रुधिर संलयन
Haemorrhage रक्त स्राव
Haemorrhagic रक्त स्रावी
Hair Follicle रोमकूप
Hammate फणधर
Hand हाथ
Hard Palate कठिन तालु
Hard Water कठोर जल
Haversian Canal हेवर्सीयन नलिका
Health स्वास्थ्य
Heart हृदय
Heart Beat हृत्स्पन्द
Heparin हिपेरिन
Hepatic Artery यकृत धमनी
——Duct यकृत वाहनी
——Vein यकृत शिरा
Hereditary आनुवंशिक, वंशानुगत

Heredity आनुवंशिकता
Hilum द्वार, हाइलम
Hilus द्वार, हाइलस
Hip Bone नितंबास्थि
Hip Joint नितंब संधि
Horizontal क्षैतिज
Hormone हारमोन
Hot Stage ताप अवस्था
Humanisation (of milk) मानवीकरण (दूध का)
Humerus प्रगंडास्थि, ह्यूमरस
Hyaline काचाभ, हाइलाइन
Hydrochloric Acid हाइड्रोक्लोरिक अम्ल
Hydrophobia जलसन्त्रास
Hyoid हायोइड, कंठिका
Hypermetropia दीर्घ दृष्टि
Hyperthyroidism अत्यवटुता
Hypothyroidism हीनावटुता, हाइपोथाइराइडिज्म

I

Iliac Fossa श्रोणिफलक खात
Ilium शेषान्त्र, श्रोणिफलक
Imago सूक्ष्म पूर्ण कीट, इमेगो
Immunisation क्षमीकरण
Immunity रोगक्षमता
——Acquired उपलब्ध रोगक्षमता
——Active सक्रिय रोगक्षमता
——Natural प्राकृतिक, रोगक्षमता सहज
——Passive निष्क्रिय रोगक्षमता
Impulse संवेग
Impure अशुद्ध
Inactive अक्रिय
Incompatibility असंगतता
Incubation Period उद्भवन काल
Incus इंकस
Infection संक्रमण
Infective Period संक्रामी काल
Inferior Border अधोधारा, किनारा
——Extremity अधोशाखा
——Peduncles अधोवृन्त
——Turbinal अधोशुक्तिका
——Vena Cava अधोमहाशिरा
Influenza इनफ्लुएंजा
Inlet प्रवेशिका, आगम द्वार
Inorganic अकार्बनिक
Insecticide कीटनाशी
Insensible Perspiration अज्ञात स्वेदन,
Insertion चेष्टा विन्दु, निवेश, इन्सर्शन
Inspiration प्रश्वास, प्रश्वसन
Insulin इंसुलीन
Interarticular Cartilage संध्यन्तर उपास्थि
Intercellular Space अन्तरकोशिका अवकाश
Interlobular Vein अन्तरखंडिका शिरा
Internal Carotid Artery आभ्यन्तर मातृका धमनी
Internal Ear अन्त:कर्ण
——Intercostalis अन्त:पर्शुकान्तरिका पेशी
——Malleolus अभिमध्य गुल्फ
Internal Organs अभ्यन्तरांक
——Os (uterus) अन्तर्मुख (गर्भाशय)
——Respiration आभ्यन्तर श्वसन
——Secretion अन्त:स्राव

Internode अन्तर्पर्व
Interosseous Membrane अस्थ्यन्तर्कला
Interstitial Tissue अन्तरालीय ऊतक
Intervertebral Disc कशेरुकान्तर पट्ट या उपास्थि
——Foramen कशेरुकान्त छिद्र
Intoxicating Beverage मादक पेय
Intralobular Vein अन्तर्खंडिका शिरा
Invertase इनवर्टेज़
Invertebrate अपृष्ठवंशी
Irritability क्षोभशीलता, क्षोभ्यता
Ischial Tuberosity आसन पिंडक
Ischium आसनास्थि, इस्कियम
Islet of Langerhans लैंगरहैन्स के द्वीप
Isolucin आइसोल्यूसीन

J

Jejunum मध्यान्त्र
Joint संधि
——Ball and Socket उलूखल संधि
——Diarthrosis चल, संधि अबाध चल
——Gliding संसर्पी संधि
——Hinge कोर संधि
——Pivot विवर्तिका संधि
——Synarthrosis अचल संधि

K

Kalazar कालाज़ार
Katabolism अपचयन
Kidney वृक्क
Knee Joint जानु संधि

L

Labyrinth गहन, लैबिरिन्थ
Lachrymal Bone अश्रुअस्थि
——Glands अश्रु ग्रंथि
Lachrymal Sac अश्रुकोष
Lactalbumin लैक्टैलबूमिन
Lactase लैक्टेज़
Lacteal पायसनिका
Lactic Acid लैक्टिक अम्ल
Lacunae रिक्तिकायें
Large Intestine वृहदान्त्र
——Mononuclear वृहद एककेन्द्रकी
Larva लार्वा
Larvicide लार्वानाशी
Larynx कंठ, स्वरयंत्र
Lateral Horn पार्श्व श्रृंग
——Malleolus पार्श्व गुल्फ
——Ventricles पार्श्व निलय
——Vertebral Ganglion पार्श्व कशेरुकी गंडिका
Laxative मृदु विरेचक
Lead Poisoning सीस विष
Leg जंघा, टाँग
Legumin लेगूमिन
Lens लैन्स
Leishman Donovan Bodies लीशमैन डोनोवन पिंड
Leucin ल्यूसिन
Leucocytosis श्वेताणु वृद्धि
Ligaments स्नायु
Lipase लाइपेज़
Lipolytic वसा संलायी
Liver यकृत
Lobule खंडिका
Longitudinal Fibres अनुदैर्घ्य तन्तु
——Section अनुदैर्घ्य अनुभाग, काट
Louse जूँ

Lower Extremity अधोशाखा
Lower Multangular लघु बहुकोणिका
Lumber Region कटि प्रान्त
Lumen अवकाशिका
Lung फुप्फुस
Lymphocyte लसीकाणु
Lymphoid Tissue लसीकाभ ऊतक
Lysine लाइसिन

M

Maggot मैगट
Malaria मैलेरिया
——Benign Tertian सुदम्य तृतीयक मलेरिया
——Malignant Tertian दुर्दम्य तृतीयक मलेरिया
——Quartan चतुर्थक मलेरिया
Male Hormone पुरुष हारमोन
——Pronucleus पुरुष पुरःकेन्द्रक
Malleus मैलियस
Malnutrition कुपोषण
Malpighian Capsule मैल्पिझी का समावरण, सम्पुट
Maltase माल्टेज़
Maltose माल्टोज
Mammalia स्तनधारी
Mandible अधोहन्वस्थि
Manubrium Sternii उरोस्थि हस्तक
Marrow मज्जा
Massage मालिश
Maxilla ऊर्ध्व हन्वस्थि
Maxillary sinus हन्वीय विवर
Measles मसूरिका, रोमान्तिका, खसरा
Medium माध्यम
Medulla Oblongata मेरुशीर्ष, मेडुला ऑबलांगाटा
Medullary Sheath मायलिन पिधान
Membrane कला
Memory स्मृति
Menopause रजोनिवृत्ति
Menstrual Cycle आर्तव चक्र
Menstruation आर्तव, रजोधर्म, मासिक
Merozoite खंडज
Mesentery आन्त्रसंयोजनी
Mesoderm मध्यजन स्तर
Metabolism चयापचय
Metacarpal करशलाका, करभास्थि
Metacarpus करभ
Metatarsal प्रपदास्थि
Metatarsus प्रपद
Methionine मीथियोनाइन
Micro-organism अणुजीव
Microscope अणुदर्शी, सूक्ष्मदर्शी
Micturition मूत्रण मूत्रत्याग
Mid-brain मध्य मस्तिष्क
Middle Ear मध्यकर्ण
Middle Peduncle मध्यवृन्त
Mitral Valve माइट्रल कपाटिका
Modiolus मोडियोलस
Monosaccharide मोनोसैकेराइड
Morula मोर्यूला
Mosquitoes मच्छर
——Anopheles एनोफिलीज़ मच्छर
——Culex क्यूलेक्स मच्छर
——Stegomya स्टेगोमाया मच्छर
Motor प्रेरक
——Area प्रेरक क्षेत्र

Mouth मुख
Mucin म्यूसिन
Mucous Membrane श्लैष्मिक, श्लेष्मल कला
Mumps मम्स, कनफेड़
Myelin मायलीन
Myocardium हृत्पेशी
Myopia निकट दृष्टि
Myxedema मिक्सिडीमा

N

Nares नासाद्वार
Nasal Cavity नासागुहा
Nasalis नासास्थि
Nasolachrymal Duct नासाश्रु वाहनी
Navicular नाविका, नावस्थित, नौकाभस्थि
Nerve तन्त्रिका
——Anterior Root पूर्व मूल
——Cell तन्त्रिका कोषिका
——Cranial कपाली तन्त्रिका
——Nerve Endings तन्त्रिकान्त
——Motor प्रेरक तन्त्रिका संचालक
——Posterior Root पश्च मूल
——Sensory सांवेदनिक तन्त्रिका
——Spinal मेरु तन्त्रिका
Nervous System तन्त्रिका तन्त्र
Neural Arch तन्त्रिका चाप
Neurilemma न्यूरीलैमा
Neurone न्यूरोन
Neutrophile उदासीनरागी
Nicotine निकोटीन
Night Blindness रतौंधी
Nissl's Granules निसिल के कण
Node पर्व
Non-intoxicating Beverage अमादक पेय
Nose नासिका
Nostrils नासिकाद्वार
Notch भंगिका
Nucleolus केन्द्रिका
Nucleoplasm केन्द्रक द्रव्य
Nucleoproteins न्यूक्लीयोप्रोटीन
Nucleus केन्द्रक
Nutrition पोषण
Nutritive Value पोषक मूल्य

O

Oblique Fibres तिर्यक तन्तु
Obturator Foramen श्रोणि रन्ध्र
Occipital पश्चकपालास्थि
——Lobe पश्चकपाल खंड
Odontoid Process दन्ताभ प्रवर्ध
Oestrin ईस्ट्रिन
Olecranon Fossa कूर्पर खात
——Process कूर्पर खात प्रवर्ध
Olfactory Bulb घ्राण कन्द
——Nerve घ्राण कन्द तन्त्रिका
——Tract घ्राण कन्द पथ
Omentum वपा
Oocyst युग्मक पुटी
Ookinete चलयुग्म
Operation शस्त्रकर्म, शल्यकर्म, आपरेशन
Opsonin आप्सोनिन
Optic Chiasma अक्षि स्वस्तिक
——Nerve दृष्टि तन्त्रिका
Orbit नेत्रगुहा
Organ of Corti कार्टी का अंग

Organic कार्बनिक
Origin (muscle) मूलबन्ध
Ossicle अस्थिका
Ossification अस्थिभवन
——Centre अस्थिभवन केन्द्र
Outlet बहिर्गम द्वार, निष्कासिका
Oval Window अंडाकार छिद्र
Ovary डिम्ब ग्रन्थि
Ovulation डिम्बक्षरण
Ovum डिम्ब
Oxidation आक्सीकरण

P

Palatine तालवस्थि
Palm हथेली, करभ
Palmar Arch करतल चाप, करभ चाप
Pampiniform Plexus शिराजालिका
Pancreas अग्न्याशय
Pancreatic Juice अग्न्याशय रस
——Duct अग्न्याशय वाहनी
Papillae (tongue) अंकुरक (जिह्वा)
Parallel समानांतर
Paralysis अंगधात
Parasite पराश्रयी
Parasiticide पराश्रयी नाशी
Parasympathetic System परानुकंपी तन्त्र
Parathyroid परावटुका
Parboiled Rice उसना चावल
Parietal पार्श्वकास्थि
——Lobe (brain) पार्श्व खंड, पराइटल खंड (मस्तिष्क)
Parotid Gland कर्णमूल ग्रन्थि; कर्णपूर्व ग्रन्थि
Pasteurization पैस्चुरीकरण
Pasteur Chamberland Filter पैस्च्योर चैम्बर्लैन्ड निस्यंदक
Patella जान्वस्थि, जान्विका
Pectoral Girdle अंसमेखला
Pelvic Cavity श्रोणि गुहा
——Colon श्रोणिगत वृहदान्त्र
——Girdle श्रोणि मेखला
Pelvis (kidney) गोणिका
Pepsin पेप्सिन
Peptone पेप्टोन
Pericardium परिहृद
Perineum मूलाधार
Peripheral Nerves परिपार्श्व या परिधिस्थ तन्त्रिकायें
Peristalsis आन्त्रगति, लहरी गति, क्रमाकुंचन
Peritoneum पर्युदर्या
Permanent Teeth स्थाई दाँत, चिरदन्त
Phagocytes भक्षकाणु
Phagocytosis जीवाणु भक्षण
Phalanges अंगुल्यास्थियाँ
Pharynx ग्रसनी
Phenylalanine फिनाइलऐलेनाइन
Phosphoprotein फास्फोप्रोटीन
Pia Mater मृदु तानिका, पाया मेटर
Pigment वर्णक
——Epithelium वर्णक उपकला
Pisiform वर्तुलिका
Pitocin पिटोसिन
Pitressin पिट्रेसिन
Pitutary Gland पीयूषिका ग्रंथि, पिट्यूटरी ग्रन्थि

---Anterior Lobe पूर्वखंड
-----Pars Intermedia मध्यांश
---Posterior Lobe पश्चखंड
Placenta अपरा
Plague प्लेग
Plantar Arch पदतलचाप, पदचाप
Plasma प्लाविका, प्लाज्मा
Plasmodium प्लाज्मोडियम
Platelets रक्त विम्बाणु
Pleura प्लूरा, फुप्फुसावरण
Pleural Cavity प्लूरा गुहा
Plexus जालिका
Pneunmin न्यूमिन
Polymorphonuclear बहुरूप केन्द्रकी
Polypeptide पौलीपेप्टाइड
Polyssaccharide पौलीसैकेराइड
Pomum Adamii टेंटुआ
Pons पौन्स
Porta Hepatis यकृत द्वार
Portal Circulation प्रतिहारी रक्त-संचार
Portal Vein प्रतिहारणी शिरा
Posterior Cells पश्च शृंग कोशिका
---Fontanelle पश्चिम रन्ध्र, शिव रन्ध्र
---Horn पश्चिम शृंग
---Nasal Opening पश्च नासाद्वार
---Tibial Artery पश्चप्रजंघिका धमनी
Post Ganglionic Fibre पश्च गंडिका तन्तु
Postmenstrual Period पश्चात् आर्त्तव काल

Precipitation अवतलीकरण
Preganglionic Fibre पूर्व गंडिका तन्तु
Premenstrual Period पूर्व आर्त्तव काल
Prepuce शिश्नाग्रच्छद
Preservation परिरक्षण
Presbyopia जरा दृष्टि
Preservation of Food खाद्य परिरक्षण
Preventable Diseases प्रतिषेध्य रोग, निवार्य रोग
Process प्रवर्ध, प्रक्रिया
Progestin प्रोजेस्टिन
Prolactin प्रोलैक्टिन
Prolan-B प्रोलान-बी
Pronation अवतानन
Prophylaxis रोगनिरोध, प्रतिषेध
Protein प्रोटीन
Proteose प्रोटीयोज
Proteolytic प्रोटीनलायी
Prothrombin प्रोथोम्बिन
Protoplasm प्रोटोप्लाज्म, जीवद्रव्य
Protozoa प्रजीवाणु
Ptyalin टायलिन
Pubic Arch जघन चाप
Pubis जघनास्थि
Pulmonary Artery फुप्फुसी धमनी
---Circulation फुप्फुसी परिसंचरण
---Vein फुप्फुसी शिरा
Pulse नाड़ी
Pupa प्यूपा
Purgative विरेचक
Purification शोधन
Pus पूय, पस, पीव
Pustule पूयस्फोटिका

Pyloric Orifice पायलोरस द्वार
——Valve पायलोरस की कपाटिक
Pylorus पायलोरस, जठर निर्गम
Pyorrhoea पायरिया
Pyramid पिरामिद
Pyramidal Cell पिरामिदी कोशिका

R

Rabies आतर्क, रैबीज
Radial Artery बहि: प्रकोष्ठिका धमनी
Radius बहि: प्रकोष्ठास्थि, रेडियस
Ramus प्रशाखा
Rat Flea पिस्सू
Recipient आदाता
Receptor Organs संग्राहक अंग
Rectum मलाशय
Rectus (abdomen) सरला पेशी (उदर)
——(eye) दंडिका (नेत्र)
Red Corpuscles लाल कणिका
——Nucleus लाल कणिका केन्द्र
Reflection परावर्तन
Reflex Action परावर्त क्रिया, प्रतिवर्त क्रिया
——Arc परावर्त चाप, प्रतिवर्तचाप
Refraction परावर्तन
Regularity क्रमबद्धता, नियमितता
Regulation of Temperature ताप नियमन
Reissner's Membrane रीजनर की कला
Relapsing Fever पुनरावर्त्तक ज्वर
Renal Artery वृक्क धमनी
——Vein वृक्क शिरा
Ren
Reproduction प्रजनन, सन्तानोत्पत्ति
Reserve Store रक्षित भंडार
Respiration श्वसन, श्वासकर्म
Respiratory Centre श्वसन केन्द्र
——Exercises श्वसन व्यायाम
——Movements श्वसन गति
——Muscles श्वसनक पेशी
——System श्वसन तन्त्र
Retina कृष्ण पटल, रेटिना
Rib पर्शुका
——Angle पर्शुका कोण
——Floating पर्शुका चलायमान
——Head पर्शुका शिर
——True पर्शुका मुख्य
Riboflavin रिबोफ्लेवीन
Rickets रिकेट्स, सूखा रोग
Rickettsia रिकेट्सिया
Rods शलाका

S

Sacral Flow (Parasympathetic System) कटिभाग, अधोभाग (परानुकंपी तंत्रिका)
Sacrum त्रिक, त्रिकास्थि, सैक्रम
Saliva लाला
Salivary Gland लाला ग्रन्थि
Salting नमक लगाना
Sandfly मरुमक्षिका
——Fever मरुमक्षिका ज्वर
Sarcolemma सारकौलेमा
Sarcoplasm पेशीद्रव्य
Scala Media मध्य सोपान
——Tympani मध्य कर्ण सोपान

Scala Vestibuli प्रघाण सोपान
Scapula अंस फलक
Scarlet Fever अरुण ज्वर
Schizont खंजड प्रसू
Sclera, Sclerotic Coat स्क्लीरा, श्वेत पटल (नेत्र)
Sebacious Gland त्वग्वसा ग्रन्थि
Seborrhoea सेबोरिया
Sebum वसामय पदार्थ, त्वग्वसा
Section अनुभाग, काट
Segmentation खंडीभवन
Semicircular Canal अर्धवृत्ताकार नलिका
Semilunar अर्धचन्द्र, अर्धचन्द्राभ
——Notch अर्धचन्द्र भंगिका
——Valve अर्धचन्द्र कपाटिका
Seminal Fluid वीर्य, शुक्र
——Vesicle शुक्राशय
Seminiferous Tubule शुक्र प्रणालिकायें
Sensation संवेदन
Sensible Perspiration ज्ञात संवेदन
Sensory Area सांवेदनिक क्षेत्र
——Epithelium संवेदक उपकला
Septicemia रक्तपूतिता
Septum फलक
Serous Coat सीरीय स्तर
Serum सीरम
Sexual Cycle मैथुनी चक्र
Sexual Glands मैथुन ग्रन्थियाँ
Shallow Well उथला कुआँ
Shoulder Joint स्कंध संधि
Skeleton कंकाल
Skimmed Milk मखनियाँ दूध
Skin त्वचा
Skull करोटि
Small Intestines क्षुद्रान्त्र
Small pox चेचक, बड़ी माता
——Confluent सम्मेलक
——Discrete विच्छिन्न
——Haemorrhagic रक्तस्रावी
Smoking धुँआरना, धुमायन
Soft Palate कोमल तालू
Soup सूप, रसा
Space अवकाश
Sphenoid जतूकास्थि
Spherical Aberration गोलीय विपथन
Sphincter Anii गुद संवरणी पेशी
——Urethrae मूत्रमार्ग संवरणी
Sphygmomanometer रुधिर दाबमापी, स्फिग्मोमैनोमीटर
Spermatozoa शुक्राणु
Spinal Canal मेरुनलिका
——Column मेरुदण्ड, पृष्ठवंश
——Cord मेरुरज्जु
——Fluid मेरुद्रव
Splenic Vein प्लीहा शिरा
Spongy स्पंजी, सुषिर
Squamous Epithelium शल्की उपकल
Stagnant अप्रवाही, रुका हुआ
Stapes स्टेपीज़
Starch मंड, स्टार्च
Steaming भाप में पकाना
Stegomya स्टेगोमाया
Sterility अनुर्वरता, वंध्यता
Stimulant उद्दीपक, उत्तेजक
Stimulus उद्दीपक

Stomach आमाशय
———Fundus बुघ्न
Stratified Epithelium स्तरित उपकला
Striped Muscles रेखित, रेखांकित पेशी
Styloid Process शरीर प्रवर्ध
Subarachonoid Space अधोजाल तानिका अवकाश
Subclavian Artery अधोजत्रुक धमनी
Sublingual Gland जिह्वाधर ग्रन्थि
Sublobular Veins अधोखंडिका शिरायें
Submaxillary Gland अधोहनु ग्रन्थि
Submucous Layer अधोश्लेष्मल स्तर
Succus Entericus आन्त्र रस
Sulcii परिखा
Superior Border ऊर्ध्व किनारा
———Extremity ऊर्ध्व शाखा
———Mesenteric Vein ऊर्ध्व आन्त्रयोजनी शिरा
———Peduncles ऊर्ध्व वृन्त
———Vena Cava ऊर्ध्व महाशिरा
Supination उत्तानन
Supplemental Air परिनिशिष्ठ वायु
Suprarenal Gland अधिवृक्क ग्रन्थि
Suspension आलंबन
Suspensary Ligament अवलंबी स्नायु
Sweat Glands स्वेद ग्रन्थियाँ
Sweating Stage स्वेदन अवस्था
Sympathetic System अनुकम्पी तन्त्र
Symphysis Pubis तन्तूपास्थि संधिका
Synarthrosis अचल संधि
Synovial Fluid स्नैहिक द्रव
Syphilis सिफ़िलिस, उपदंश
Synapse अन्तर्ग्रन्थि
System तन्त्र
———Articular संधि तन्त्र
———Circulatory रुधिर परिसंचरण तन्त्र
———Digestive पाचक तन्त्र
———Endocrine अन्तःस्रावी तन्त्र
———Excretory उत्सर्गी तन्त्र
———Lymphatic लसीकावाहक तन्त्र
———Muscular पेशी तन्त्र
———Nervous तन्त्रिका तन्त्र
———Reproductive प्रजनन तन्त्र
———Skeletal कंकाल तन्त्र
Systole प्रकुंचन
Systolic Blood Pressure प्रकुंचन रक्तदाब
Systemic Circulation दैहिक परिसंचरण

T

Tactile Corpuscles स्पर्शग्राही कणिका
Talus घुटिकास्थि, टैलस
Tanin टैनिन
Taste स्वाद
Taste Bud स्वाद कलिका
Tarsal Bones गुल्फकास्थियाँ
Temporal शंखास्थि
Temporal Lobe (brain) शंख खंड (मस्तिष्क)
Temporomandibular Joint शंखाधोहनु संधि
Tendon कंडरा
Tentorium Cerebelli अनुमस्तिष्कछदि
Testes अंडग्रन्थि
Tetanus धनुस्तंभ, टिटेनस
Tetany टिटेनी

Theonine थियोनाइन
Thiamine थियामिन
Thigh ऊरू
Third Ventricle तृतीय निलय
Thoracic Region वक्ष प्रान्त
Thorax वक्ष
Thrombin थ्रम्बिन
Thumb अँगूठा
Thyroid अवटुका
——Extract अवटकासत्व
Thyrotrophic अवटुका पोषी
Thyroxin थाइरोक्सिन
Tibia प्रजंघिका
Tick किलनी
Tidal Air श्वसन वायु, प्राण वायु
Tissue ऊतक
——Connective संयोजी ऊतक
——Epithelial उपकला ऊतक
——Muscular मांसपेशी ऊतक
——Nervous तन्त्रिका ऊतक
——Respiration श्वसन ऊतक
Tonsil टाँसिल
Tooth दाँत
——Alveolus कोष्ठिका
——Canine भेदक
——Cement सीमेंट
——Crown शीर्ष
——Dentine डैन्टीन
——Enamel अनैमेल
——Incisor छेदक
——Molar चर्वणक
——Neck ग्रीवा
——Permanent स्थायी, चिर
Tooth Premolar अग्रचर्वणक
——Pulp Cavity पल्प गुहा
——Root मूल
——Temporary, Decidous अस्थायी, अचिर
Toxins जीवविष
Trachea श्वासनाल
Transverse Colon अनुप्रस्थ वृहदान्त्र
——Process अनुप्रस्थ प्रवर्ध
——Section अनुप्रस्थ अणुभाग, काट
Treponema Pallidum ट्रिपोनिमा पैलिडम
——Recurrentis ट्रिपोनिमा रिकरेन्टिस
Tricuspid Valve त्रिकपर्दी कपाटिका
Triquetral त्रिकोणिका
Trophozoite पोषज
Trunk धड़
Trypsin ट्रिप्सिन
Tse-tse Fly सटसी मक्षिका
Turbinal शुक्तिका
Tuberculosis गुलिकार्ति, क्षय, टच्यूबर्क्यूलासिस
Tuberculin Test टच्यूबर्कुलीन जाँच
Tympanic Membrane कर्ण पटह
Typhus Fever टाइफस ज्वर

U

Ulna अन्त:प्रकोष्ठास्थि, अलना
Ulnar Artery अन्त:प्रकोष्ठिका धमनी
Ultraviolet Rays परावैंगनी किरणें, अल्ट्रावायलेट रेज़
Umbilical Cord नाभि रज्जु
Unicellular एककोशिकी

Universal Recipient सर्वादाता
Upper Extremity ऊर्ध्व शाखा
Unstripped Muscles अरेखित, अरेखांकित पेशी
Urates यूरेट
Urea यूरिया
Ureter गवीनी
Urethra मूत्र मार्ग
Uric Acid यूरिक अम्ल
Urinary Bladdar मूत्राशय
Urine मूत्र
Uriniferous Tubule मूत्र अणुनलिका
Uterus गर्भाशय

V

Vaccine वैक्सीन
Vacuole शून्यावकाश
Vagina योनि
Vaginal Canal योनि पथ
Valin वेलिन
Vallate Papillae परिवृत्त अंकुरक
Valve कपाटिका
Vas Deferens शुक्रवहा
Vein शिरा
Venereal Diseases रतिरोग
Ventilation संवातन
Ventilator संवातक
Ventricle निलय
Vermiform Appendix उण्डुक
Vertebrae कशेरुका
Vertebra कशेरुका
Vertebral Body कशेरुका काय
——Canal कशेरुका नलिका
——Spine कशेरुका कंटक
Vertebrates पृष्ठवंशी
Vesicle स्फोटिका
Vestibule प्रघाण
Villii रसांकुर
Virus वाइरस
Vision दृष्टि
Visual Centre दृष्टि केन्द्र
Vital Capacity श्वासधारिता
Vitamin विटामिन
——A विटासिन ए
——B complex विटामिन बी समग्र
——C दिटामिन सी
——D विटामिन डी
——E विटामिन ई
——Fat soluble स्नेह विलेय
——Water जल विलेय
Vitellin विटेलिन
Volume आयतन
Voluntary Muscle ऐच्छिक पेशी
Vomer सीरिका

W

Water Works जलकल
White Corpuscles श्वेतकणिका
Whooping Cough काली खाँसी, कुकुर खाँसी
Wisdom Tooth अक्ल डाढ़
Wrist मणिबंध

Y

Yeast यीस्ट
Yellow Elastic Fibrous Tissue पीतस्थितिस्थापक या प्रत्यास्थ ऊतक
Yellow Fever पीत ज्वर
Yougart यूगर्ट, दही

Z

Zygomatic Arch गंडचाप
Zygomatic Bone गंडास्थि
Zygote युग्मज